आर्ष-ज्योति

पं० रामनाथ वेदालङ्कार

समर्पण शोध संस्थान, साहिबाबाद

ओ३म्

आर्ष ज्योति

(वेदों के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक
गवेषणात्मक प्रामाणिक निबन्ध)

लेखक
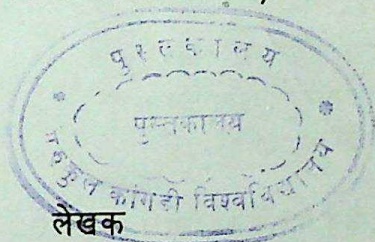
डॉ० रामनाथ वेदालंकार, विद्यामार्तण्ड

एम० ए०, पी- एच० डी०

पूर्व आचार्य, उपकुलपति एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रकाशक

समर्पण शोध संस्थान, साहिबाबाद (गाजियाबाद)

प्रकाशक :
समर्पण शोध संस्थान
४।४२ सै० ५, राजेन्द्र नगर
साहिबाबाद (गाज़ियाबाद) उ० प्र० २०१००५
दूरभाष : ६३०२६

प्रथम संस्करण : ११००
समर्पणानन्द जन्म दिवस
१ अगस्त, १९९१

पुस्तक मिलने का पता
१. समर्पण शोध संस्थान
   ४।४२ सैक्टर-५, साहिबाबाद

२. गोविन्दराम हासानन्द
   नई सड़क दिल्ली

मूल्य– ५०-००

लैज़र मुद्रक :
कॉम प्रिण्ट, २०, न्यू म्यूनिसिपल मार्केट,
लोधी रोड, नई दिल्ली ११०००३
दूरभाष : ६९०००३

मुद्रक :
राधा प्रेस, गांधी नगर, दिल्ली

ओ३म्

प्रकाशकीय

समर्पण शोध संस्थान अपने स्थापना दिवस से ही वैदिक साहित्य के क्षेत्र में, चाहे वह शोध का क्षेत्र हो, चाहे प्रकाशन का, अपूर्व और अद्वितीय कार्य कर रहा है। संस्थान के उद्देश्यों में ऐसे लेखों का प्रकाशन भी है जो संप्रति अप्राप्य हैं। उसी उद्देश्य की पूर्त्यर्थ विद्यामार्तण्ड श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार द्वारा समय समय पर लिखित एवं प्रकाशित लेखों का अपूर्व संग्रह 'आर्षज्योति' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है, जो आपके हाथों में है। इसका एक एक लेख मनीषी विद्वान् की सतत साधना का परिणाम है। इस में १७ लेख हैं, आरम्भ के पांच लेखों में महर्षि दयानन्द के दृष्टिकोण का प्रतिपादन है। शेष लेख वेदों के विषय में उठाई गयी जटिल समस्याओं का सयुक्तिक समाधान है, जो पठनीय एवं मननीय हैं।

वेदों को सनातनचक्षु कहा गया है[1] उतना ही सनातन जितना कि सूर्यचक्षु[2]। यदि ब्रह्म ने सूर्यचक्षु का निर्माण न किया होता तो प्राणी की चर्मचक्षु का क्या उपयोग था ? कुछ भी नहीं। यही बात वेदचक्षु पर चरितार्थ होती है। यदि ब्रह्म ने सनातन वेदचक्षु न दिया होता तो मनुष्य के बुद्धिरूप आन्तरचक्षु का क्या उपयोग था ? कुछ भी नहीं। सनातन वेदचक्षु से ही मनुष्य धर्म अधर्म का, कर्म अकर्म का, सत्यासत्य का, विद्या अविद्या का न्याय अन्याय का निर्णय कर सकता है। यदि कभी इन चक्षुओं पर आवरण आजाए धुन्ध छा जाए, अथवा ग्रहण लग जाए तो एक बार सर्वत्र अन्धकार छा जाए। आवरण के कटने अथवा छँटने पर ही विश्व का कल्याण है। तो क्या सनातन वेदचक्षु पर कोई आवरण नहीं आया, उस पर भी महाभारत युद्ध के पश्चात् नाना सम्प्रदाय जनित अन्धविश्वासों का आवरण आया। साम्प्रदायिक आग्रही आचार्यसायण, उवट, महीधर आदि भाष्यकारों एवं मैक्समुल्लर ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अन्धविश्वास रूपी धूल और धुंध से सनातन वेदचक्षु को ढकने का भरसक प्रयत्न किया जिस से एक बार तो आर्य वैदिक संस्कृति पर अंधकार छा गया। दैव ने महर्षिदयानन्द जैसा योग्य चिकित्सक भेजा जिसने तर्कवायु बहाकर, समस्त साम्प्रदायिक बादल छांट दिये, समस्त अन्धविश्वास रूप जाल काट दिये परिणामतः सनातन वेदचक्षु से विद्वान् लोग वैदिक पथ पर अग्रसर होने लगे। आर्षज्योति के आरम्भिक चार लेख महर्षि दयानन्द रूपी आर्षज्योति की प्रखर किरणें है। उसके प्रकाश में पाठक अगले लेखों में पथ बना पाएगा, भटकेगा नहीं। पाठक वृन्द आर्षज्योति के प्रकाश में अपनी स्वाध्याय नौका को निश्शंक होकर अबाध गति से खेता चला जाएगा।

संस्थान श्री वेदालङ्कार जी का सदैव आभारी रहेगा कि जिन्होंने आर्षज्योति के प्रकाशन का अधिकार प्रदान कर अनुगृहीत किया।

समर्पण शोध संस्थान के आजीवन सदस्यों की सेवा में यह सन् १९९१ का उपहार समर्पित है।

---

१. पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। मनु० १२ ९४
२. तच्चक्षुर्देवहितम्पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। यजु० ३६ २४

दीक्षानन्द सरस्वती

निवेदनम्

वन्दे देवं दयानन्दं वेदविज्ञानवारिधिम् ।
सत्यवेदार्थरत्नानि यः सर्वेभ्यः प्रयच्छति ।।

तस्यैव मन्त्रभाष्येभ्यो बोधं प्राप्य यथामति ।
तथ्यातथ्यविवेकाय ग्रन्थोऽयं लिखितो मया ।।

तदीयवेदभाष्ये च यद् वैशिष्ट्यं निभालितम् ।
तदप्यत्र समासेन किञ्चित् किञ्चित् प्रदर्शितम् ।।

अहम्मन्यैस्तु यैः कैश्चित् फटाटोपैर्भयङ्करैः ।
प्रमाणाभासशौर्येण कुतर्कैर्विविधैस्तथा ।।

वेदार्थदूषणे यत्नः सगर्वं प्रविधीयते ।
प्रयासा निखिलास्तेषां निष्फलाः स्युः पदे पदे ।।

तातं गोपालरामाख्यं तथा भगवतीं प्रसूम् ।
प्रणमामि गुरून् यैस्तु वेदसेवाक्षमः कृतः ।।

प्रीयन्तां पाठकाः सर्वे यत् सत्यं तद् विचिन्वताम् ।
स्वाशीर्वचनपात्रं च लेखकं संप्रकुर्वताम् ।।

वेद विज्ञान के सागर देव दयानन्द को मैं वन्दन करता हूं, जो सबको सत्यवेदार्थ-रूप रत्न प्रदान कर रहे हैं। उन्हीं के मन्त्र-भाष्यों से बोध पाकर अपनी मति के अनुसार मैंने सत्यासत्य के विवेक के लिए यह ग्रन्थ लिखा है। दयानन्द के वेदभाष्य में मैंने जो विशेषता देखी है, उसे भी इसमें संक्षेप से कुछ-कुछ प्रदर्शित किया है। जो कोई वेदविरोधी अहंमन्य लोग भयंकर फटाटोप करके, प्रमाणाभासों को प्रमाण-रूप में प्रस्तुत करने की शूरता दिखा कर, विविध कुतर्कों से गर्वपूर्वक वेदार्थों को दूषित करने का यत्न करते हैं, उनके वे सब प्रयास इस ग्रन्थ से पग-पग पर निष्फल होते चलें। मै अपने पूज्य पिता, देशभक्त, स्वतंत्रता-सेनानी स्व० श्री महाशय गोपालराम जी, धर्म-परायणा माता स्व० भगवती देवी जी तथा सब वन्दनीय गुरुओं को प्रणाम करता हूं, जिन्होंने मुझे वेद-सेवा करने योग्य बनाया। सब पाठक इस ग्रन्थ को पढ़कर तृप्तिलाभ करें, जो सत्य है उसका संग्रह करें और लेखक को अपने आशीर्वचनों का पात्र बनायें।

विषय–सूची

मन्त्रानुक्रमणिका

सूचना: निबन्धों में जो मन्त्रखण्ड आये हैं वे इस सूची में नहीं दिये गये हैं।

दो शब्द

समग्र संस्कृत साहित्य में वेदों का एक गौरवपूर्ण स्थान है। भारत में प्राचीनकाल से धर्माधर्म का निर्णय वेदों के ही आधार पर किया जाता रहा है। मनु के अनुसार एक ओर वेदज्ञ अकेला हो और दूसरी ओर अवेदज्ञ सहस्र भी क्यों न हों, धर्मनिर्णय में वेदज्ञ की ही बात प्रामाणिक मानी जाती है (मनु० १२.११३)। मनुस्मृति यह भी कहती है कि चारों वर्ण और चारों आश्रमों के कर्तव्य, तीनों लोकों के नियम, भूत, वर्तमान और भविष्य में घटने वाले सार्वत्रिक सत्य सब वेदों में प्रतिपादित हैं (मनु० १२.९७)। मनु की घोषणा है कि वेद का ज्ञाता मनुष्य सेनाओं का संचालन कर सकता है, राज्य का संचालन कर सकता है, न्यायव्यवस्था का संचालन कर सकता है और सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य तक का संचालन कर सकता है (मनु० १२.१००)। मनु वेद को सर्वज्ञानमय अर्थात् सकल विद्याओं का भण्डार मानते हैं (मनु० २.७)। परम्परानुसार यद्यपि श्रुति और स्मृति दोनों ही अपने-अपने स्थान पर प्रामाणिक हैं, किन्तु इनमें यदि कहीं परस्पर विरोध हो तो वेद की ही बात प्रमाण मानी जाती है। इसलिए 'वेद में क्या लिखा है, क्या नहीं ?' इसके ज्ञान का बहुत महत्त्व है।

परन्तु विभिन्न आचार्यों द्वारा की गयी वेदव्याख्याओं में हम बहुत अन्तर पाते हैं। किन्हीं भाष्यकारों के अनुसार वेदों में अनेकेश्वरवाद का प्रतिपादन है, यज्ञों में पशुहिंसा करने का विधान है, नारी को हीन माना गया है, मांसभक्षण को उचित ठहराया गया है, जादू-टोने, कृत्या एवं अभिचार आदि का वर्णन है; किन्तु दूसरे भाष्यकार ऐसे वेदार्थ करते हैं कि ये बातें वेद में प्रतिपादित सिद्ध नहीं होतीं। प्रश्न उठता है कि किसका वेदार्थ प्रामाणिक एवं सत्य माना जाए। स्वामी दयानन्द ने स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में सत्यासत्य की परीक्षा के लिए पांच कसौटियां निर्धारित की हैं। तदनुसार सत्य वेदार्थ उसे माना जाएगा जो– १. ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के विपरीत न हो, २. प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों के विरुद्ध न हो, ३. सृष्टिक्रम के विपरीत न हो, ४. आप्तजनों के व्यवहार के अनुकूल हो, ५. अपने आत्मा की पवित्रता एवं

विद्यापरिपक्वता जिसका अनुमोदन करती हो। इन कसौटियों पर परख कर देखें तो उपर्युक्त अनेकेश्वरवाद, यज्ञों में पशुहिंसा आदि का प्रतिपादन करने वाले अर्थ सत्य नहीं माने जा सकते। अतः जिन वेद-मन्त्रों को इनके समर्थन में उद्धृत किया जाता है उनका वास्तविक अर्थ कुछ और ही होना चाहिए। स्वामी दयानन्द ने उन असत्यार्थों के विरुद्ध अंगुलि उठाने का साहस किया, जबकि उनसे पूर्व के भाष्यकार गतानुगतिकता से उन्हीं अप्रामाणिक अर्थों को स्वीकार करते चले आ रहे थे। एक ओर वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करना और दूसरी ओर उनमें ऐसी बातें मानना जो ईश्वर की ओर से क्या, किसी आप्त पुरुष की ओर से भी नहीं कही जा सकतीं, बड़ा ही अनर्थमूलक है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रधानतः ऐसी ही समस्याओं पर विचार किया गया है।

इसमें दिये गये निबन्धों में प्रथम निबन्ध 'वेदाध्ययन क्यों करें ?' इस प्रश्न का उत्तर देता है। द्वितीय निबन्ध वैदिक योगार्थ-प्रक्रिया पर है। स्वामी दयानन्द के मत में वैदिक नाम-पद या तो यौगिक हैं या योगरूढ़ हैं, रूढ़ कोई भी नहीं है। इस विषय का स्पष्टीकरण इस निबन्ध में किया गया है। यह भी बताया गया है कि वेद-व्याख्या में इस सिद्धान्त को मान कर चलने से स्वामी दयानन्द क्या विशेष देन दे सके हैं। तृतीय निबन्ध में यह बताया गया है कि भारत में संस्कृत के माध्यम से उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व वेदव्याख्या के लिए किन-किन आचार्यों ने कार्य किया या भाष्य लिखे। साथ ही विदेशी विद्वानों ने जर्मन, अंग्रेज़ी आदि इतर भाषाओं में जो वेदों के सटिप्पण अनुवाद किये हैं उनकी चर्चा भी की गयी है। तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि उनके भाष्य की क्या विशेष देन हैं। यह निबन्ध स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य-पद्धति से किये गये मेरे 'सामवेद भाष्य (संस्कृत-आर्यभाषा-व्याख्या सहित)' के प्रथम खण्ड की भूमिका में भी दिया गया है।

चतुर्थ निबन्ध 'वेदव्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन' विषयक है, जिसमें मुख्यतः अग्नि, इन्द्र, रुद्र, पितरः, अश्विनौ, अदिति और मरुत् देवों के दयानन्दकृत विविध अर्थों को दर्शा कर वेदव्याख्या में दयानन्द की देन को स्पष्ट किया गया है। पंचम निबन्ध में स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद-भाष्य का उवट एवं महीधर के भाष्य के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके उसका मूल्यांकन किया गया है। षष्ठ

निबन्ध में अथर्ववेद के कौशिककृत विनियोगों पर विचार करते हुए यह दर्शाया गया है कि उनमें से अधिकांश विनियोग अरूपसमृद्ध अर्थात् वेदमन्त्रार्थों से असमर्थित हैं, सायण ने अपने भाष्य में उन्हीं विनियोगों को ले लिया और सायणभाष्य से ही उनका यत्र-तत्र प्रचार हुआ, जिससे अथर्ववेद के साथ न्याय नहीं हो पाया। सातवें निबन्ध में इस पर विस्तार से विचार किया गया है कि वेदों में अनेक देवों के होते हुए भी किस प्रकार वेद एकेश्वरवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं तथा वेदोक्त विभिन्न देव-देवियों का क्या अभिप्राय है।

आठवें निबन्ध में वेदार्थ के ऐतिहासिक पक्ष की आलोचना है। ऊपर से देखने में वेदार्थ का ऐतिहासिक सम्प्रदाय जितना सबल प्रतीत होता है, परीक्षा करने पर उतना ही दुर्बल लगने लगता है। नौवां निबन्ध वेदों में पुनरुक्ति की समस्या पर लिखा गया है, जिसमें यह स्पष्ट करने का यत्न किया गया है कि वेदों में पुनरुक्ति दोष नहीं है। दसवां निबन्ध वैदिक अंगिरस ऋषियों के स्वरूप तथा कार्यों पर प्रकाश डालता है, जो 'स्वामी ओमानन्द अभिनन्दनग्रन्थ' में छपा था। ग्यारहवां निबन्ध वैदिक व्यत्ययों के विषय में है, जिसमें सोदाहरण यह स्पष्ट किया गया है कि जिन्हें वैयाकरणों या वेदभाष्यकारों ने व्यत्यय कहा है, उनमें भी प्रायः वैदिक भाषा का कोई नियम काम करता है। बारहवें निबन्ध में यह बताया गया है कि ऋग्वेद में वृषभ और उक्षन् शब्द बैल के अतिरिक्त अन्य किन-किन अर्थों में आये हैं, इसी प्रसंग में वैदिक ऋषभ—पाक तथा उक्षाओं की आहुति का आशय क्या है यह भी स्पष्ट किया गया है। निबन्ध संख्या १३ 'सरिता' १९८० के अप्रैल अंक में प्रकाशित 'वैदिक युग में मांसभक्षण' लेख का उत्तर है, तथा निबन्ध संख्या १४ 'सरिता' १९८० के दिसंबर के अंकों में प्रकाशित 'प्राचीन भारत में गोहत्या एवं गोमांसाहार' शीर्षक लेख का उत्तर है। ये दोनों निबन्ध उस समय आर्य-पत्रों में छपाये गये थे। निबन्ध संख्या १५ वृष्टियज्ञ की वैदिकता पर प्रकाश डालता है, जिससे उन लोगों को उत्तर मिल जाता है जिनका कथन है कि यज्ञ से वर्षा नहीं करायी जा सकती तथा जो वृष्टियज्ञ को अवैदिक घोषित करते हैं।

निबन्ध संख्या १६ में पर्यावरण के विषय में वैदिक दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। आज सभी देशों में पर्यावरण-प्रदूषण एक समस्या बनी हुई है। इस संबन्ध में वेद क्या कहते हैं यह पाठकों को

इस लेख में पढ़ने को मिलेगा । निबन्ध संख्या १७ सतीप्रथा की अवैदिकता के संबन्ध में है । ४ सितंबर १९८७ को राजस्थान के सीकर जिले के देवराला नामक ग्राम में एक राजपूत युवति श्रीमती रूपकुंवर अपने मृत पति श्री मालसिंह के साथ चिता में भस्म हो गयी थी । उसे सती रूप में महिमामण्डित किया गया । जिस स्थान पर वह सती हुई थी वहां मेला लगने लगा । राजस्थान सरकार द्वारा इस कार्य को अवैध घोषित कर दिये जाने पर भी इस कृत्य का समर्थन होता रहा तथा पुरी के शंकराचार्य स्वामी निरंजनदेव तीर्थ ने भी सती-प्रथा का अनुमोदन करते हुये उसे वेदानुकूल कहने का दुःसाहस किया । उस समय अनेक पत्र-पत्रिकाओं में सती-प्रथा के विरोध में आन्दोलन हुआ था । प्रस्तुत निबन्ध भी तभी लिखा गया था तथा कुछ आर्य पत्रों ने इसे प्रकाशित किया था ।

उक्त सब निबन्ध ऐसे हैं जो किन्हीं वैदिक समस्याओं का विश्लेषणपूर्वक गवेषणात्मक समाधान प्रस्तुत करते हैं तथा सही वेदार्थपद्धति का ज्ञान कराते हैं । इनमें से अधिकांश निबन्ध विगत बीस वर्षों के अन्तराल में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की गुरुकुल-पत्रिका एवं शोध-भारती, परोपकारिणी-सभा अजमेर के 'परोपकारी', रामलाल कपूर ट्रस्ट की 'वेदवाणी', आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब लाहौर के 'आर्य' पत्र, आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब जालन्धर के 'आर्यमर्यादा' पत्र, दयानन्द-संस्थान दिल्ली के 'जनज्ञान', आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधिसभा दिल्ली के 'आर्यजगत्', आर्यप्रतिनिधिसभा उत्तरप्रदेश के 'आर्यमित्र' में प्रकाशित होते रहे हैं । द्वितीय महत्त्वपूर्ण लेख, जो एक प्रकार से नवीन ही है, गत वर्ष 'परोपकारी' के मार्च अंक में छपा था तथा विद्वान् पाठकों ने इसे विशेष सूक्ष्मेक्षिकायुक्त माना था । 'वेदव्याख्या को महर्षिदयानन्द की अद्भुत देन' विषयक चतुर्थ निबन्ध १९८३ में महर्षि दयानन्द-निर्वाणशताब्दी पर प्रकाशित डॉ. गंगाराम गर्ग द्वारा संपादित 'वर्ल्ड पर्सपैक्टिव्स ऑन स्वामी दयानन्द' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ में 'महर्षि दयानन्दाज़ यूनीक कंट्रीब्यूशन टु वैदिक इंटरप्रिटेशन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था । स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य से संबद्ध पंचम लेख सर्वप्रथम गुरुकुल-पत्रिका में अप्रैल १९७२ के अंक में प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् आर्यसमाज बड़ा बाजार, पानीपत द्वारा सन् १९८४ में प्रकाशित 'धर्म और संस्कृति' ग्रन्थ में भी छपा । अथर्ववेद के

कौशिककृत विनियोग संबंधी षष्ठ निबन्ध सर्वप्रथम डॉ० रघुवीर वेदालंकार द्वारा संपादित तथा नाग पब्लिशर्स दिल्ली द्वारा सन् १९८१ में प्रकाशित 'वेदों का तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन' ग्रन्थ में छपा था। तत्पश्चात् इसके महत्त्व को देख कर आर्यजगत्, परोपकारी, दयानन्द-सन्देश आदि कई पत्रों ने इसे अपने अंकों में स्थान दिया। वैदिक व्यत्यय विषयक ११वां लेख गुरुकुल-पत्रिका के १९८६ के अगस्त-सितंबर-अक्टूबर के संयुक्त विशेषांक में छप चुका है। 'सरिता' पत्रिका के लेख के उत्तर में लिखा गया १४ वां लेख 'गोहत्या एवं गोमांसाहार वैदिक नहीं' दयानन्द-संस्थान के प्रमुख पत्र 'जनज्ञान' में प्रकाशित हुआ था तथा संस्थान के संचालक महात्मा वेदभिक्षु जी ने इसे ट्रैक्ट के रूप में पृथक् भी निकाला था। इस ग्रन्थ का पर्यावरण-विषयक १६ वां लेख सर्वथा नवीन है, जो गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के जन्तुविज्ञान-विभाग द्वारा १५–१६ फरवरी १९९१ को 'वैदिक दर्शन और हिमालय-पर्यावरण' विषय पर संपन्न संगोष्ठी में पढ़ा गया था। इनमें से अन्य भी कतिपय लेख १९८९–९० में लिखे होने से नवीन की ही कोटि में आते हैं। कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं जो पहले किसी अन्य शीर्षक से छपे थे, किन्तु इस ग्रन्थ में उनका शीर्षक बदल दिया गया है।

विगत पचास वर्षों में समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में मेरे जो लेख छपते रहे हैं उनके विषय में मेरे सहृदय पाठकों की निरन्तर मांग आती रही है तथा उनके दर्जनों पत्र मेरे पास आये हैं कि इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया जाए, जिससे ये एकत्र सुलभ हो सकें। इसी के परिणामस्वरूप मैंने अपने पूर्व लिखित निबन्धों को संकलित करके, उनमें आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन-परिवर्धन करके तथा कुछ नवीन लेख लिख कर उन्हें प्रकाशनार्थ तैयार किया। मेरे कुछ सरल, मधुर एवं आकर्षक निबन्धों की एक पुस्तक इसी वर्ष 'वैदिक मधुवृष्टि' नाम से 'गोविन्दराम-हासानन्द-प्रकाशन' के वर्तमान संचालक श्री विजय कुमार जी ने कृपापूर्वक प्रकाशित कर दी है, जिसका पाठकों की ओर से अच्छा अभिनन्दन हो रहा है, दूसरा यह ग्रन्थ पाठकों के संमुख उपस्थित है। तीसरा ग्रन्थ उपनिषत्संबन्धी लेखों का होगा। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से मेरे लेखों का संकलन करने में मेरे पुत्र डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार ने विशेष सहयोग दिया है। आयुष्मती किरणमयी ने कुछ लेखों की शुद्ध प्रतिलिपि करके सहायता की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम **'आर्ष ज्योति'** रखा गया है, क्योंकि इसमें सभी विषयों पर रूढ़िवादी विचारधारा को त्याग कर आर्ष दृष्टि से विचार किया गया है। आशा है यह **ज्योति** वेदपथ को आलोकित करने में कुछ न कुछ सहायक हो सकेगी।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ मैंने जब श्री स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती से निवेदन किया तब उन्होंने समर्पण-शोधसंस्थान की ओर से इसे प्रकाशित करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। वे उक्त संस्थान की ओर से पहले मेरी 'वेदमञ्जरी' एवं 'वैदिक नारी' नामक पुस्तकें भी निकाल चुके हैं, जिनका विद्वद्वर्ग एवं आर्य जनता की ओर से अच्छा स्वागत हुआ है। इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द की भाष्यशैली के अनुसार किये गये मेरे संस्कृत-आर्यभाषा-व्याख्या-समन्वित वृहत् सामवेदभाष्य का प्रकाशन भी वे ही कर रहे हैं। उनके इस सौजन्य के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूं। मेरे ग्रन्थों के पाठक मेरे प्रति अत्यन्त सहृदय तथा कृपालु हैं, उनके प्रति मेरी शुभ कामनाएं हैं।

लगभग पांच वर्षों से वैदिक अध्ययन एवं लेखन का समस्त कार्य मैं ''सार्वदिशिक दयानन्द संन्यासी वानप्रस्थ मण्डल'' (वेद-मन्दिर) में रहते हुए कर रहा हूं। इस आश्रम के अधिकारियों के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे निवास आदि की सब सुविधाएं देकर वेदसेवा के लिए निश्चिन्त किया हुआ है।

वेद-मन्दिर
ज्वालापुर (हरिद्वार)
२१-२-१९९१

रामनाथ वेदालंकार

आइए, वेदाध्ययन का व्रत लें

प्राचीन परम्परा में वेदाध्ययन द्विजमात्र का पवित्र कर्त्तव्य माना जाता था। मनु ने कहा है कि जो वेद नहीं पढ़ता वह इसी जन्म में शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है। पतंजलि कहते हैं कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह निष्कारण ही अर्थात् बिना किसी लाभ की आशा से छहों अंगों से युक्त वेद का अध्ययन करे और उसका ज्ञान प्राप्त करे। तो आइये 'वेद क्यों ?' इसका उत्तर खोजने का यत्न करें।

साहित्यिक दृष्टि

वेदों की गणना उच्चकोटि के साहित्यों में की जाती है। वेद के ही शब्दों में वेद एक ऐसा काव्य है जो न कभी मरता है, न कभी पुराना होता है–**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**(अथर्व० १०.८.३२)। जो काव्य में उत्कर्षाधायक तत्त्व अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, शब्दालंकार, अर्थालंकार आदि माने जाते हैं वे सब वेद काव्य में उत्कृष्ट रूप में विद्यमान हैं। वेद के शब्दों में विविध अर्थों को देने की जैसी शक्ति उपस्थित है, वैसी संसार की अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। वेद के अनेक मन्त्र जिस प्रकार अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ, अधिराष्ट्र आदि विविध अर्थों को देने की क्षमता रखते हैं, वैसी क्षमता किसी अन्य भाषा के साहित्य में नहीं है। वेदों के मन्त्र कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि के गीतों से अधिक भावपूर्ण हैं। यदि हम कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, हर्ष, बाणभट्ट आदि संस्कृत कवियों के साहित्य को पढ़ने में गौरव अनुभव कर सकते हैं, तो वेद का साहित्य तो उससे भी अधिक प्रांजल है। यदि हम ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी, पारसी, फ्रेंच, रशियन, जर्मन, तमिल, मराठी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी आदि साहित्य को पढ़ते समय यह प्रश्न नहीं उठाते कि इस साहित्य को क्यों पढ़ें, तो वैदिक साहित्य के लिए ही प्रश्नचिन्ह क्यों? साहित्य का अध्ययन स्वान्तःसुखाय होता है, वह स्वान्तःसुख वैदिक साहित्य के मर्म में प्रवेश करने वाले साहित्याराधक को कहीं अधिक प्राप्त हो सकता है।

सांस्कृतिक दृष्टि

वैदिक संस्कृति संसार भर की संस्कृतियों में एक विशिष्ट संस्कृति है। वर्णाश्रमव्यवस्था, यज्ञ, दान, अतिथि-सत्कार, तपस्या, ब्रह्मचर्य, अनिवार्य शिक्षा, आतुरों की सेवा, ईश्वरपूजा, सौहार्दभावना, स्वराज्य, समृद्धि, अग्रगामिता, पाशविक शक्तियों पर विजय आदि इस संस्कृति के प्रमुख अंग हैं । वैदिक संस्कृति का उपासक जिस स्तर पर खड़ा है, उससे और ऊंचा उठना चाहता है। उसकी यह अभीप्सा होती है कि पृथिवी से उठकर मैं अन्तरिक्ष में पहुंच जाऊं, अन्तरिक्ष से उठकर द्युलोक में पहुंच जाऊं, द्युलोक से उठकर स्वर्लोक में पहुंच जाऊं । इस संस्कृति पर हम ही नहीं, सारा विश्व मुग्ध है । वैदिक संस्कृति का अध्ययन करने के लिए ही जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों के विद्वानों ने भी वेदों का अध्ययन किया है और इतना परिश्रम किया है कि हमारा परिश्रम उसके आगे हार मानता है, यद्यपि यह दूसरी बात है कि वे कई ऐसे परिणामों पर पहुंचे हैं जिनसे वेदाध्ययन की भारतीय विचारधारा सहमत नहीं हो सकती । जो संस्कृति इतनी महत्त्वपूर्ण है उसका प्रामाणिक ज्ञान हम वेदों को पढ़कर ही कर सकते हैं । गम्भीर और सही पद्धति से वेदों का अध्ययन न होने के कारण पाश्चात्त्यों ने वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में जो कई एक अनर्थमूलक कल्पनाएं कर डाली हैं, उनकी परीक्षा भी हम वेदों का गहन अध्ययन करके ही कर सकते हैं ।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि

भाषाविज्ञान पाश्चात्त्य देशों में नवीन विज्ञान के नाम से उदित हुआ है, जिसे आरम्भ हुए लगभग सवा सौ वर्ष ही हो पाये हैं, यद्यपि भारतीय अलंकारशास्त्री और वैयाकरण विद्वान् पहले ही इसके अनेक अंगों पर पर्याप्त अनुसंधान कर चुके थे । यह भाषाविज्ञान ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत, पाली, प्राकृत, भारत की प्रान्तीय भाषाओं आदि के तुलनात्मक अध्ययन से विकसित हुआ है और आज भी यह विकासोन्मुख ही है, क्योंकि इसके सिद्धान्त अभी अन्तिम रूप से मान्य नहीं कहे जा सकते । इस भाषाविज्ञान के विकास में वैदिक भाषा के अध्ययन ने विशेष योगदान दिया है और आगे भी दे सकता है । आज भाषाविज्ञान में भारोपीय भाषा-परिवार सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण

परिवार माना जाता है, जिसका उद्गम किन्हीं अंशों में वैदिक भाषा ही मानी जा सकती है। आज का भाषाविज्ञानी इस भारोपीय भाषा-परिवार से भिन्न परिवारों को सर्वथा स्वतंत्र मानता है, और उनका वैदिक भाषा से कोई संबन्ध नहीं स्वीकार करता। किन्तु वैदिक भाषा के अधिकाधिक तुलनात्मक अध्ययन से भविष्य में सम्भव है हम इस परिणाम पर भी पहुंच सकें कि सभी भाषा-परिवार किसी सीमा तक वैदिक भाषा के ऋणी हैं। तब भाषाविज्ञान के क्षेत्र में वेद और भी अधिक महत्त्व की वस्तु बन जाएंगे। एवं भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी वेदों का एवं वैदिक भाषा का अध्ययन स्वागतयोग्य है।

धार्मिक दृष्टि

भारतीय धर्मशास्त्र में वेदों का सबसे अधिक महत्त्व माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार धर्म-अधर्म का संशय उपस्थित होने पर उसका निर्णय तीन वेदज्ञों की एक परिषद् करती है, जिसमें एक ऋग्वेद का ज्ञाता, दूसरा यजुर्वेद का ज्ञाता तथा तीसरा सामवेद का ज्ञाता होता है (मनु० १२.११२)[१]। मनु का यह भी कथन है कि वेदज्ञ विद्वान् अकेला भी जिसे धर्म घोषित कर दे उसे धर्म जानना चाहिए, अज्ञ लोग दस हजार भी क्यों न हों, उनसे कही गयी बात धर्म नहीं मानी जा सकती (मनु० १२.११३)[२]। यदि वेद और स्मृति आदि में कहीं परस्पर विरोध हो तो उस दशा में वेद की बात ही प्रामाणिक मानी जाएगी, यह सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है। उदाहरणार्थ, यदि किसी स्मृति में स्त्रियों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित किया गया है, तो उस स्मृति की यह बात वेदविरुद्ध होने से मान्य नहीं है। इसी प्रकार यदि किसी धर्मग्रन्थ में यज्ञों में पशुबलि देने का विधान है, तो यह भी वेदविरुद्ध होने से त्याज्य ठहरेगा। मध्यकाल में वेदों के नाम पर अनेक वेदविरुद्ध बातें बालविवाह, छुआछूत, मूर्तिपूजा, अनेकेश्वरवाद, जन्ममूलक वर्णव्यवस्था, मृतक-श्राद्ध आदि प्रचलित हो गयी थीं, स्वामी दयानन्द के समय भी चल रही थीं, और कुछ आज भी चल रही हैं। स्वामी दयानन्द इन वेदविरुद्ध कुप्रथाओं का खण्डन अपने अगाध वेद-पाण्डित्य के बल पर ही कर सके। आज भी विपक्षियों की ओर से लेख लिखे जाते हैं कि गोहत्या और गोमांस- भक्षण वेदानुमोदित है, वेदों में नारी की

घृणित स्थिति है, सतीप्रथा वेद से ही आयी है, धार्मिक असहिष्णुता वेदों की ही देन है आदि। वेदों पर थोपी जाने वाली इस प्रकार की वेदविरुद्ध बातों का खण्डन हम तभी कर सकेंगे, जब हमारा वेदों का गंभीर अध्ययन होगा।

धार्मिक दृष्टि से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध करने के लिए भी वेदाध्ययन की आवश्यकता है। क्या धर्म है और क्या अधर्म है, यह वेद ही बतलाता है। पर वेद उसे ही बतला सकता है, जो वेदज्ञ है। अल्पश्रुत व्यक्ति वेद से धर्माधर्म का बोध प्राप्त नहीं कर सकते। इसीलिए उक्ति प्रसिद्ध है कि अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भय खाता है कि यह तो उल्टा मुझ पर ही प्रहार कर देगा—**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।** यही सब ध्यान में रखकर आर्यसमाज के नियमों में यह सम्मिलित किया गया है कि "वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

आनुसन्धानिक दृष्टि

वैदिक भाषा और वैदिक साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह हम अभी ऊपर कह चुके हैं। भारत के प्राचीन मनीषियों ने वेदों पर बहुत कुछ अनुसंधान किया था। प्रातिशाख्यकारों ने एवं आचार्य पाणिनि आदि वैयाकरणों ने वैदिक भाषा का सूक्ष्म अध्ययन करके तत्संबन्धी नियमों का आविष्कार किया था। याज्ञवल्क्य आदि ब्राह्मणग्रन्थकारों एवं श्रौतसूत्रकारों ने वेदों के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड तैयार किया था। गृह्यसूत्रकारों ने वेदों के आधार पर जातकर्म, नामकरण आदि संस्कारों की सृष्टि की थी। अनुक्रमणीकारों ने वेदमन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्दों का पर्यवेक्षण किया था। वेदों के ही आधार पर आरण्यकग्रन्थों एवं उपनिषदों की रचना हुई थी। ब्राह्मणग्रन्थकारों एवं नैरुक्तों ने वेदार्थ का अनुसंधान किया था। कतिपय वेद-भाष्यकार भी इसमें सहायक हुए थे। महर्षि दयानन्द ने इस वेदानुसंधान को और आगे बढ़ाया। वेदविरुद्ध प्रचलित मिथ्या धारणाओं को बलपूर्वक झकझोरा और सत्य वेदार्थ को प्रकाशित किया; वेदार्थ के संबन्ध में अनेक नवीन दिशाओं को प्रशस्त किया। आज भी वेद प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वैदिक भाषा पर, वेदार्थ पर और वैदिक मान्यताओं एवं सिद्धान्तों पर सही दिशा में अनुसंधान हो। वेदों के अनेक सूक्त रहस्यों से भरे हुए हैं, उन रहस्यों का उद्घाटन

आज भी अपेक्षित है। वैदिक भाषा पर प्रातिशाख्यों, पाणिनि के वैदिक व्याकरण और मैकडानल की 'वैदिक ग्रामर' के होते हुए भी आज भी अनुसंधान की आवश्यकता है। हम वेदानुसंधान की दिशा को पाश्चात्त्य विचारधारा के चाकचक्य से मुक्त करके उनकी अच्छाइयों को ग्रहण करते हुए एक नया मोड़ दे सकते हैं, और वह नया मोड़ होगा दयानन्द प्रदर्शित वैदिक मान्यताओं के प्रकाश में।

आर्थिक दृष्टि

छात्रों की दृष्टि से वेदाध्ययन के आर्थिक पक्ष पर भी विचार कर लेना उचित होगा, क्योंकि आज का युग अर्थ का युग है और इसमें वही विद्या प्रशस्त मानी जाती है जो अर्थकरी हो। प्रश्न यह है कि वेद के छात्र क्या आर्थिक दृष्टि से सफल हुए हैं या हो सकते हैं ? हमारा कहना है कि वे वैसे ही सफल हुए हैं और हो सकते हैं, जैसे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों को पढ़ने वाले छात्र होते हैं। वर्तमान काल में भारत में वेदाध्ययन के तीन प्रकार के केन्द्र हैं। प्रथम आर्यसमाज द्वारा चलाये जाने वाले गुरुकुल हैं, जिनमें स्नातक-स्तर तक हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, दर्शनशास्त्र आदि विषयों के साथ अनिवार्यतः वेद भी पढ़ाया जाता है और स्नातकोत्तर कक्षाओं में छात्र स्वतंत्र रूप से वैदिक साहित्य की ही स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के लिए अथवा संस्कृत के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अन्तर्गत वेद पढ़ते हैं और पी-एच. डी. की उपाधि हेतु वैदिक विषयों पर शोध करते हैं। दूसरे वेदाध्ययन के केन्द्र हैं विविध विश्वविद्यालयों के संस्कृत-विभाग, जहां एम. ए. में एक पत्र तो अनिवार्य रूप से वेद का पढ़ाया ही जाता है, उसके अतिरिक्त छात्र अपनी रुचि के अनुसार कई वैकल्पिक समूहों में से वेद का समूह भी चुन सकते हैं, जिसमें वैदिक साहित्य के दो या तीन पत्र होते हैं। तीसरे वेदाध्ययन के केन्द्र हैं संस्कृत- विश्वविद्यालय तथा उनके अधीन चलने वाले संस्कृत-महाविद्यालय। इनमें शास्त्री परीक्षा तक अन्य विषयों के साथ वेद भी पढ़ाया जाता है और साहित्यशास्त्री, व्याकरणशास्त्री आदि के समान वेदशास्त्री एक स्वतंत्र परीक्षा भी होती है, जिसमें मुख्यतः वेद का ही पाठ्यक्रम रहता है। आगे आचार्य परीक्षा में भी साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य आदि के समान वेदाचार्य की भी पृथक्, स्वतंत्र परीक्षा

होती है, जिसमें सब पत्र वेद के ही होते हैं । वेदाचार्य परीक्षा के पश्चात् वैदिक शोध का भी प्रावधान रहता है। अनुभव में आया है कि इन तीनों ही केन्द्रों से पढ़े हुए वेद के स्नातक अर्थोपार्जन की दृष्टि से अन्य विषय पढ़े हुए स्नातकों से पीछे नहीं हैं। वे उक्त तीनों प्रकार के केन्द्रों में ही वेद के अध्यापक, प्राध्यापक, विभागाध्यक्ष आदि पदों पर नियुक्ति पा लेते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न वेदानुसन्धानपीठों में या सरकारी सेवाओं में भी वे स्थान पा सकते हैं। जिनकी रुचि हो वे वेदोपदेशक भी बन सकते हैं ।

यह तो हुई छात्रों की बात । पर केवल छात्रों को ही नहीं, अपितु बालक, युवक, वृद्ध, नर-नारी सभी को चाहिए कि प्रतिदिन वैदिक स्वाध्याय करें, और वेद में जो कर्त्तव्य-प्रेरणाएं की गयी हैं, जो उद्‌बोधन दिया गया है, जिस ओजस्विता, आशावाद, आत्म-विश्वास एवं अग्रगामिता का संदेश दिया गया है उससे अनुप्राणित होकर जीवन में सदा अग्रगामी बने रहें । प्राचीनकाल में श्रावण पूर्णिमा को वेदाध्ययन का सत्र प्रारम्भ होता था और सम्मिलित वेदपाठ की ध्वनि से दिशाएं मुखरित हो जाती थीं, साथ ही वेदार्थ का अनुसन्धान भी होता था । ऋग्वेद के मण्डूक-सूक्त में वर्षा ऋतु में मेंढकों के संगीत की उपमा व्रतचारी ब्राह्मण बटुओं के सस्वर वेदपाठ से दी गयी है । इसी का अनुकरण करते हुये कवि तुलसी ने भी कहा है– 'दादुर धुनि चहुं ओर सुहाई, वेद पढ़त जनु बटु समुदाई'। आइए, हम सब मिलकर वेदाध्ययन का व्रत धारण करें ।

पाद–टिप्पणियां

१. ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
   त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये।।

२. एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
   स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽ युतैः।।

वैदिक योगार्थ-प्रक्रिया एवं दयानन्द की तद्विषयक सूक्ष्म दृष्टि

निरुक्त पूर्वार्द्ध की भूमिका में यास्काचार्य ने पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार विभाग करके लिखा है कि आचार्य शाकटायन सभी नाम-पदों को आख्यातज (धातुज) मानते थे और नैरुक्तों का भी यही सिद्धान्त रहा है। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष के रूप में गार्ग्य का एवं बिना नामोल्लेख किये कतिपय वैयाकरणों का मन्तव्य उद्धृत करते हुए यास्क कहते हैं कि वे समस्त नाम-पदों को धातुज न मानकर केवल उन्हीं को धातुज मानते थे जिनमें स्वर एवं प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, विकार आदि से जनित संस्कार तथा धात्वर्थ घटित हो सकते हों, शेष नाम उनके मत में रूढ़ हैं। इस पक्ष की पुष्टि में गार्ग्य आदि जो युक्तियां देते थे उनका भी यास्क ने सोदाहरण उल्लेख किया है। किन्तु यास्क इस पक्ष से सहमत नहीं हैं तथा उन्होंने गार्ग्य आदि द्वारा प्रस्तुत सब युक्तियों का तर्कपूर्ण उत्तर देते हुए 'सभी नाम-पद धातुज हैं' इसी पक्ष का समर्थन किया है और यह वेदानुसंधान को यास्क की एक बहुत बड़ी देन है। इसी धातुजत्व के सिद्धान्त को लेकर यास्क ने अपने निरुक्त में लगभग तेरह-सौ वैदिक शब्दों का निर्वचन कर दिखाया है । अब विचारणीय यह है कि धातुजत्व से क्या अभिप्रेत है ।

१. धातुजत्व के विषय में दयानन्द की दृष्टि

शब्दों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। एक दृष्टि के अनुसार शब्द तीन प्रकार के होते हैं– योगिक, रूढ़ तथा योगरूढ़। ऋषि दयानन्द के शब्दों में इनकी परिभाषा एवं उदाहरण इस प्रकार हैं– **योगिक** उनको कहते हैं कि जो प्रकृति और प्रत्ययार्थ तथा अवयवार्थ का प्रकाश करते हैं। जैसे कर्त्ता, हर्त्ता, दाता, अध्येता, अध्यापक, लम्बकर्ण, शास्त्रज्ञान, कालज्ञान इत्यादि । **रूढ़ि** उनको कहते हैं कि जिनमें प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ न घटता हो, किन्तु ये संबोधक हों । जैसे खट्वा,

माला, शाला इत्यादि । **योगरूढ़ि** उनको कहते हैं कि जो अवयवार्थ का प्रकाश करते हुए अपने योग से अन्य अर्थ में नियत हों । जैसे दामोदर, सहोदर, पंकज इत्यादि[१]।" दयानन्द के अनुसार वैदिक शब्द (नामपद) उभयविध होते हैं, पर रूढ़ नहीं होते, किन्तु लौकिक शब्द योगिक तथा योगरूढ़ के अतिरिक्त रूढ़ भी होते हैं । इसीलिए वे लिखते हैं-'**सब ऋषि मुनि वैदिक शब्दों को यौगिक और योगरूढ़ि तथा लौकिक शब्दों में रूढ़ि भी मानते हैं।**[२]' अन्यत्र लिखा है-'**यह सब (निघण्टुप्रोक्त शब्द) वेद में यौगिक और योगरूढ़ि आते हैं, केवल रूढ़ि नहीं ।**[३]' यहां वैदिक शब्दों से वैदिक नामपद अभिप्रेत हैं, धातु, उपसर्ग और निपात नहीं ।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि कोई शब्द या तो यौगिक ही होगा या योगरूढ़ ही, दोनों प्रकार का नहीं हो सकता । पर ऋषि दयानन्द का यह ऋषित्व है कि वैदिक शब्दों को यौगिक एवं योगरूढ़ दोनों स्वरूपों वाला मानते हैं । आख्यातज या धातुज में वे उक्त उभयविध शब्दों का समावेश करते हुए लिखते हैं-'**यास्कमुनि आदि निरुक्तकार और वैयाकरणों में शाकटायन मुनि सब शब्दों को धातु से निष्पन्न अर्थात् यौगिक और योगरूढ़ि ही मानते हैं**[४]।'

अब देखना यह है कि क्या वैदिक शब्दों को केवल यौगिक मानने से कार्य्य-निर्वाह नहीं हो सकता और कैसे कोई शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ उभयविध हो सकेगा । निघण्टु एवं निरुक्त में अनेक शब्दों के अर्थ दर्शाये गये हैं; किसी शब्द का एक ही अर्थ है, किसी के अनेक अर्थ हैं । निरुक्त में निर्वचन करके यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अमुक शब्द के अमुक अर्थ कैसे हो जाते हैं । उदाहरणार्थ गो शब्द का यौगिक अर्थ 'गन्ता' है । परन्तु गो शब्द निघण्टु में पृथिवी, रश्मि, सूर्य एवं द्यौ लोक, वाणी तथा स्तोता के वाचक नामों में पठित है[५]। निरुक्त में इसके गाय पशु, गोदुग्ध, अधिषवणचर्म, चर्म और श्लेष्मा, स्नायु और श्लेष्मा, प्रत्यंचा, सुषुम्ण-रश्मि और माध्यमिक वाणी अर्थ भी दिये गये हैं[६]। शाखाग्रन्थों एवं ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार अन्तरिक्ष, अन्न, शक्वरी छन्द, रथन्तर साम, यज्ञ, प्राण, सोम आदि को भी गौ कहते हैं[७]। इन निघण्टु, निरुक्त, वेदशाखाग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थ आदि द्वारा प्रोक्त अर्थों में गो शब्द योगरूढ़ माना जाएगा, यतः अपने योगार्थ को देते हुए इन तथा इसी प्रकार के कुछ अर्थों की वाच्यता में इसकी शक्ति सीमित हो गयी है । इसके साथ ही वेदों में जब गो शब्द किसी अन्य वस्तु का विशेषण होकर

आता है और केवल 'गन्ता' अर्थ को देता है, तब यह यौगिक शब्द कहलाता है।

ऋषि दयानन्द कृत उणादिकोश की वृत्ति में शब्दों का व्याख्यान शब्दों के यौगिक तथा योगरूढ़ इस द्विविध स्वरूप को प्रायः सर्वत्र प्रकाशित कर रहा है। प्रथम वे व्याख्यातव्य शब्द का योगार्थ प्रदर्शित करते हैं, फिर वैकल्पिक रूप में कतिपय योगरूढ़ वाच्यार्थों का परिगणन कर देते हैं, जिनमें वह योगार्थ भी घटित हो रहा होता है। उदाहरणार्थ, गो शब्द के व्याख्यान में लिखते हैं– **'गच्छति यो यत्र यया वा सा गौः, पशुरिन्द्रियं सुखं किरणो वज्रं चन्द्रमा भूमिर्वाणी जलं वा।'**[८] 'वा' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि गो शब्द अपने यौगिक अर्थ का भी वाचक है तथा योगरूढ़ अर्थ का भी। इसी प्रकार उणादि की दयानन्द-वृत्ति से ज्ञात होता है कि 'कारु' शब्द का यौगिक अर्थ 'कर्त्ता' और योगरूढ़ अर्थ शिल्पी है; वायु शब्द का यौगिक अर्थ गन्ता या ज्ञाता है तथा योगरूढ़ अर्थ है गति करने वाला पवन या सर्वज्ञ परमेश्वर; मायु का यौगिक अर्थ प्रक्षेप्ता है और योगरूढ़ अर्थ ऊष्मा को प्रक्षिप्त करने वाला पित्त।[९]

२. वेदार्थ में योगार्थ-प्रक्रिया की अनिवार्यता

वस्तुतः योगार्थ-प्रक्रिया का आश्रय लिये बिना हम वेदार्थ में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। ऋग्वेद की पुस्तक खोलते ही प्रथम सूक्त के प्रथम मंत्र में ही अटक जायेंगे, क्योंकि वहां अग्नि को 'पुरोहित' 'ऋत्विज्' और 'होता' कहा गया है। यदि योगार्थ-प्रक्रिया का आश्रय न लें तो अग्नि में ये विशेषण चरितार्थ नहीं हो सकते।

वेद के अनेक शब्द ऐसे हैं जो लौकिक संस्कृत में उनका जो अर्थ है उससे अतिरिक्त अन्य अर्थों को भी देते हैं। वैदिक कोष निघण्टु से प्रमाणित होता है कि अद्रि, गिरि, पर्वत और गोत्र शब्द, जो लोक में सामान्यतः पहाड़ के वाचक हैं, वेद में मेघ अर्थ को भी देते हैं। लोक में जल एवं नदी का वाचक अप् शब्द, वेद में अन्तरिक्ष का वाचक भी है। लोक में किरण और घोड़े की लगाम के वाचक अभीशु, गभस्ति, दीधिति शब्द वेद में अंगुलि के वाचक भी हैं। लोक में पीयूष का वाचक अमृत शब्द वेद में हिरण्य का वाचक भी है। लोक में भूमि का वाचक अवनि शब्द और बहिन का वाचक स्वसृ शब्द वेद में अंगुलि के वाचक भी हैं।

लोक का सर्पवाची अहि शब्द वेद में मेघ और जल का वाचक भी है।[१०] अन्य भी अनेक शब्द वैदिक निघण्टु कोष में लोक-प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में परिगणित मिलते हैं। वैदिक शब्दों की यह अनेकार्थता योगार्थ-प्रक्रिया से ही सिद्ध हो सकती है। उदाहरणार्थ घृत शब्द के वेद में जो घी, पानी और दीप्ति अर्थ होते हैं वे योगार्थ के बल से ही होते हैं, क्योंकि घृत शब्द में जो घृ धातु है वह धातुपाठ में क्षरण और दीप्ति अर्थ में पठित है।

आज तक कोई वेदभाष्यकार ऐसा नहीं हुआ जिसने वेदार्थ करते हुए योगार्थ-प्रक्रिया को न अपनाया हो। सायण तो अपने वेदभाष्य में पदे-पदे इस सिद्धान्त को लागू करते हैं। यथा वे विषाण[११] का अर्थ विशेष रूप से मद का दाता, अष्ट[१२] का अर्थ विस्तृत, यति[१३] का अर्थ मेघ, विष[१४] का अर्थ व्याप्त:, पतंग[१५] और समुद्र[१६] का अर्थ परमात्मा, गोधा[१७] (गोह) का अर्थ गायत्री, मातरिश्वा[१८] का अर्थ यजमान, बन्धु[१९] का अर्थ तेज और बल करते हैं। एक स्थान पर तो सायण ने योगार्थ- प्रक्रिया के बल से ही हस्ती[२०] (हाथ वाला) का अर्थ 'पैरों वाला' कर लिया है। महीधर ने भी अपने वा० मा० शुक्लजुर्वेद-संहिता के भाष्य में योगार्थ-प्रक्रिया का खूब खुलकर प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ वे 'वायव:'[२१] का अर्थ गन्ता, कुक्कुट[२२] का अर्थ क्व-क्व शब्द करते हुए मारने के लिये दौड़ने वाला या कुत्सित शब्द करने वाला शम्या-रूप यज्ञायुधविशेष, हंस[२३] का अर्थ आदित्य और गन्धर्व[२४] का अर्थ वेदान्तवेत्ता विद्वान् एवं ऋषि[२५] का अर्थ गौ करते हैं। अभिप्राय यह नहीं है कि भाष्यकारों ने योगार्थ की पद्धति से जो कुछ भी अर्थ कर दिया है वह युक्तियुक्त ही है, क्योंकि योगार्थ-प्रक्रिया का सिद्धान्त खुली छूट नहीं दे देता कि इच्छानुसार जो चाहे अर्थ कर लो; इस सिद्धान्त को भी अन्य साधनों के समान विवेकपूर्वक अपनाना आवश्यक है। सायण-भाष्य और महीधर-भाष्य के उपर्युक्त उदाहरण देने का आशय केवल इतना ही है कि इन भाष्यकारों ने

३. निघण्टु एवं निरुक्त आदि की देन

निघण्टुकार ने अपने शब्दकोश में वैदिक शब्दों के एक या अनेक विविध अर्थ परिगणित किये हैं। यह उसका या उससे प्राचीन आचार्यों का अपना अनुसंधान है। निरुक्त में निर्वचनों द्वारा उन अर्थों का पोषण किया गया है। नैगम काण्ड में निरुक्तकार ने अपनी ओर से कतिपय शब्दों के अनेक अर्थ निर्वचनपूर्वक दिये हैं, क्योंकि निघण्टु में उनके अर्थ

परिगणित नहीं किये गये। यही स्थिति दैवत काण्ड के भी अनेक शब्दों की है। शाखा-साहित्य एवं ब्राह्मण-साहित्य में शब्दों के निघण्टु-निरुक्त-प्रोक्त अर्थों से भिन्न भी कुछ अर्थ वर्णित हैं । यथा, अग्नि का अर्थ ब्राह्मण, पुरुष, यजमान आदि, आदित्य का अर्थ पुरोहित या ब्राह्मण, ग्रावा का अर्थ विद्वान्।[२६] निघण्टु, निरुक्त, शाखा-ग्रन्थ एवं ब्राह्मणग्रन्थ आदि के ये सब शब्दार्थ योगरूढ़ की कोटि में आते हैं । ये मन्त्रार्थद्रष्टा आचार्यों के अपने वेदाध्ययन एवं वेदानुसंधान का फल हैं । अधिक अनुसंधान से शब्दों के अन्य अर्थ भी आविष्कृत किये जा सकते हैं, जो प्रचार पाकर योगरूढ़ की कोटि में ही आयेंगे।

वृत्र शब्द का योगार्थ तो आच्छादक है, पर इसके योगरूढ़ अर्थ मेघ, रात्रि, पाप, विघ्न, बाधक शत्रु, धन आदि किये जाते हैं। वृक का योगार्थ तो विकर्तनकर्त्ता है, किन्तु इसके योगरूढ़ अर्थ वज्र, चोर, चन्द्रमा, सूर्य, कुत्ता, भेड़िया, हल आदि माने गये हैं। वराह का योगार्थ श्रेष्ठ आहार वाला या श्रेष्ठ कन्द-मूलों को उखाड़ने वाला है, पर इसके योगरूढ़ अर्थ मेघ, पर्वत एवं शूकर हैं। इडा का योगार्थ स्तोतव्य है, किन्तु योगरूढ़ अर्थ पृथिवी, वाणी, अन्न, गौ, नारी आदि हैं। इन्दु का योगार्थ है गीला करने वाला, पर योगरूढ़ अर्थ जल, यज्ञ, चन्द्रमा आदि हैं । पाथस् का योगार्थ है गतिस्थल या खान-पान-योग्य, किन्तु उसका योगरूढ़ अर्थ अन्तरिक्ष, जल और अन्न है[२७]। इस प्रकार के शतशः शब्दों का वेदों के किन्हीं प्रकरणों में जब योगार्थ अभिप्रेत होता है तब वहां वह शब्द यौगिक होता है, किन्तु जब योगरूढ़ार्थ अभीष्ट होता है तब वहां वह शब्द योगरूढ़ होता है। इस प्रकार विशेषणभूत पदों को छोड़कर वेद के सभी नामपद यौगिक और योगरूढ़ दोनों श्रेणियों में आ जाते है । इसी अभिप्राय से स्वामी दयानन्द ने वैदिक शब्दों में यौगिकता एवं योग-रूढ़ि मानी है । परन्तु वैदिक नामपद आख्यातज या धातुज होने के कारण रूढ़ की कोटि में नहीं आते ।

वेद के जो विशेषणभूत पद हैं वे यौगिक ही हैं, योगरूढ़ नहीं, जैसे ईड्यः, रत्नधातमम्, सूपायनः आदि अग्नि के विशेषण। जो पद कहीं विशेषणरूप में आते हैं, कहीं स्वतंत्ररूप में, वे यथास्थान कहीं यौगिक और कहीं योगरूढ़ हो जाते हैं। उदाहरणार्थ–**'अग्ने यं यज्ञमध्वरम्'**। ऋ० १.१.४ में अध्वर शब्द यज्ञ का विशेषण होने से यौगिक शब्द की कोटि में आएगा तथा इसका अर्थ 'हिंसारहित' होगा। किन्तु **'प्राल्वं कृणोत्यध्वरम्'** ऋ०१.१८.८ में अध्वर शब्द यज्ञ का वाचक प्रयुक्त होने से योगरूढ़ माना जाएगा ।

यदि अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, गौ आदि वैदिक शब्दों को हम यौगिक मानने का आग्रह करें तो इनके अर्थ केवल अग्रणी, परमैश्वर्य-वान्, वरणीय, स्नेहकर्ता, गन्ता, गन्त्री आदि ही होने चाहिएं, इन विशेषणों से विशिष्ट पदार्थविशेष या व्यक्तिविशेष नहीं। इसलिए वैदिक नाम-पदों को यौगिक एवं योगरूढ़ मानने की दयानन्द सरस्वती की दृष्टि अत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण है।

किस शब्द का योगरूढ़ अर्थ क्या लिया जाए इसमें स्वयं वेद ही प्रायः सहायक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, अग्नि को वेद में राजा, नृपति, विश्पति, शत्रुसेनामोहक, पुरोहित, गृहपति, पिता, शोचिष्केश आदि के रूप में स्मरण किया गया है। इन्द्र को वृत्रहन्ता, शचीपति, सम्राट्, सेनाओं के पराजेता, स्वराज्य के आराधक आदि के रूप में चित्रित किया गया है। रुद्र को भिषग्राज, स्थिरधन्वा, क्षिप्रेषु आदि कहा गया है। इस प्रकार के संकेत विविध क्षेत्रों में इन शब्दों के योगरूढ़ अर्थों के अन्वेषण में सहायक होते हैं। योगार्थ-प्रक्रिया का अर्थात् यौगिकत्व एवं योगरूढ़त्व के सिद्धान्त का विवेकपूर्वक अनुसरण करते हुए महर्षि यास्क ने अनेक वैदिक शब्दों के एकाधिक अर्थ किये हैं, जो वेदों के विभिन्न प्रसंगों में सही उतरते हैं। समुद्र का अर्थ पार्थिव समुद्र के अतिरिक्त अन्तरिक्ष भी किया है। काष्ठा शब्द के अर्थ दिशा, उपदिशा, आदित्य, युद्धप्रान्त एवं स्थावर तथा अस्थावर जल किये हैं। स्वसर के अर्थ दिवस और सूर्य किये हैं। अर्क के अर्थ अर्चनीय देव, मंत्र अन्न और आक दिये हैं। अकूपार के अर्थ सूर्य, समुद्र और कच्छप किये हैं। निचुम्पुण के अर्थ सोमरस, समुद्र और यज्ञ किये हैं। कृत्ति के अर्थ यश, अन्न और गुदड़ी किये हैं। उसंत्र के अर्थ धनुष और कवच किये हैं। आशिष् के अर्थ दूध और आशीष या इच्छा किये हैं।[२८] निरुक्त के दैवत काण्ड में यास्क ने वैदिक प्रमाणों के आधार पर ही कतिपय वैदिक देवों के योगरूढ़ अर्थ निश्चित करने का प्रयास किया है।

किन्तु यौगिकता के आधार पर योगरूढ़ अर्थों का यास्क का यह निर्णय अन्तिम प्रमाण नहीं है। इससे और अधिक आगे बढ़ा जा सकता है। पर इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि योगरूढ़ अर्थों के निश्चय में स्वेच्छाचारिता का कोई स्थान नहीं है। किसी भी यौगिक अर्थ को लेकर इच्छानुसार कोई भी योगरूढ़ अर्थ नहीं कल्पित किया जा सकता। वह प्रमाण-परिपुष्ट तथा यथासंभव वेदानूमोदित होना चाहिए। गो शब्द के गन्ता या गन्त्री यौगिक अर्थ

को लेकर गौ के योगरूढ़ अर्थ हाथी, घोड़ा, ऊंट, भैंस, चिड़िया, गिलहरी आदि नहीं किये जा सकते।

४. दयानन्द की देन

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक शब्दों के योगरूढ़ अर्थ करने के अनुसंधान को और अधिक आगे बढ़ाया। उन्होंने वैयाकरण शाकटायन तथा नैरुक्तों द्वारा प्रतिपादित धातुजत्व अर्थात् शब्दों के यौगिकत्व एवं योगरूढ़त्व के सूत्र को पकड़ कर वेदार्थ में एक क्रान्तिकारी परिवर्धन कर दिखाया। यौगिकत्व एवं योगरूढ़त्व के सिद्धान्त को अपनाने की दृष्टि से वेदभाष्य में दयानन्द के दो प्रमुख योगदान हैं। एक यह है कि उन्होंने वेदव्याख्या को संकीर्ण क्षेत्र से निकाल कर व्यापक और बहुक्षेत्रगामी बना दिया। उनका दूसरा योगदान यह है कि उन्होंने वेद के ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले नामों की यौगिक एवं योगरूढ़ व्याख्या करके वेद को इतिहास-परक व्याख्या के निर्मम प्रहार से मुक्त करने की दिशा प्रशस्त की। जब कोई विद्वान् प्रारम्भ में सप्रमाण किसी वैदिक शब्द के नवीन अर्थ का आविष्कार करता है तब उसी समय वह भले ही सर्वसम्मत रूप से स्वीकार न किया जाए, किन्तु शनैः-शनैः स्वीकार्य होकर योगरूढ़ की श्रेणी में आ जाता है।

प्रथम योगदानः वेदार्थ की व्यापकता

प्रायः यह समझा जाता था कि वेदों में जो अग्नि, इन्द्र, रुद्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, सविता, विष्णु, मरुत, त्वष्टा, अश्विनौ आदि नाम आते हैं वे किन्हीं देवता-विशेषों को ही सूचित करते हैं, तदतिरिक्त उनका कोई योगरूढ़ अर्थ नहीं होता; देवतावाची पदों के यौगिक अर्थ केवल उन-उन देवों के विशिष्ट गुण-धर्मों को ही द्योतित करते हैं। यथा इन्द्र शब्द का योगार्थ स्ववाच्य देवता के परमैश्वर्यशालित्व, वीरत्व आदि को, अश्विनौ शब्द का योगार्थ स्ववाच्य देवता-युगल के व्याप्तिशालित्व आदि को सूचित करता है। इसके अतिरिक्त उनके योगार्थ से कोई अन्य योगरूढ़ अर्थ अभिहित नहीं होता। परन्तु दयानन्द ने योगार्थ के आधार पर देवतावाची इन्द्र आदि पदों के विविध क्षेत्रों में विविध, प्रमाणपरि-पुष्ट योगरूढ़ अर्थ करके वेदमंत्रों के पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से अनेक अर्थों की योजना अपने भाष्य में प्रदर्शित की। प्रायः निरुक्त-प्रतिपादित और क्वचित् नूतन निर्वचनों को लेकर उन्होंने

इन्द्र के परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, सूर्य, वायु, विद्युत्, सम्राट्, शूरवीर, सेनापति, विद्वान्, गृहपति, धनिक, विवाहित पति, अध्यापक, उपदेशक, कृषक आदि अर्थ किये हैं। त्वष्टा के परमेश्वर, अग्नि, सूर्य, विद्युत्, वायु, सेनापति, सभापति, शिल्पी आदि अर्थ लिखे हैं। रुद्र के ईश्वर, जीवात्मा, प्राण, अग्नि, वायु, राजा, सेनाध्यक्ष, वैद्य आदि अर्थ दिये हैं। उषा का प्राकृतिक उषा के अतिरिक्त विदुषी नारी अर्थ भी किया है। अदिति के जगज्जननी के अतिरिक्त आत्मा, वाणी, पृथिवी, प्रकृति, सूर्यदीप्ति, विदुषी, माता, राजमहिषी, राजसभा आदि अर्थ किये हैं। अश्विनौ से प्राण-अपान, जल-अग्नि, वायु-जल, अग्नि-वायु, द्यावापृथिवी, राजा-अमात्य, राजा-प्रजा, सभा-सेनाधीश, अध्यापक-उपदेशक, स्त्री-पुरुष आदि युगलों का ग्रहण किया है। ऐसी ही स्थिति अन्य देवताओं के अर्थों की है । इस प्रकार यौगिकवाद एवं योगरूढ़वाद के आधार पर वैदिक देवताओं के अनेकविध अर्थ करने के परिणामस्वरूप दयानन्द के वेदभाष्य के आलोक में वेदमंत्रों में अध्यात्मविद्या, योगविद्या, धनुर्विद्या, गान्धर्वविद्या, वाणिज्यविद्या, अध्ययन-अध्यापनविद्या, पशुपालनविद्या, कृषिविद्या, नौविमानादिविद्या, धर्म, ज्योतिष, राजनीति, चिकित्साशास्त्र आदि विविध ज्ञान-विज्ञान की बातें दृष्टिगोचर होने लगी हैं।[२९]

द्वितीय योगदानः ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले नामों की यौगिक व्याख्या

वेदार्थ का ऐतिहासिक सम्प्रदाय यास्क से भी पुराना है। यास्कीय निरुक्त में इस सम्प्रदाय का कई बार उल्लेख हुआ है तथा यास्क ने कई स्थलों पर इससे नैरुक्तों का मतभेद प्रदर्शित किया है।[३०] इस सम्प्रदाय की प्रवृत्ति वैदिक वर्णनों को ऐतिहासिक रंगत देने की है। इस सम्प्रदाय का जन्म कतिपय वैदिक तथा ऐतिहासिक नामों के साम्य को लेकर ही हुआ है। परन्तु वेदों का अन्तःसाक्ष्य ही इस बात को प्रमाणित कर देता है कि वेदों में वे शब्द किसी ऐतिहासिक अर्थ को सूचित करने के लिए प्रस्तुत नहीं हुए हैं, परन्तु धातुज होने से वे किसी अन्य ही यौगिक या योगरूढ़ अभिप्राय को प्रकट करते हैं । वेदों में अनेक शब्द ऐसे भी हैं, जो इतिहास में भी आये हैं, तो भी कोई भी वेदभाष्यकार उनका इतिहास-परक अर्थ नहीं कर सका। उदाहरणार्थ निम्न नाम द्रष्टव्य हैं महावीर, दशरथ, वातापि, धनंजय, हिरण्यकशिपु, पांचजन्य, अजातशत्रु, विभीषण, पराशर, गोविन्दु, सीता, राम, लक्ष्मण, अयोध्या,

दशरथ, पुलस्ति।[३१] बहुत से शब्द ऐसे भी हैं, जिनके विषय में भाष्यकार दुविधा में पड़ गये हैं कि इन्हें ऐतिहासिक मानें या यौगिक; यथा, तृणस्कन्द, दुर्योण, जातूष्ठिर, शशीयसी, भेद, शृंगवृष, प्रियमेध।[३२]

सिद्धान्तरूप में सायण भी वेदों में इतिहास नहीं मानते। अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में वेदों का अपौरुषेयत्व (अमनुष्यकृतत्व) एवं प्रामाण्य सिद्ध करते हुए मीमांसासूत्रों के आधार पर उन्होंने लिखा है कि वेदों में प्रयुक्त 'बबर' आदि नामों को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि ये किन्हीं ऐतिहासिक मनुष्यों के नाम हैं, अपितु 'ब–ब–र' ध्वनि के साथ प्रवाहित होने के कारण वायु का नाम 'बबर' है।[३३] परन्तु भूमिका में यह प्रतिज्ञा करके भी वेदभाष्य करते हुए सायण यत्र-तत्र इतिहास-परक अर्थ कर गये हैं। अथवा यह वैषम्य इस कारण हो सकता है कि सायणभाष्य यद्यपि है सायण के नाम से, किन्तु वह अनेक पण्डितों का किया हुआ है। केवल स्वामी दयानन्द ऐसे वेदभाष्यकार हैं, जिन्होंने वेदों में इतिहास न होने की मान्यता का अपने भाष्य में भी पूर्णरूप से निर्वाह किया है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदसंज्ञाविचार-प्रकरण में प्रतिपक्षी की 'वेदों में भी जमदग्नि, कश्यप आदि ऐतिहासिक नाम आते हैं' इस शंका का उत्तर देते हुए शतपथ के प्रमाण से दयानन्द कहते हैं कि **'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्'** यजु० ३.६२ आदि मन्त्रों में जमदग्नि, कश्यप आदि देहधारी मनुष्य के नाम नहीं हैं, किन्तु जमदग्नि चक्षु को कहते हैं तथा कश्यप प्राण का नाम है। अन्त में निष्कर्ष देते हुए लिखते हैं कि मंत्रभाग में इतिहास का लेश भी नहीं है; अतः सायणाचार्य आदि ने वेदमन्त्रों में जहां कहीं इतिहास का वर्णन किया है वह भ्रममूलक ही है।

ऋ० १.३१.११ में नहुष शब्द आया है, जिसे सायण ने इस नाम के ऐतिहासिक राजा के रूप में लिया है। किन्तु दयानन्द अपने भाष्य में वैदिक कोष निघण्टु (२.३) का प्रमाण देकर नहुष का अर्थ मनुष्य करते हैं और सायण की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि सायण ने जो नहुष को राजा का नाम माना है वह ठीक नहीं है, क्योंकि वेदों के सनातन होने से उनमें पश्चाद्वर्ती किसी नहुष राजा की गाथा नहीं हो सकती। **'कक्षीवन्तं य औशिजः'** ऋ० १.१८.१ की व्याख्या में सायण ने उशिक् नाम की माता का पुत्र कक्षीवान् ऋषि अर्थ किया है। यहां भी दयानन्द स्वयं यौगिक अर्थ करते हैं तथा सायण के विषय में लिखते हैं कि सायण ने कल्पित पुरोणेतिहास की भ्रान्ति से इस मंत्र की अन्यथा ही व्याख्या की है। ऋ०१.३१.१७ में

प्रयुक्त ययाति शब्द से सायण ने ययाति नामक ऐतिहासिक राजा गृहीत किया है, किन्तु दयानन्द ययाति का अर्थ प्रयत्नवान् पुरुष करते हैं तथा यहां भी सायण के व्याख्यान को असंगत बताते हैं। ऋ० १.३६.१८ के भाष्य में सायण ने तुर्वश, यदु, उग्रदेव, नववास्तु, बृहद्रथ, और तुर्वीति को ऐतिहासिक राजर्षि-विशेष माना है, किन्तु दयानन्द इनका यौगिक अर्थ करते हैं तथा सायण के अर्थ को भ्रान्त घोषित करते हैं ।

दयानन्द ने ऋग्वेद का मण्डल ७, सूक्त ६१, मंत्र २ तक तथा यजुर्वेद (वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल) सम्पूर्ण का भाष्य किया है। इस समस्त सुदीर्ध भाष्य में एक भी ऐतिहासिक प्रतीत होने वाला नाम ऐसा नहीं बचा है, जिसका दयानन्द ने यौगिक अर्थ या यौगिक के आधार पर योगरूढ़ अर्थ आविष्कृत करके और उसे तथाकथित इतिहास के पंजे से छुड़ा कर मन्त्र का भिन्न प्रकार से पारमार्थिक या व्यावहारिक अर्थ न किया हो। इन नामों में कुत्स[३४], शुनःशेप[३५],अत्रि[३६], अम्बरीष[३७], दिवोदास[३८], वसिष्ठ[३९], दीर्घतमस्[४०], अगस्त्य[४१], विश्वामित्र[४२], वामदेव[४३], त्रसदस्यु[४४] आदि को ले सकते हैं, जो सायण के अनुसार ऋषि-विशेष या राजा-विशेष अर्थों में रूढ़ हैं, किन्तु दयानन्द की प्रतिभा ने जिन्हें धातुजत्व के आधार पर योगरूढ़ की श्रेणी में लाने का प्रयास किया है।

इस प्रकार ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले शततः ऋषिओं, राजाओं, नदियों, नगरों आदि के नाम दयानन्द के वेदभाष्य में धातुजत्व के अर्थात् यौगिकत्व एवं योगरूढ़त्व के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यात हुए हैं, जिससे दयानन्द द्वारा अव्याख्यात वेदभाष्य में आने वाले इतर नामों के व्याख्यान की शैली भी प्रदर्शित हो जाती है। इससे सायणप्रभृति मध्यवर्ती भाष्यकारों ने तथा वेदों पर कार्य करने वाले मैक्समूलर, विलसन, ग्रासमन, ग्रिफिथ, मैकडानल, कीथ, ह्विटने आदि विदेशी विद्वानों ने वेदों की आधारभित्ति पर जो इतिहास का चमकीला महल खड़ा कर लिया है वह शाकटायन, यास्क आदि महर्षियों से प्रवर्तित और दयानन्द से प्रवर्धित, प्रसारित, आन्दोलित एवं तरंगित योगार्थवाद के प्रबल आघात से पूर्णतः धराशायी हो जाता है।

वस्तुतः वेदों में इतिहास का अन्वेषण प्रथम दृष्टि में जितना अधिक तर्कसंगत एवं प्रलोभक प्रतीत होता है उससे भी अधिक अयुक्तियुक्त एवं विपज्जनक है। यदि इतिहास की सरणि पर चलें तो सचमुच वेद के प्रत्येक मन्त्र पर इतिहास रचा जा सकता है। बृहद्देवता ग्रन्थ के रचयिता शौनक ने ऐसे ही कल्पित इतिहास का नमूना प्रदर्शित किया है, जिसे हम सच मान बैठे

हैं और इतिहास की पुष्टि के लिए उसे उद्घृत करते रहते हैं। वेदमन्त्रों में पद-पद पर इतिहास के अनुसंधान की प्रवृत्ति यदि बढ़ती गयी तो निश्चय ही वेदों में जो पारमार्थिक एवं व्यावहारिक रहस्यार्थ छिपे हैं वे सर्वथा अध्येताओं की दृष्टि से ओझल होते जायेंगे। देव दयानन्द की दूरदर्शिनी दृष्टि ने वेदार्थ पर आने वाली इस विपत्ति को सामने खड़ा देखकर ही वेदानुसंधान में प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित शब्दों के धातुजत्व के सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने का सक्रिय परामर्श प्रदान किया है।

महावैयाकरण शाकटायन एवं निरुक्तकार यास्क से रोपी गयी, वेद-वृक्ष पर लहराती हुई, एवं दयानन्द-रूपी माली से सींच-सींच कर पल्लवित और पुष्पित की गयी योगार्थवाद की मनोरम वल्लरी को आँख से ओझल न करके ही हम वेदकल्पद्रुम की मधुमय मनोहारिता का दर्शन करने एवं उसकी शीतल, सुखद छाया को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

पाद-टिप्पणियां

१. द्रष्टव्यः स्वामी दयानन्द कृत 'नामिक' ग्रन्थ का आरंभ।
२. द्रष्टव्यः वही।
३. द्रष्टव्यः 'वैदिक यन्त्रालय अजमेर' से मुद्रित निघण्टु की भूमिका।
४. द्रष्टव्यः 'नामिक' ग्रन्थ का आरंभ।
५. द्रष्टव्यः क्रमशः निघं० १.१, १.५, १.४, १.११, ३.१६।
६. द्रष्टव्यः निरु. २.२.५–६; ११.३८।
७. अन्तरिक्षं गौः । तै० सं० ७.३.४.२, अन्नमु गौः। श० ७.५.२.१९, गावो वै शक्वर्यः। जै० ३. १०३, गौरेव रथन्तरम्। जै० १.१३३, २.३४, यज्ञो वै गौः । तै० ब्रा० ३.९.८.३., प्राणो हि गौः । श० ४.३.४.२५, स है सोमोऽजस्रो यद् गौः। श० ७.५.२.१९ ।
८. उणादिकोष २.६८।
९. वही, १.१ ।
१०. अद्रि, गिरि, पर्वत=मेघ (निघं० १.१०), अप्=अन्तरिक्ष (निघं० २.१), अभीशु, गभस्ति, दीधिति=अंगुलि (निघं २.५), अमृत =हिरण्य (निघं० १.२), अवनि, स्वसृ=अंगुलि (निघं० २.५) अहि=मेघ, जल (निघं० १.१०,१२)।

११. विषाणं विशेषेण मदस्य दातारम्। सायण, ऋ०५.४४.११।
१२. अष्टकर्ण्यः विस्तृतकर्ण्यः। सा०, ऋ० १०. ६२.७।
१३. वृष्ट्या नियमयन्तीति वा वर्षणेन यातयन्तीति वा यतयो मेघाः। सा०, ऋ०१०.७२.७।
१४. विषेण व्याप्तेन। सा०, ऋ० १०.८७.२३।
१५. पतति व्याप्नोतीति पतङ्गःपरमात्मा। सा०, ऋ०१०. १७७.१।
१६. समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतानीति समुद्रः परमात्मा।– वही
१७. गमयति वर्णानिति गोर्वाक् तत्र निधीयमानत्वाद् गायत्री गोधा। यद्वा युधिर्निष्कर्षणार्थः, निष्कृष्य सोमाहरणाद् गोधा गायत्री। सा०, ऋ०१०. २८.१०।
१८. मातरि फलस्य मातरि यागे श्वसते चेष्टते इति मातरिश्वा यजमानः। सा०, ऋ०१.१४१.३।
१९. बध्नन्ति शत्रूनिति बन्धूनि तेजांसि बलानि वा। सा०, ऋ०९. ९७.७।
२०. हस्तिभिः हस्तवद्भिः, हन्तेर्गतिकर्मणो हस्तशब्दः, गमनसाधन–पादवद्भिरित्यर्थः। सा०, ऋ०५. ६४.७।
२१. हे वत्साः, यूयं वायवःस्थ मातृभ्यः सकाशाद् अन्यत्र गन्तारो भवत। महीधर, यजु० १.१।
२२. हे शम्यारूप यज्ञायुधविशेष त्वं कुकुक्टोऽसि असुराणाम्। क्व–क्व इति तान् हन्तुमिच्छन् योऽटति सर्वत्र संचरति स कुक्कुटः। यद्वा कुकं कुत्सितशब्दं कुटति तनोनीति कुक्कुटः। म०, यजु० १.१६।
२३. हन्ति अहंकारमिति हंसो भगवानादित्यः, यद्वा हंसशब्देन रथ उच्यते, हन्ति पृथिवीमिति हंसः रथः। म०, यजु० १०.२४।
२४. गां वेदवाचं धारयति विचारयतीति गन्धर्वः वेदान्तवेत्ता विद्वान् पण्डितः। म० यजु०३२.९।
२५. अर्षति दोहनस्थानं गच्छतीति ऋषिः गौः। म०, यजु०३.१६।
२६. अग्निर्वै ब्राह्मणः। काठ० ६.६, पुरुषो वाग्निः। श० ६.३.२.१, इन्द्रो वै यजमानः। श० २.१.२.११, आदित्यो वाव पुरोहितः। ऐ०, ब्रा० ८.२७, एते खलु वादित्या यद् ब्राह्मणाः। तै० ब्रा० १.९.८, विद्वांसो हि ग्रावाणः। श० ३.९.३.४।
२७. द्रष्टव्यः वृत्र–निघं० १.१०, २.१०, वृक–निघं० २.२०, ३.२४, निरु० ५.२०–२१, वराह–निघं. १.१०, निरु० ५.४, इडा–निघं० १.१, १.११, २.७, २.११, इन्दु– निघं० १.१२, ३.१७, निरु०

१०.४०, पाथस् निरु०६.७।

२८. द्रष्टव्यः निरु०–समुद्र २.११, काष्ठा २.१५, सरस्वती २.२३, खल ३.१०, रजस् ४.३९, हरस् ४.४०, स्वसर५.२२, शर्याः, ५.२३, अर्क ५.३४, अकूपार ४.३३, निचुम्पुण ५.६२, कृत्ति ५.६७, अंसत्र ५.७५, आशिष् ६.३५।

२९. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य–ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाः दयानन्द; ऋग्वेद और यजुर्वेद के दयानन्दभाष्य; प्रस्तुत लेख के लेखक के शोधग्रन्थ– १. 'महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल संबन्धी विचार' दयानन्दशोधपीठ, पंजाबविश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, २. वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाएं (महर्षि दयानन्द की वेदभाष्य-प्रक्रिया के विशेष विचार सहित): वि. वि. संस्कृत भारती शोध-संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर।

३०. यथा, निरु० २.१७, १२.१, १२.५।

३१. द्रष्टव्यः क्रमशः ऋ० १.३२.६, १.२६.४, १.१८७.८, ३.४२.६, ५.७.१०, ५.३२.११, ५.३४.१, ५.३४.६, ७.१०४.२१, ९.९६.१९, ७.५७.६–७, १०.९३.१४, ५.३३.१०, अथर्व० १०.२.३१, ६.४.१, यजु० १६.४३।

३२. द्रष्टव्यः क्रमशः ऋ० १.१७२.३, १.१७४.७, २.१३.११, ५.६१.६, ७.१८.१८, ८.१७.१३, ८.८७.३ का सायणभाष्य।

३३. परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम् (जै० सू० १.१.३१) इति। यत् परं बबरादिकं तत् शब्दसामान्यमेव, न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः, बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्।

३४. कुत्सं वज्रम्। क्रुत्स इति वज्रनामसु पठितम् (निघं० २.२०), सायणाचार्येणात्र भ्रान्त्या कुत्सगोत्रोत्पन्नः ऋषिर्गृहीतः, असंभवादिदं व्याख्यानमशुद्धम् (ऋ० १.३३.१४)।

३५. शुनःशेपः–शुनो विज्ञानवतः इव शेपो विद्यास्पर्शो यस्य सः (ऋ० १.२४.१२)।

३६. अत्रयः त्रिभिः कामक्रोधलोभदोषै रहिताः उपदेशकाः (ऋ० ५.२२.४), अविद्यमानत्रिविधदुःखा वाण्यः (ऋ०५.३९.५), अत्रये न सन्ति त्रीणि भूतभविष्यद्वर्तमानकालजानि दुःखानि यस्य तस्मै (ऋ०१.८०.४), अविद्यमाना आत्मिक-वाचिक-शारीरिक-दोषा यस्मिन् तस्मै (ऋ०१.११२.१६), अत्रिम् अविद्यमानानि

आत्ममनःशरीरदुःखानि येन तम् (ऋ० १.११७.३),।

३७. अम्बरीषः शब्दविद्यावित्। अत्र शब्दार्थाद् अबि धातोः औणादिकः ईषन् प्रत्ययो रुगागमश्च (ऋ० १.१००.१७)।

३८. दिवोदासं दिवो विद्याधर्मप्रकाशस्य दातारम् (ऋ० १.११२.१४)।

३९. बसिष्ठम् यो वसति धर्मादिकर्मसु सोऽतिशयितः तम् (ऋ० १.११२.९)।

४०. दीर्घतमाः दीर्घं तमो यस्मात् सः (ऋ० १.१५८.६)।

४१. अगस्त्यः ये धर्मादन्यत्र न गच्छन्ति तेऽगस्तयः, तेषु साधुः (ऋ० १.१७९.६.), अगम् अपराधम् अस्यन्ति प्रक्षिपन्ति, तेषु साधुः (ऋ० १.१८०.८)।

४२. विश्वामित्राय विश्वं सर्व जगत् मित्रं यस्य तस्मै (ऋ० ३.५३.७)।

४३ वामदेवस्य सुरूपयुक्तस्य विदुषः (ऋ०४.१६.१८)।

४४. त्रसदस्युं त्रस्यन्ति दस्यवो यस्मात् तम् (ऋ० ४.४२.९)।

वेद-व्याख्या के प्रयास, स्वामी दयानन्द का महान् योगदान

प्राचीन युग में वेद का अध्येता वैदिक भाषा से सुपरिचित होने के कारण वेदार्थ को भलीभांति हृदयंगम कर लेता था। किन्तु शनैः शनैः वेदार्थ के ह्रास का युग आ गया, यहां तक कि कौत्ससदृश वेदों के श्रद्धालुजन भी यह कहने लगे कि वेदों का अर्थ कुछ नहीं होता, वेदमन्त्र तो पाठमात्र से अदृष्ट उत्पन्न कर यज्ञादि में मंत्रों का उच्चारण करने वाले को स्वर्ग या मोक्ष दिलाते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया कि वेदार्थ को सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिए वेदार्थ-ज्ञापक ग्रन्थों की रचना की जाए। तब वेदज्ञों ने शिक्षा, वैदिक व्याकरण, निरुक्त एवं छन्दःशास्त्र नामक वेदांगों की रचना की[1]। वैदिक कर्मकाण्ड को सुरक्षित रखने के लिये ब्राह्मणग्रन्थों का तथा श्रौत एवं गृह्य सूत्रों का निर्माण किया गया। वेदों में निहित अध्यात्म तत्त्व को उजागर करने के लिए आरण्यक एवं उपनिषदें रची गयीं।

ब्राह्मणग्रन्थ केवल कर्मकाण्ड के विवेचन द्वारा ही नहीं, अपितु वेद में अध्यात्म, अधिराष्ट्र एवं अधिदैवत तत्त्वों के अनुसंधान संबन्धी दिशानिर्देश द्वारा भी हमें उपकृत करते हैं। वे अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवों का भौतिक जगत् में, शरीर में एवं राष्ट्र या समाज में भी स्थान निश्चित करने का प्रयास करते हैं। यथा, उनके अनुसार बाह्य जगत् में सूर्य, वायु या विद्युत् इन्द्र है, शरीर में प्राण या मन इन्द्र है, राष्ट्र में राजा या सेनापति इन्द्र है[2]। ऐसे ही संकेत प्रायः सभी वैदिक देवों के संबन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में आते हैं। किसी प्रसंग को अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ एवं अधिभूत में घटाने की प्रवृति भी ब्राह्मणग्रन्थों की विशेष देन है।

वेद-व्याख्या के प्रसंग में वैदिक निघण्टुकोष के व्याख्याता यास्कीय निरुक्त को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिसमें वेद के सभी नाम-पदों के धातुज होने के सिद्धान्त का सयुक्ति प्रतिपादन किया गया है, जिसमें लगभग १३०० वैदिक शब्दों के निर्वचन एवं अर्थ किये गये हैं, जिसमें लगभग २५०

सम्पूर्ण मन्त्रों तथा ४०० से अधिक मन्त्राशों की व्याख्या प्रस्तुत कर दी गयी है और साथ ही जिसमें कई मंत्रों के व्याख्यान अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ आदि विविध दृष्टियों से किये गये हैं। मन्त्रों के विविध क्षेत्रों में व्याख्यान सबसे पूर्व निरुक्त में ही उपलब्ध होते हैं, यद्यपि इस व्याख्या-शैली के दिग्दर्शक स्वयं वेद ही हैं तथा ब्राह्मणग्रन्थ भी इस शैली का संकेत कर चुके थे।

इसके अनन्तर वेद-व्याख्या में योगदान करने वालों में वेदभाष्यकार आते हैं, जिन्होंने एकाधिक वेदों का, किसी एक वेद का अथवा वेद के किसी अंश का भाष्य किया है। **ऋग्वेद** के भाष्यकारों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम **स्कन्दस्वामी** (संवत् ६८७) का है, जिनका ऋग्वेद के प्रथम अष्टक सम्पूर्ण का तथा अष्टक ४-५ के कतिपय सूक्तों का मुद्रित भाष्य उपलब्ध है। इनकी अपनी ही प्रतिज्ञा के अनुसार इनका भाष्य कर्मकाण्ड का उपकारक है।[३] **उद्गीथ** इन्हीं के सहकारी थे तथा इनका अपना स्वतंत्र भाष्य ऋग्वेद १० म मण्डल के सूक्त ५, मन्त्र ४ से सूक्त ८६, मन्त्र ६ तक ही मुद्रित उपलब्ध है। यह भी कर्मकाण्ड का ही समर्थक है।

वेंकट माधव (१२वीं विक्रमी शती) ने प्रायः सम्पूर्ण ऋग्वेद पर भाष्य किया है, जो स्वल्पाक्षर है तथा याज्ञिक पद्धति पर आश्रित है। **आनन्द तीर्थ** (संवत् १२५५-१३३५) ने ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों पर आध्यात्मिक भाष्य की रचना की है, जिसमें अग्नि, वायु आदि नामों से नारायण को प्रतिपाद्य माना है। **आत्मानन्द** (१३वीं विक्रमी शती) का ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १।१६४) पर अध्यात्मपरक भाष्य है। **सायण** (संवत् १३७२-१४४४) का बालखिल्य सूक्तों को छोड़कर सम्पूर्ण ऋग्वेद पर भाष्य उपलब्ध है। इन्होंने अन्य वेदों पर भी भाष्य किया है। इनकी भाष्यपद्धति यज्ञपरक है, यद्यपि कहीं-कहीं इन्होंने अध्यात्म अर्थ भी प्रदर्शित किये हैं।[४]

यजुर्वेद वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता पर **उवट** (संवत् ११००) तथा **महीधर** (संवत् १६४५) के कर्मकाण्डपरक भाष्य हैं, जो शतपथ ब्राह्मण एवं कात्यायन श्रौतसूत्र की पृष्ठभूमि पर रचे गये हैं और जिनमें यह साहस नहीं किया गया है कि कर्मकाण्ड में जो अयुक्तियुक्त तथा मन्त्रार्थविरुद्ध विनियोग प्रचलित थे उन पर प्रश्नचिन्ह लगाया जाता। सायण का शुक्लयजुर्वेद की काण्व संहिता पर तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता पर भाष्य है। ये भाष्य भी कर्मकाण्डानुसारी हैं। तैत्तिरीयसंहिता पर **भट्टभास्कर** (संवत् ११००) का भाष्य भी कर्मकाण्डपरक है।

सामवेद के तीन भाष्यकार उल्लेखनीय हैं। माधव, भरतस्वामी और सायण । माधव और भरतस्वामी दोनों का एक साथ प्रो० कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित एक भाष्य अड्यार लाइब्रेरी से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था, जो केवल पूर्वार्चिक (मन्त्र क्रमांक ५८५ तक) है। शेष भाग अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। **माधव** का काल अनुमानतः ७वीं शती विक्रमी है। इनके पिता का नाम नारायण है। इनका भाष्य पदों के मन्त्रोक्त क्रम का अनुसरण करता है। अनेक स्थलों पर अध्यात्मपरक अर्थ भी निरूपित किये गये हैं। इनकी प्रवृत्ति वैकल्पिक एकाधिक अर्थ देने की बहुत है। इन्होंने स्थान-स्थान पर अपने भाष्य में व्यत्यय स्वीकार किये हैं। इनके भाष्य का नाम 'विवरण' है । ये अपने पूर्वार्चिक के भाष्य को 'छन्दसिका विवरण'[५] तथा उत्तरार्चिक के भाष्य को 'उत्तर विवरण' कहते हैं। **भरतस्वामी** कश्यपगोत्री थे, इनके पिता का नाम नारायण आर्य और माता का नाम यज्ञदा था। इन्होंने होसलाधीश्वर रामनाथ के राजत्व-काल में श्री रंगपटम् में निवास करते हुए सामवेद का भाष्य किया था[६]।उक्त होसलाधीश्वर का काल बर्नल के अनुसार सन् १२७२-१३१० है। इस दृष्टि से भरतस्वामी ने सामभाष्य विक्रमी संवत् १३६० के आस-पास किया होगा। इन्होंने भी कई मन्त्रों के अध्यात्मपरक अर्थ प्रदर्शित किये हैं। माधव और भरतस्वामी दोनों कई स्थानों पर अपने मन्त्र-व्याख्यानों के लिए प्रमाणस्वरूप वेदमन्त्र उद्धृत करते हैं, ब्राह्मणग्रन्थों के उद्धरण भी देते हैं।

सायण का काल अनुमानतः संवत् १३७२-१४४४ है। ये महाराज बुक्क प्रथम के राजमन्त्री थे और उन्हीं के आदेशानुसार वेदभाष्य में प्रवृत्त हुए थे। इन्होंने याजुष तैत्तिरीय संहिता तथा ऋग्वेद का क्रमशः व्याख्यान करके तदनन्तर सामवेद का भाष्य किया था[७]। ऋग्वेदगत साममन्त्रों का भाष्य इन्होंने अपने ऋग्वेदभाष्य से ही ले लिया है। इसीकारण ऋग्वेदीय मन्त्र की अपेक्षा सामवेद में जहां भिन्न पाठ है, वहां भी ऋग्वेदीय पाठ की ही व्याख्या इनके सामभाष्य में पायी जाती है। यह इनके सामभाष्य की एक विसंगति है। यह दोष माधव और भरतस्वामी के भाष्यों में नहीं है।

अथर्ववेद (शौनकीय) पर सायण का ही भाष्य उपलब्ध है[८], जो कौशिक-सूत्र तथा वैतानसूत्र के विनियोगों का अनुसरण करता है और जिसमें टोने-टोटके, मन्त्र-तंत्र, कृत्या-अभिचार आदि का वर्णन एवं अरूपसमृद्ध विनियोग स्थान-स्थान पर हैं।

उपर्युक्त समस्त भाष्यों पर दृष्टिपात करके हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उनमें से अधिकतर केवल कर्मकाण्ड को आधार बनाकर लिखे गये हैं; असंभव किस्से-कहानी एवं मनघड़न्त इतिहास को पदे-पदे दर्शाते हैं; अग्नि-अग्नायी, इन्द्र-इन्द्राणी आदि वैदिक देव-देवियों का वाच्यार्थ कुछ भी स्पष्ट नहीं करते; अभिमानी-देवता की मनमानी कल्पना से ओतप्रोत हैं; मांसभक्षण, पशुबलि, मन्त्र-तन्त्र, मारण-उच्चाटन आदि की पैशाचिकता को प्रश्रय देते हैं। अतः उनसे व्यापक और विशुद्ध वेदार्थ पाठक के सम्मुख नहीं आता। जो अध्यात्मपरक भाष्य हैं वे एक तो वेद के बहुत छोटे से भाग पर किये गये हैं, दूसरे उन पर प्रायः वेदान्तिक विचारधारा का ही प्रभाव है, अतः वेद के सच्चे स्वरूप को उजागर नहीं कर पाते ।

विदेशी विद्वानों का प्रयास

वेदव्याख्या के प्रसंग में विदेशी विद्वानों के प्रयास की भी चर्चा कर लेना उचित होगा। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने अपनी 'सेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट' नामक शृंखला के एक भाग में मरुत्, रुद्र, वायु और वात देवताओं के ऋक्सूक्तों का अंग्रेजी भाषान्तर किया था। सन् १८५० में डाक्टर एच० एच० विल्सन ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद किया, जिसमें सायणभाष्य को आधार रखा गया है । जर्मन विद्वान् एच० ग्रासमान ने १८७६-७७ ई० में ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया, जो सायणभाष्य से सर्वथा स्वतंत्र है तथा रॉथ की भाषावैज्ञानिक पद्धति पर आश्रित है। जर्मनी के ही ए० लुडविग ने १८७५-८६ में छह जिल्दों में ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद विस्तृत भूमिका तथा व्याख्या के साथ किया । कार्ल गैल्डनर ने १९२३-५१ ई० में सम्पूर्ण ऋग्वेद का अपना अनुवाद प्रकाशित कराया। आर० टी० एच० ग्रिफिथ ने १८८९-९८ ई० में चारों वेदों का अंग्रेजी पद्यानुवाद किया। जर्मन विद्वान् डाक्टर एच० ओल्डनबर्ग ने १९०९-१२ ई० में जर्मन भाषा में ऋग्वेद की विवेचनापूर्ण व्याख्या दो जिल्दो में प्रकाशित करायी। लांग्ल्वा नामक एक विद्वान् ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का चार भागों में फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का एक अंग्रेजी अनुवाद डाक्टर ए० बी० कीथ ने किया, जो हार्बर्ड ओरियण्टल सिरीज़ में सन् १९१४ में

अमेरिका से छपा था। जे० स्टेवेन्सन ने सामवेद की राणायनीय शाखा का संस्करण अंग्रेजी अनुवाद सहित संपादित किया, जिसे विल्सन ने १८४३ ई० में प्रकाशित किया। थियोडोर बेन्फे ने सामवेद की कौथुम शाखा का संस्करण जर्मन भाषानुवाद सहित १८४८ ई० में प्रकाशित कराया। अथर्ववेद की शौनकीय शाखा का डब्ल्यू० एच० ह्विटने ने भूमिकायुक्त अपूर्ण सटिप्पण अनुवाद किया था, जिसे सी० आर० लेनमेन ने पूरा करके १९०९ ई० में प्रकाशित कराया था। ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का अंग्रेजी अनुवाद १९०१ ई० में प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त विविध वैदिक संहिताओं, भाष्यों ब्राह्मणग्रन्थों आदि के शुद्ध संस्करण, व्याख्यासहित वेदमन्त्रसंकलन, कोश आदि का प्रकाशन भी वैदेशिक विद्वानों ने किया है।

विदेश के अन्वेषकों द्वारा किये गये वेदभाषान्तर एवं वेदव्याख्यान या तो सायणभाष्य पर आधारित हैं, अथवा नूतन हैं तो भारतीय परम्परा की उपेक्षा करके विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक पद्धति का अवलम्ब लेकर चले हैं। अतः इनका प्रयास किसी अंश में प्रशंसनीय होते हुए भी वेदों के रहस्यार्थ को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ रहा है।

स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदसंहिता का प्रारंभ से लेकर ७म मण्डल के ६१ वें सूक्त के २य मन्त्र तक और वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता सम्पूर्ण का भाष्य किया है। उनका यह वेदभाष्य पूर्ववर्ती भाष्यों की अपेक्षा अनेक नवीन विशेषताएं रखता है, ज़िनमें से कुछ का यहां दिग्दर्शन करा देना उपयोगी होगा।

१. वैदिक देवों का अर्थानुसन्धान

वेदों में अग्नि, वायु, इन्द्र, अश्विनौ, मित्र, वरुण, अर्यमा, रुद्र, सविता आदि पुंलिंगी देवों का तथा अदिति, उषस्, सरस्वती, पृथिवी आदि स्त्रीलिंगी देवताओं का पुनः पुनः वर्णन आता है। उवट, सायण, महीधर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों ने इन्हें पृथक् स्वतन्त्र देव-देवियां स्वीकार किया था तथा यह माना था कि वेदवर्णित प्रत्येक प्राकृतिक देवता उषा, सूर्य, पृथिवी, आपः, नदी, ओषधि आदि का एक-एक

स्वतन्त्र चेतन अभिमानी-देवता है, उसी चेतन देवता की इन नामों से वेद में स्तुति की गयी है। जिन देवताओं का प्राकृतिक स्वरूप निश्चित नहीं है, वे भी स्वतन्त्र देवता हैं। यज्ञों में आवाहन करने पर ये देवता हवि से प्रसन्न होकर यजमान को पुत्र, पौत्र, पशु, धन आदि प्रदान करते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द ने प्रमाणपुरस्सर यह घोषणा की कि वेद अनेकेश्वरवादी नहीं हैं, अपितु वेदों के विभिन्न पुंलिंगी और स्त्रीलिंगी देवता पिता और माता के रूप में एक परमेश्वर के ही गुणकर्म-बोधक विभिन्न नाम हैं। वेद की वर्णन-शैली की यह अद्भुतता है कि साथ ही वे देवता शरीर में आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, अपान, उदान, चक्षु, श्रोत्र आदि के; राष्ट्र में राजा, सेनापति, न्यायाधीश, गृहपति, आचार्य आदि के; और भौतिक जगत् में प्रकृति, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल आदि के भी वाचक होते हैं। जहां जैसा प्रकरण हो वहां वैसे अर्थ करने चाहिएं। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर दयानन्दभाष्य में प्रसंग या औचित्य के अनुसार **'अग्नि'** के अग्रणी, विज्ञानस्वरूप, सर्वविद्योपदेष्टा, स्वयं-प्रकाशमान, प्रकाशक परमेश्वर, विद्वान् अध्यापक, उपदेशक, नायक राजा, वीर सेनापति, यज्ञाग्नि, शिल्प में प्रयोक्तव्य भौतिक अग्नि आदि अर्थ किये गये हैं। **'इन्द्र'** को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर, शत्रुविदारक राजा, सभाशालासेनान्यायाधीश, विद्यार्थियों की जड़ता का विच्छेदक गुरु, वायु, विद्युत्, सूर्य आदि अर्थों में ग्रहण किया गया है। **'रुद्र'** को दुष्टरोदक परमात्मा, जीवात्मा, वैद्य, वायु, प्राण, शत्रुसंहारक सेनापति, ब्रह्मचारी आदि अर्थों में व्याख्यात किया गया है। **'अश्विनौ'** के राजा-अमात्य, प्राण-अपान, जल-अग्नि, वायु-विद्युत्, सूर्य-चन्द्र, अध्यापक-उपदेशक, सभेश-सेनेश आदि अर्थ किये गये हैं।

वैदिक देवियों को भी स्वामी दयानन्द ने भौतिक जगत् एवं शरीर में घटाने के साथ-साथ समाज में भी घटाया है। तदनुसार उनके भाष्य में **'उषा'** का अर्थ प्रभातवेला या सन्ध्या के अतिरिक्त उषा के समान ज्ञान से समस्त रूपों की प्रकाशिका विदुषी स्त्री भी किया गया है[९]। इसी प्रकार 'सरस्वती' का अर्थ वाणी एवं वेगवती नदी के अतिरिक्त विदुषी कन्या, प्रशस्त ज्ञानवती विदुषी स्त्री, प्रशस्तविज्ञानयुक्ता पत्नी, शिक्षिता माता एवं वेदादिशास्त्रविज्ञानयुक्ता अध्यापिका भी किया है।[१०] प्रचुरता के साथ वैदिक देवताओं को सामाजिक या राष्ट्रिय अर्थों में लेकर सम्पूर्ण मन्त्र को सामाजिक या राष्ट्रपरक अर्थ की रंगत देना स्वामी दयानन्द की ही महत्त्वपूर्ण देन है। इससे पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे अर्थों के क्वचित् संकेतमात्र दिये गये थे। स्वामी

दयानन्द ने वैदिक देवताओं के जो अर्थ दिये हैं वे स्वयं वेदों से तथा ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक आदि साहित्य से समर्थित हैं।

२. वेदमन्त्रों की अनेकार्थकता

वेदमन्त्रों के अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ आदि अर्थ करने की परम्परा पहले से ही प्रवृत्त थी। यास्क ने अपने निरुक्त में कई स्थलों पर इस प्रकार की मंत्र-व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। स्वामी दयानन्द ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने मन्त्रार्थों को दो भागों में विभक्त किया है—**पारमार्थिक** अर्थ और **व्यावहारिक** अर्थ।[11] इन्हीं दो में पूर्व आचार्यों से निर्धारित अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ, अधिभूत आदि सकल अर्थ-प्रक्रियाएं समाविष्ट हो जाती हैं। परमेश्वर तथा परमेश्वर-प्राप्ति संबन्धी अर्थ पारमार्थिक प्रक्रियां में और शेष सब अर्थ व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्गत होते हैं।

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में वेदमन्त्रों की अनेकार्थक योजना अनेक स्थलों पर की है। ऋग्वेद के प्रथम पांच अग्निदेवताक मन्त्रों की व्याख्या उन्होंने परमेश्वरपरक तथा शिल्पाग्निपरक की है। **'धूरसि धूर्व धूर्वन्तम्'** यजु० १.८ में भी अग्नि के अर्थ परमेश्वर तथा शिल्पसाधक अग्नि दोनो लिये हैं। वायुदेवताक ऋ० १.२.१–३ इन तीनों मन्त्रों की व्याख्या परमेश्वर तथा भौतिक वायु दोनो पक्षों में की है। इन्द्र देवता के **'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम्'**, ऋ० १.६.१ मन्त्र को परमेश्वर, आदित्य और प्राण तीन पक्षों में व्याख्यात किया है। **'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो'** ऋ० १.३५.२ आदि सवितृदेवताक मन्त्र के अर्थ परमेश्वर तथा सूर्य उभय पक्ष में किये हैं। सूर्यपरक अर्थ में सूर्य की आकर्षणशक्ति का वर्णन किया है। **'अदित्यास्त्वगसि'**, यजु० ४.३० आदि वरुणदेवताक मन्त्र की व्याख्या परमेश्वर, सूर्य तथा वायु तीन पक्षों में की है। **'कद्रुद्राय प्रचेतसे'** ऋ० १.४३.१ आदि रुद्र देवता के मन्त्र को परमेश्वर, जीवात्मा तथा भौतिक वायु तीन पक्षों में घटाया है। इन्द्र देवता के **'योगे योगे तवस्तरम्'** ऋ० १.३०.७ आदि मन्त्र की ईश्वर तथा सेनाध्यक्ष दो पक्षों में व्याख्या की है। प्रसिद्ध मन्त्र **'यां मेधां देवगणाः'** यजु० ३२.१४ में अग्नि पद से जगदीश्वर तथा विद्वान् अध्यापक का ग्रहण किया है। **'अयं मित्रो नमस्यः'** ऋ० ३.५९.४ आदि मन्त्र में मित्र के अर्थ ईश्वर तथा राजा लेकर व्याख्यान किया गया है। **'पुरां भिन्दुर्'**, ऋ० १.११.४ आदि इन्द्रविषयक मन्त्र की व्याख्या सूर्य और सेनापति उभय पक्षों में की है। सोम देवता का **'त्वं**

सोमासि सत्पति·' ऋ० १.९१.५ आदि मन्त्र श्लेष से परमेश्वर, शालाध्यक्ष तथा सोम ओषधी तीन पक्षों में व्याख्यात किया गया है। **'वृत्रखादो बलंरुजः'** ऋ० ३.४५.२ आदि इन्द्रदेवताक मन्त्र की अर्थयोजना विद्युत्, सूर्य, वायु और राजा परक की गयी है। ऐसे मन्त्र दो सौ से भी अधिक हैं, जिनमें श्लेषालंकार मान कर स्वामी जी एकाधिक अर्थ करते हैं। मन्त्रों की एकाधिक व्याख्याएं जितनी स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य में की हैं उतनी अन्य किसी वेदभाष्यकार ने नहीं की हैं।[१२]

३. ऐतिहासिक अर्थों की उपेक्षा

वेदमन्त्रों में प्रयुक्त नामों को किन्हीं ऐतिहासिक ऋषियों, ऋषिकाओं, राजाओं, रानियों, नदियों, नगरों आदि के नाम मान लेने की प्रवृत्ति वेदभाष्यकारों में पायी जाती हैं। वेदार्थ का ऐतिहासिक सम्प्रदाय यास्काचार्य (७०० ई० पू०) से भी पहले विद्यमान था, क्योंकि उन्होंने अपने निरुक्त ग्रन्थ में कई प्रसंगों में इस सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। पर अपनी सम्मति उन्होंने इसके विरोध में ही दी है।[१३] आधुनिक युग के वेदविचारक विदेशी विद्वानों का तो आधारस्तम्भ ही यह है, अतएव वेद में पदे-पदे इतिहास का अन्वेषण करने का पूर्वाग्रह उन्होंने बनाया हुआ है। विदेशों के विद्वान् वेदों में लौकिक इतिहास भले ही मानें, पर आश्चर्य तो तब होता है जब वेदों को सृष्टि के आदि में प्रकट हुआ ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले स्कन्दस्वामी, उवट, सायण, महीधर आदि भारतीय भाष्यकार भी अनेक स्थलों पर वेदमन्त्रों की इतिहासपरक व्याख्याएं करते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने सुदीर्घ वेदभाष्य में एक स्थल पर भी इतिहास नहीं माना है। ऋ० भा०भू० में वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि वेदमन्त्रों में इतिहास का लेश भी नहीं हैं, अतः सायणाचार्य आदि ने जहां-कहीं इतिहास का वर्णन किया है वह भ्रममूलक ही है।[१४]

अपने वेदभाष्य में भी कई स्थलों पर स्वामी दयानन्द ने सायण के ऐतिहासिक अर्थों का विरोध किया है। यथा, सायण ने ऋ० १.३१.११ में नहुष को राजा-विशेष, ऋ० १.१८.१ में कक्षीवान् औशिज को उशिक् नाम की माता का पुत्र कक्षीवान् ऋषि, ऋ० १.३१.१७ में ययाति को इस नाम का राजा, ऋ० १.३६.१८ में तुर्वश, यदु, उग्रदेव, नववास्तु, बृहद्रथ और तुर्वीति को राजर्षि-विशेष माना है, पर स्वामी दयानन्द इन स्थलों पर नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार व्याख्यान करते हैं और सायण का नाम लेकर उसके इतिहासपरक अर्थों का खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि राजा नहुष आदि तो इदानींतन

हैं और वेद सनातन हैं, अतः सनातन वेदों में परवर्ती ऐतिहासिक राजा आदियों की गाथा नहीं हो सकती।[१५]

वेदों में लौकिक इतिहास न होने की स्थापना तो अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में सायण ने भी की थी,[१६] पर वेदभाष्य में वे उसका निर्वाह नहीं कर पाये। किन्तु महर्षि दयानन्द ने अपनी प्रतिज्ञा का अपने वेदभाष्य में सर्वत्र निर्वाह किया है। वे अगस्त्य, अत्रि, अम्बरीष, कुत्स, कुशिक, त्रसदस्यु, दिवोदास, वसिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र, शुनःशेप प्रभृति समस्त ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले नामों की नैरुक्त पद्धति से व्याख्या करते हैं। सचमुच वेद में लौकिक इतिहास की कल्पना वेद को जर्जर कर देने वाली है। वेदों में इतिहास न मान कर योगार्थ के बल से जो अर्थ करने की पद्धति है उसी से वेद का रहस्यार्थ हृदयंगम किया जा सकता है। अन्यथा ऐतिहासिक कथाएं जैसी भाष्यकारों ने रच कर वेदों पर थोपी हैं, वैसी प्रत्येक वेदमन्त्र पर बनायी जा सकती हैं। वेद के ऐतिहासिक सम्प्रदाय को व्यापक क्रियात्मक उत्तर देने का श्रेय एकमात्र वेदधुरन्धर दयानन्द को है।

४. पूर्व विनियोगों से स्वतन्त्र वेदार्थ

पूर्वकाल में दर्श, पौर्णमास, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेघ, पुरुषमेघ, सोमयाग आदि विविध श्रौत यागों मे, ब्रह्मयज्ञादि पन्च यज्ञों में, जातकर्मादि विभिन्न संस्कारों में तथा अन्य अनेक विधि-विधानों में वेदमन्त्रों का विनियोग किया गया था। उन विनियोगों की परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि उनमें कुछ विनियोग रूपसमृद्ध अर्थात् मन्त्रार्थ से अनुमोदित हैं और कुछ अरूपसमृद्ध हैं अर्थात् या तो मन्त्रार्थ से विरुद्ध हैं या मन्त्रार्थ से असम्बद्ध हैं। ब्राह्मणग्रन्थकारों ने रूपसमृद्ध विनियोगों से ही यज्ञ की परिपूर्णता मानी थी।[१७] तथापि अरूपसमृद्ध विनियोग भी चलते रहे और उन्हें प्रामाणिक भी माना जाता रहा। स्वामी दयानन्द ने यह स्पष्ट घोषणा की कि पूर्वकृत विनियोगों में जो युक्तिसिद्ध, वेदादि प्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाले विनियोग हैं, वे ही ग्राह्य हो सकते हैं।[१८] साथ ही यह भी माना कि वेदव्याख्या के लिए रूपसमृद्ध विनियोगों का भी अनुसरण करना अनिवार्य नहीं है, उन विनियोगों से स्वतन्त्र होकर भी वेद के व्याख्यान किये जा सकते हैं। अतएव उन्होंने ऋग्वेद एवं यजुर्वेद का अपना भाष्य पूर्व विनियोगों का अनुसरण किये बिना ही लिखा है और भूमिका में यह निर्देश कर दिया है कि मैं तो शब्दार्थतः ही मन्त्रों की व्याख्या करूंगा, जिन्हें अग्निहोत्र से लेकर

अश्वमेघपर्यन्त कर्मकाण्ड का परिचय पाना हो वे ऐतरेय, शतपथ, पूर्वमीमांसा, श्रौतसूत्रादि को देख सकते हैं, किन्तु उनमें जो वेदविरुद्ध विनियोग हैं उन्हें न मानें।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य से यह स्पष्ट है कि पूर्व विनियोगों से स्वतंत्र होकर की गयी उनकी वेदव्याख्या महोपकारक सिद्ध हुई है और उससे पाठक को वेदों में मानवोपयोगी विविध ज्ञान-विज्ञानों एवं कर्त्तव्यों का दर्शन हो जाता है तथा उसे यह भ्रान्ति नहीं होती कि वेद में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। महीधर ने पूर्व विनियोगों से बद्ध होकर तथा उनकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का विचार किये बिना अपना यजुर्वेदभाष्य किया, अतः अनेक स्थलों पर वह भाष्य भ्रान्त है, यथा छठे अध्याय में अग्नीषोमीय पशुप्रयोग के प्रकरण में अज (बकरे) का वध, अश्वमेघ-प्रकरण में २३वें अध्याय में राजमहिषी का अश्वमेधीय अश्व के समीप शयन (मन्त्र १९—२१), राजपत्नियों तथा पुरोहितों के मध्य अश्लील हास-परिहास (मन्त्र२२—३१), राजपत्नियों द्वारा अश्व के शरीर को सलाइयों से गोदना (मन्त्र ३३—३७) और अश्व का पेट काटना (मन्त्र ३९—४२), २५वें अध्याय में अश्व के काटे गये अंगों का देवताओं के लिये होम करना (मन्त्र १-९), ३५वें अध्याय में पितृमेध-प्रकरण में गाय की चर्बी का होम करना (मन्त्र २०) आदि।[१९] इन स्थलों पर पूर्व विनियोगों का अनुसरण न करते हुए लिखा गया दयानन्द-भाष्य अत्यन्त चामत्कारिक तथा वेद के सत्य स्वरूप का प्रकाशक है।

५. वेदों में विविध विद्याओं का आविष्कार

पूर्व भाष्यकारों में से अधिकांश ने वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त अन्य किसी विद्या का आविष्कार नहीं किया था। परन्तु स्वामी दयानन्द 'वेदों में सब विद्याएं हैं' यह घोषणा करते हैं।[२०] उन्होंने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ में ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमणविद्या, आकर्षणानुकर्षणविद्या, प्रकाश्यप्रकाशकविद्या, गणितविद्या, उपासनाविद्या, मुक्तिविद्या, नौविमानादि-निर्माणचालनविद्या, तारयन्त्रविद्या, वैद्यकविद्या, राजविद्या, यज्ञविद्या, कृषि-विद्या, शिल्पविद्या, वर्णाश्रमविद्या आदि विविध विद्याओं का वैदिक प्रमाणों सहित प्रतिपादन किया है तथा स्वकीय वेदभाष्य में भी इनका प्रकाश किया है।

६. कतिपय अन्य विशेषताएं

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में कुछ अन्य विशेषताएं भी पायी जाती हैं, जो अन्य वेदभाष्यकारों के भाष्यों में उपलब्ध नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, कतिपय विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(क) दयानन्द सरस्वती वेदमन्त्रों के अश्लील, परमात्मा के स्वभाव एवं सृष्टिनियम के विरुद्ध और लोकविद्वेषकारी अर्थ कहीं नहीं करते।

(ख) वे वेदों में मांसभक्षण, पशुबलि, जड़पूजा, मृतकश्राद्ध, जादू-टोना, असंभव चमत्कार आदि नहीं मानते। जिन भाष्यकारों ने इस पक्ष के अर्थ अपने वेदभाष्यों में किये हैं उन्हें वे भ्रान्त ठहराते हैं।

(ग) निर्वचनशास्त्र को भी उनका विशेष योगदान है, यतः अपने वेदभाष्य में तथा उणादिकोष की व्याख्या में उन्होंने अनेक नवीन निर्वचन प्रस्तुत किये हैं।

(घ) वे वैदिक शब्दों को व्यापक अर्थों में लेते हैं। यथा देव शब्द से परमेश्वर, विद्वान्, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, ज्ञानेन्द्रिय आदि का ग्रहण करते हैं।[२१] यज्ञ में केवल अग्निहोत्र को ही नहीं, प्रत्युत देवपूजा, संगतिकरण, शिल्प, दान आदि को भी संमिलित करते हैं।[२२]धनवाचक रै, राधस्, रयि, धन, वसु प्रभति शब्दों से सुवर्ण आदि धन के साथ-साथ विद्या, धर्म, आरोग्य, चक्रवर्ती राज्य, मोक्ष आदि धन को भी गृहीत करते हैं[२३]। रश्मि आदि किरणवाची शब्दों से केवल भौतिक प्रकाश की किरणों को ही नहीं, अपितु विद्या-विज्ञान के तेजों एवं अन्तः प्रकाशक गुणों का भी बोध कराते हैं।[२४] रथ शब्द का प्रायः सर्वत्र ही भूयान, जलयान एवं विमान अर्थ लेते हैं।[२५] यही स्थिति वृत्र, वृक, नमुचि, नदी, धनुष, इषु आदि अन्य अनेक शब्दों की भी है।[२६]

(ङ) उनका वेदभाष्य मानव को अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिये उद्बोधन देता है। लौकिक उत्कर्ष में वे समग्र भूमण्डल के धर्मपूर्ण चक्रवर्ती राज्य तक पहुंचाते हैं, तो दिव्य उत्कर्ष में मोक्ष के परमानन्द तक ले जाते हैं।

इस प्रकार अनेक नवीनताओं एवं विशेषताओं के कारण स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य अत्यन्त उपादेय है।

पाद-टिप्पणियां

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूवुस्तेऽवरेभ्योऽ साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गनि च। निरु० १।१९।

२. अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः। श० ८.५.३.२, यो वै वायुः स इन्द्रो, य इन्द्रः स वायुः। श० ४.१.३.१९, वाग् वा अग्निः, प्राण इन्द्रः। श० ६.१.२.२८, यन्मनः स इन्द्रः। गोपथ० उ० ४.११, क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः। श० २.५.२.२७, सेना इन्द्रस्य पत्नी । गोपथ० उ० २.९।

३. सर्वमन्त्राणां कर्माङ्गत्वसिद्ध्यर्थं यतो बोद्धव्यो ऽर्थः, अत ऋग्वेदस्यार्थबोधनार्थमस्माभिर्भाष्यं करिष्यते। स्कन्द, ऋग्भाष्य के आरम्भ में ।

४. सायण के अध्यात्मपरक अर्थों के लिए द्रष्टव्यः ऋग्भाष्य, मण्डल१, सूक्त ५०, ८६, १६४; मण्डल ६, सूक्त ९, ४७; मण्डल १०, सूक्त ८१, ८२, ११४, १७७; अथर्वभाष्य, काण्ड २, सूक्त १; काण्ड ११ सूक्त ४; काण्ड १९, सूक्त ५८, सामभाष्य क्रमांक २५९, ६३५।

५. ''छन्दसिकोत्तररहस्यात्मकं पञ्चाग्निना माधवेन श्री नारायणसूनुना सवितुः परां भक्तिमालम्ब्य तत्प्रसादाद् भाष्यं कृतम्''–माधवभाष्यभूमिका। ''इति छन्दसिकाविवरणं माधवाचार्यकृतं परिसमाप्तम्''– पूर्वार्चिकभाष्य के अन्त में ।

६. ''नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः । साम्ना श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्यृचम् ।। होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति। व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरङ्गे वसत मया।। इत्यं श्री भरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः। नारायणार्यतनयो व्याख्यत् साम्नामृचो ऽखिलाः।।''–भरतस्वामिभाष्यभूमिका।

७ ''यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्भिमीते ततो यजुः। व्याख्यातं प्रथमं पश्चाद् ऋचां व्याख्यानमीरितम्।। साम्नामृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याथ वर्ण्यते'' सायणीयसामभाष्यभूमिका।

८. अथर्ववेद के इन अंशो पर सायणभाष्य नहीं मिलता–काण्ड ५, ८ (सूक्त ७ से अन्त तक), ९, १०, १२-१५, २० (सूक्त ३८ से अन्त तक)।

९. (उ़षः) उषर्वत् सर्वरूपप्रकाशिके विदुषि स्त्रि। ऋ० भा० ६.४९.७, (उषः) उषर्वद् विद्यमाने विदुषि । वही, १.११३.१२, (उषसः) प्रभातवेला इव स्त्रियः। वही, १.११३.२०।
१०. (सरस्वती) विज्ञानाढया (विदुषी कन्या) ऋ० भा० ६.४९.७, प्रशस्तं सरो विज्ञानं विद्यते यस्याः सा (विदुषी स्त्री) । य० भा० १९.८३, प्रशस्तज्ञानयुक्ता पत्नी। वही, १९.८२, विदुषी शिक्षिता माता। वही २०.६४, (सरस्वतीम्) बहुविधं सरो वेदादिशास्त्र-विज्ञानं विद्यते यस्यास्तां विज्ञानयुक्ताम् अध्यापिकां स्त्रियम्। वही ९.२७
११. अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिक-व्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। ऋ० भा० भू०, प्रतिज्ञाविषय।
१२. अधिक विस्तार के लिये द्रष्टव्यः लेखक का ग्रन्थ 'वेदभाष्यकारों की वेदार्थप्रक्रियाएं', अध्याय ४।
१३. द्रष्टव्यः निरु. २.१७, १२.१, १२.१०।
१४. नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्रकुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रम-मूलमेवास्तीति मन्तव्यम्– ऋ० भा० भू०, वेदसंज्ञाविचारविषय ।
१५. नहुषस्येत्यत्र सायणाचार्येण नहुषनामकराजविशेषो गृहीतः,तदसत्। कस्यचिन्नहुषस्येदानींतनत्वाद् वेदानां सनातनत्वात् तस्यगाथाऽत्र न संभवति, निघण्टौ नहुषस्येति मनुष्यनाम्नः प्रसिद्धेश्च। द० भा०, ऋ० १.३१.११।
१६. बबराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्र-यति–परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (जै. सू. १.१.३१) इति। यत् परं बबरादिकं तत् शब्दसामान्यमेव, नतु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः, बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्। सायण, ऋग्भाष्य, उपोद्घात, पूनासंस्करण, पृ. १५।
१७. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग-भिवदति। ऐ० ब्रा० १.१६, एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर्वाऽभिवदति। गोपथ०, उ०२.६।
१८. तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। ऋ० भा० भू०, प्रतिज्ञाविषय।

१९. विशेष विस्तार के लिये द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का लेख–'स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि' ।

२०. वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति आहोस्विन्न? अत्रोच्यते, सर्वाः सन्ति। मूलोद्देशतः, ऋ० भा० भू०, ब्रह्मविद्याविषय का आरम्भ।

२१. द्रष्टव्यः ऋ० भा० भू०, वेदविषयविचार।

२२. धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिधा भवति। विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिकसुखसंपादनाय सत्करणं, सम्यक्-पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं, नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति। य० भा० १.२

२३. (रायः) विद्याचक्रवर्तिराज्यश्रियादीनि धनानि। य० भा० २.२४, (राधसः) विद्यासुवर्णचक्रवर्तिराज्यादिधनस्य । ऋ० भा० १.२२.७, (धनानि) विद्याधर्मचक्रवर्तिराज्यश्रीप्रसिद्धानि। ऋ० भा०१.४२.६, (रयिम्) धर्ममोक्षविद्याचक्रवर्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं धनम्। वेदभाष्य नमूना, ऋ० १.१.३, (वसु) सुखेषु वसन्ति येन तद् धनं विद्यारोग्यादि सुवर्णादि वा। ऋ० भा० १.१०.६।

२४. (रश्मिभिः) प्रकाशकैर्गुणैः किरणैर्वा। (रश्मिभिः) अन्तः प्रकाशकैर्गुणैः। य० भा० १.३१ ।

२५. (रथे) भूजलाकाशगमनार्थे याने। ऋ० भा० १.६.२।

२६. (वृत्रम्) मेघमिव अविद्याम्। ऋ० भा० ४.१८.११; प्रकाशावरकं मेघमिव धर्मात्मावरकं (दुष्टं शत्रुम्)। य० भा० ३३.२६; (वृकः) वृकवदुत्कोचकश्चोरः। ऋ० भा० २.२८.१०; (नमुचिम्) योऽधर्मं न मुञ्चति तम् (अधर्मात्मानं जनम्) ऋ० भा० २.१४.५; (नमुचेः) न मुञ्चति परपदार्थान् दुष्टाचारान् वा यः स्तेनस्तस्य य० भा० १०.१४; (नदीनाम्) सरितामिव विद्यमानानां विदुषीणाम्। ऋ० भा० ३.३३.१२; (नदीभिः) सरिद्भिरिव नाडीभिः। ऋ० भा० २९.३९; (इषवः) शस्त्रास्त्राणि। य० भा० १६.६६।

वेद-व्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन

वेदों पर आस्था रखनेवाले प्राचीन भारतीय मनीषियों ने निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, वेदभाष्य आदि के माध्यम से वेदमन्त्रों की स्वाभिमत व्याख्याएं प्रदर्शित की हैं। वेदार्थ में यास्कीय निरुक्त का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाष्यकारों में स्कन्द महेश्वर, उद्गीथ, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, रावण, उवट, सायण, महीधर, भरतस्वामी आदि के भाष्य मिलते हैं, जो चारों वेदों पर, किसी एक वेद पर या वेदों के किन्हीं स्थलविशेषों पर हैं। इनमें से अधिकतर भाष्यकारों ने वेदमन्त्रों के अर्थ कर्मकाण्डपरक किये हैं; तो भी उनके भाष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वेदार्थ की अन्य पद्धतियों को भी स्वीकार करते थे।

वेदार्थ की विविध पद्धतियां

वेदार्थ की अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ पद्धतियां वैदिक साहित्य में विशेष रूप से प्रचलित रही हैं। अध्यात्मपद्धति में मन्त्रों के परमात्मापरक या शरीरपरक अर्थ किये जाते हैं। शरीर में आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियां आदि शरीरस्थ तत्त्व भी सम्मिलित हैं। अधिदैवत पद्धति में सायण आदि भाष्यकार अग्नि, वायु, सविता प्रभृति वैदिक देवों को प्राकृतिक आग, पवन, सूर्य आदि के अधिष्ठाता चेतन देवताविशेष मानकर मन्त्रार्थ करते हैं, किन्तु दूसरे आचार्य वैदिक देवों को जड़ प्राकृतिक पदार्थों के वाचक मानकर मन्त्रार्थ-योजना करते हैं। अधियज्ञ पद्धति में मन्त्र का यज्ञ में विनियोग करते हुए यज्ञसंबद्ध अर्थ किया जाता है, अथवा यदि मन्त्र में यज्ञ की बात कुछ न हो तो अर्थ सामान्यतः अध्यात्म, अधिदैवत आदि ही किया जाता है, केवल मन्त्र के यज्ञ में विनियुक्त होने के कारण उस मन्त्रार्थ को अधियज्ञ कह दिया जाता है।

इन वेदार्थ-पद्धतियों की चर्चा या इनका उपयोग प्राचीन वेदव्याख्या-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है। उदाहरणार्थ, यास्क के निरुक्त में अनेक मन्त्रों की व्याख्या अध्यात्म तथा अधिदैवत[१] पद्धतियों से की गयी है और कुछ मन्त्रों की अधिदैवत तथा अधियज्ञ[२] पद्धतियों से। सायण ने भी अपने वेदभाष्य में कई स्थानों पर अधियज्ञ या अधिदैवत व्याख्या के साथ अध्यात्मपरक व्याख्या भी दी है।[३] सायण-पूर्व भाष्यकार आत्मानन्द ने ऋग्वेद के सम्पूर्ण अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १.१६४) की व्याख्या अध्यात्म पद्धति से की है। यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर ने एक मन्त्र 'हंसः शुचिषद्' आदि की व्याख्या अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ तीनों पद्धतियों से की है।[४]

उपर्युक्त तीन पद्धतियों के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण वेदार्थ-पद्धति है 'अधिभूत पद्धति'। इस पद्धति में वेदमन्त्रों के मनुष्यपरक, प्राणिपरक, समाजपरक या राष्ट्रपरक अर्थ किये जाते हैं। इस पद्धति का नामनिर्देश वैदिक साहित्य में बहुत कम हुआ है तथा वेदभाष्यकारों ने वेदार्थ में इसका प्रयोग भी बहुत कम किया है। वे अधिभूत अर्थ प्रायः वहीं करते हैं, जहां कोई वैदिक स्थल स्पष्टरूप से समाज-व्यवस्था या राष्ट्र-व्यवस्था पर प्रकाश डाल रहा होता है। व्यापक रूप से मन्त्रों के अधिभूत अर्थ करना दयानन्द की ही देन है।

दयानन्दसंमत वेदार्थ-पद्धतियां

दयानन्द ने वेदमन्त्रों के दो ही प्रकार के अर्थ स्वीकार किये हैं—पारमार्थिक तथा व्यावहारिक। उनके अनुसार परमेश्वर का स्वरूप, उसके गुण-कर्म-स्वभाव, स्तुति-प्रार्थना-उपासना, योग, मुक्ति आदि पारमार्थिक विषय हैं। इनसें अतिरिक्त सब विषय व्यावहारिक विषय कहलायेंगे, जिनमें वर्ण, आश्रम, राजधर्म, भौतिक विज्ञान, शिल्प, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वाणिज्य, कृषि आदि आ जाते हैं। इसप्रकार दयानन्द के अनुसार पारमार्थिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाली वेदार्थपद्धति परमार्थ-पद्धति तथा व्यावहारिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाली पद्धति व्यावहारिक-पद्धति कहला सकती है। दयानन्दस्वीकृत इन दो वेदार्थ-पद्धतियों में पूर्व आचार्यों द्वारा अभिमत अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ एवं अधिभूत वेदार्थ-पद्धतियां अन्तर्भूत हो जाती हैं।

महर्षि अपनी ऋ० भा० भू० के प्रतिज्ञाविषय में लिखते हैं कि जिन मन्त्रों के श्लेष आदि अलंकार से पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के अर्थ संभव हैं, उन मन्त्रों के अपने वेदभाष्य में मैं दोनों अर्थ करूंगा। तदनुसार उन्होंने अपने वेदभाष्य में अनेक वेदमन्त्रों के दोनों प्रकार के अर्थ किये हैं या इसी तथ्य को हम इस रूप में कह सकते हैं कि पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ एवं अधिभूत पद्धतियों का प्रयोग करते हुए मन्त्रों की अनेकार्थकता का जितना अधिक पल्लवन दयानन्द ने किया है उतना उनसे पूर्व किसी भाष्यकार ने नहीं किया था। जहां उन्होंने मन्त्रों के एक-ही-एक अर्थ किये हैं, उनमें से भी कोई अध्यात्म-पद्धति का है, कोई अधिदैवत पद्धति का है, कोई अधियज्ञ पद्धति का है और कोई अधिभूत पद्धति का है। वेदमन्त्रों के अधिभूतपद्धति के जितने अधिक अर्थ उन्होंने अपने भाष्य में किये हैं उसे देखकर तो यह मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि वेदों में समाज-व्यवस्था का अत्यन्त विस्तार से चित्रण किया गया है। वेदों के संबन्ध में यह दयानन्द की एक नवीन देन है।[५]

वेदों में विविध विद्याएं

दयानन्द अपनी ऋ० भा० भू० के 'ब्रह्मविद्या' विषय का आरंभ करते हुये प्रश्न उठाते हैं कि 'वेदों में सब विद्याएं हैं वा नहीं?'। फिर उसका उत्तर देते हैं कि ''बीजरूप में सब विद्याएं वेदों में विद्यमान हैं''। स्कन्द, सायण आदि भाष्यकारों के भाष्यों से पाठक को यह भ्रान्ति होती थी कि वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु दयानन्द की वेदभाष्यभूमिका तथा वेदभाष्य पढ़ने के उपरान्त पाठक को यह विश्वास हो जाता है कि वेद विविध विद्याओं के स्रोत हैं। ऋ० भा० भू० में उन्होंने नमूने के रूप में वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमण, सूर्य द्वारा पृथिव्यादि लोकों के आकर्षण-धारण-प्रकाशन, जलपोत, वायुयान, विद्युत्-तार, चिकित्साविज्ञान, स्तुति-प्रार्थना-उपासना, पुनर्जन्म, मुक्ति, राजप्रजाधर्म, वर्ण, आश्रम, पंचयज्ञ आदि विषयों का दिग्दर्शन कराया है। साथ ही उनकी मान्यता है कि वेदों में मानवों के कर्त्तव्यकर्मों का भी विस्तार से उल्लेख हुआ है, जिसकी चर्चा उन्होंने ऋ० भा० भू० के 'वेदोक्त धर्म' प्रकरण में की है।

वेदव्याख्या के आधारभूत सिद्धान्त

जिन प्रमुख आधारभूत सिद्धान्तों को संमुख रखकर दयानन्द वेद-व्याख्या में प्रवृत्त हुए हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१. वेदों के शब्द धातुज अर्थात् यौगिक या योगरूढ़ हैं। इस कारण वे अनेकविध अर्थों को प्रकट करने में समर्थ हैं। यह आग्रह करना उचित नहीं है कि लोक में किसी शब्द का जो अर्थ है, केवल वही सर्वत्र वेद में भी अभिप्रेत है।

२. वेदों में अनेक देवों की पूजा का वर्णन नहीं है, प्रत्युत वेदवर्णित अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, सूर्य, सविता आदि देवता एक ही परमेश्वर के गुणवाची विभिन्न नाम हैं। साथ ही वे श्लेषालंकार द्वारा आग, सूर्य, आत्मा, प्राण, राजा, सेनापति, विद्वान्, उपदेशक, अध्यापक आदि अर्थों को भी देते हैं।

३. वेदवर्णित अदिति, उषा, इडा, सरस्वती, भारती, पृथिवी, द्यौ. आपः आदि स्त्रीलिंगी देवता परमात्मा के मातृत्व का चित्रण करने के साथ-साथ नारी, पत्नी, अध्यापिका, गृहिणी, विद्युत्, वाणी, क्रियाशक्ति आदि के वाचक भी हैं।

४. वेदार्थ करते हुए पूर्वकृत विनियोगों का अनुसरण करना अनिवार्य नहीं है। उनसे स्वतन्त्र होकर भी वेदमन्त्रों के अर्थ किये जा सकते हैं।

५. वेदों में किन्हीं ऋषियों, राजाओं, देशों, नगरियों, नदियों आदि के इतिहास का वर्णन नहीं है। ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले नामों का यौगिक अर्थ है। अत एव वेदोक्त आर्य-दस्यु-युद्ध से आर्य और द्रविड़ जातियों के मध्य होने वाला कोई ऐतिहासिक संग्राम अभिप्रेत नहीं है।

६. वेदों में पशुबलि, नर-बलि गोहत्या, मांसभक्षण, मदिरापान, व्यभिचार आदि अमानवोचित तथा निन्दनीय कार्यों का समर्थन एवं अश्लील वर्णन नहीं है। जो वेदभाष्य या जो व्यक्ति वेद में इनका समर्थन करते हैं वे भ्रान्त हैं।

७. वेदमन्त्रों के यथायोग्य पारमार्थिक, व्यवहारिक अथवा दोनों प्रकार के अर्थ करते हुए उनमें आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विविध तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है।

दयानन्द का वेदभाष्य

इन आधारभूत सिद्धान्तों को अपने संमुख रखते हुए दयानन्द ने वेदभाष्य का प्रणयन किया है। ऋग्वेद का भाष्य सप्तम मण्डल के ६१ वें सूक्त के २य मन्त्र तक तथा वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता सम्पूर्ण का भाष्य उन्होंने कर दिया है। शुक्ल यजुर्वेद की इस संहिता का भाष्य उवट और महीधर इससे पूर्व क़र चुके थे। किन्तु उनका भाष्य पूर्वप्रचलित कर्मकाण्डिक पद्धति के अनुसार था तथा उसमें दर्शपौर्ण - मास, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध आदि श्रौत यज्ञों की प्रक्रिया का ही प्रतिपादन था। उसमें कहीं-कहीं भ्रष्ट अर्थ भी किये गये थे । दयानन्द ने अपना यजुर्वेदभाष्य पूर्व कर्मकाण्डिक विनियोगों से सर्वथा स्वतन्त्र होकर किया है तथा अनेक स्थानों पर उन्होंने अपने नवीन विनियोग प्रदर्शित किये हैं।

जो वैदिक देव सायण आदि वेदभाष्यों में केवल इस रूप में आदृत थे कि वे चेतन देवता-विशेष हैं, जो यज्ञों में आकर यज्ञिय हवि से प्रसन्न होकर यजमान को धनदौलत, स्त्री, पशु, एवं पुत्र आदि प्रदान करते हैं, वे ही देव दयानन्द के भाष्य में योगार्थ-प्रक्रिया के आधार पर विविध क्षेत्रों में विभिन्न गौरवास्पद अर्थों को देते हुए वेद की गरिमा को प्रकाशित कर रहे हैं। यहां हम कतिपय वैदिक देवों के दयानन्द-कृत अर्थों का उल्लेख तथा मन्त्र-व्याख्या में उनके प्रयोग का दिग्दर्शन करायेंगे।

अग्नि

दयानन्द-भाष्य में 'अग्नि' के प्रमुख अर्थ परमेश्वर, जीवात्मा, विद्वान् मनुष्य, सेनापति, गृहपति, न्यायाधीश, गुरु, पुरोहित, राजा, शिल्पी, वीर पुरुष, योगी, यज्ञाग्नि, यान आदि में प्रयुक्त भौतिक आग या विद्युत्, आग्नेयास्त्र और जाठराग्नि किये गये हैं। ऋ० १.१३.४ में 'अग्नि' से भौतिक अग्नि का ग्रहण करके मन्त्र का यह आशय लिया है कि भौतिक अग्नि का जलादि के साथ भूमियान, जलयान और व्योम-यान में प्रयोग करके उन यानों को सरलता से चलाया जा सकता है।[१] ऋ० ३.२४.१ में 'अग्नि' का अर्थ दुष्टों का दाहक वीर पुरुष लेकर मन्त्र इस रूप में व्याख्यात किया है कि हे वीर, तू शत्रु-सेनाओं को और अभिमानी

दुष्ट-जनों को पराजित कर।[७] ऋ० १.२७.३ में 'अग्नि' का अर्थ श्लेषालंकार से परमेश्वर तथा विद्वान् पुरुष दोनों लेते हुए मन्त्र का यह भाव लिया है कि परमेश्वर और विद्वान् पुरुष दोनों पापेच्छु मनुष्य से हमारी रक्षा करें।[८] ऋ० ३.१०.४ में 'अग्नि' का अर्थ यज्ञाग्नि तथा विद्वान् पुरुष लेते हुए यह व्याख्या की है कि जैसे यज्ञाग्नि सात ऋत्विजों के साथ अहिंसामय यज्ञ में यजमान के कल्याणार्थ आता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष पंच प्राण, मन और बुद्धि इन सात होताओं के साथ-साथ आये।[९] ऋ० ७.१७.३ में 'अग्नि' का अर्थ तीव्रप्रज्ञ विद्यार्थी करते हुए यह आशय प्रकट किया है कि तीव्र-बुद्धि विद्यार्थी विद्वान् अध्यापकों का संग करके पुरुषार्थ से विद्याओं को तथा अहिंसामय कार्यों को करे।[१०] यजु० २७.५ में 'अग्नि' का अर्थ न्यायकारी राजा लेकर मन्त्र का यह भाव बताया है कि इसमें राजा को कहा गया है-कि आप वादी-प्रतिवादी के बीच मध्यस्थ बनकर न्याय कीजिए।[११]

इन्द्र

दयानन्द-भाष्य में 'इन्द्र' के प्रमुख अर्थ परमेश्वर, जीवात्मा, वीर राजा, विद्वान् पुरुष, सेनानी, शूरवीर योद्धा, विद्युत्, यज्ञ, सूर्यलोक, किसान एवं वैद्य किये गये हैं। ऋ० १.११.४ में 'इन्द्र' के दो अर्थ किये गये हैं—सूर्य और सेनापति। सूर्य-पक्ष में मन्त्रार्थ किया है कि वह सूर्य अपरिमित जल को बरसाने वाला, बहुत सी किरणों वाला, पदार्थों को जोड़ने-तोड़ने वाला तथा सब लोकों को अपनी आकर्षण-शक्ति से धारण करने वाला है। सेनापति-पक्ष में अर्थ किया है कि सेनापति अपरिमित बल वाला, छेदक शस्त्रों से युक्त, शत्रु-नगरों का भेदन करने वाला, राजनीतिशास्त्र का ज्ञाता तथा राष्ट्र के कार्यों को अपने पराक्रम से पूर्ण करने वाला है।[१२] ऋ० १.३३.४ में 'इन्द्र' के तीन अर्थ लिये हैं—ईश्वर, सूर्य और शूरवीर योद्धा। मन्त्र का अभिप्राय यह वर्णित किया है कि जैसे परमेश्वर अजातशत्रु है तथा सूर्य भी वृत्र (बादल) का संहार करके शत्रु-रहित हो जाता है, वैसे ही शूरवीर मनुष्यों को चाहिए कि वे दस्युओं का विनाश करके अजातशत्रु बनें।[१३] ऋ० ३.४५.२ में 'इन्द्र' शब्द के विद्युत्-सूर्य-वायु और राजा अर्थ करते हुए विद्युत्, सूर्य एवं वायु के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला है।[१४]

रुद्र

दयानन्द-भाष्य में 'रुद्र' देवता के प्रमुख अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, शत्रु-रोदक सेनापति, स्तोता, विद्वान्, ४४ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्रह्मचारी तथा वैद्य किये गये हैं। ऋ० २.३३.२ में रुद्र का अर्थ वैद्य करते हुए भाष्य इस प्रकार हैं—हे वैद्यराज, आपकी दी हुई ओषधियों से मैं सौ वर्ष की आयु प्राप्त करूँ। आप हमारे अन्दर से राग, द्वेष, उन्माद आदि दोषों को तथा विभिन्न रोगों को दूर कर दीजिए।[१६] ऋ० १.४३.१ में 'रुद्र' का अर्थ परमेश्वर, जीवात्मा तथा वायु लेते हुए उनके गुणों का वर्णन किया गया है।[१७] यजु० ३.५७ में यह उल्लेख मिलता है कि 'अम्बिका' रुद्र की बहिन (स्वसृ) है और चूहा (आखु) रुद्र का पशु है, जो पौराणिक परंपरा से मेल नहीं खाता, क्योंकि वहां अम्बिका रुद्र की पत्नी है और चूहा गणेश का वाहन है, रुद्र का नहीं। दयानन्दभाष्य में यहां 'रुद्र' का अर्थ एक तो स्तोता किया है, जो निघंटु-संमत है,[१८] और दूसरा अर्थ प्राण लिया है। 'अम्बिका' और 'आखु' के योगार्थ को लेकर 'अम्बिका' का अर्थ स्तोतृ- पक्ष में वेदवाणी तथा प्राण-पक्ष में जिह्वा किया है। चूहे- वाची 'आखु' शब्द का अर्थ स्तोतृ-पक्ष में 'खोदने वाला शस्त्र' तथा प्राण-पक्ष में 'खोदा जानेवाला भोज्य पदार्थ' किया है। 'अम्बिका' में शब्दार्थक 'अबि' धातु तथा 'आखु' में आङ् उपसर्ग पूर्वक खोदने-अर्थक 'खनु' धातु है। यजु० १६.३ में महीधर ने रुद्र का अर्थ कैलासवासी शिव किया है, किन्तु दयानन्द-भाष्य में सेनापति अर्थ लेकर सेनापति को प्रेरणा दी गयी है कि जो तूने अपने हाथ में शस्त्र पकड़ा हुआ है, उसे राष्ट्र के लिए मंगलकारी बना, उससे जगत् का व्यर्थ ही संहार मत कर।[१९]

पितरः

वैदिक 'पितरः' से सायण, महीधर आदि मृत पितरों का ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार श्राद्ध-यज्ञ में मृत पितरों का आह्वान कर उन्हें भोजन द्वारा तृप्ति प्रदान की जाती है। परन्तु दयानन्द वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध जीवित मनुष्यों को ही 'पितर' मानते हैं। पितरों के लिए वेद में 'अग्निष्वात्ताः' और 'अनग्निष्वात्ताः'[२०] विशेषण आते हैं। इन शब्दों का अन्य भाष्यकारों ने 'जिनका अग्नि स्वाद ले चुका है और जिनका अग्नि स्वाद नहीं ले सका' यह अर्थ किया है। 'ष्वात्ताः' में उन्होंने स्वादार्थक 'स्वद' धातु मानी है।[२१] परन्तु दयानन्द 'सु-आत्त' ऐसा पदच्छेद करके उक्त शब्दों का यह अर्थ

करते हैं कि जिन्होंने अग्निविद्या को सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया हुआ है अर्थात् जो कर्मकाण्डी हैं, और जिन्होंने अग्नि-भिन्न विद्या को ग्रहण किया है अर्थात् जो ज्ञानकाण्डी हैं।[२२] इस दृष्टिकोण से देखें तो 'पितरः' देवता वाले सब वेदमन्त्र सर्वथा नवीन आशय को ही प्रकट करने लगते हैं। उदाहरणार्थ, दयानन्द-भाष्य में यजु० २.३३ में 'पितरः' का अर्थ रक्षक गुरुजन लेकर मन्त्रार्थ इस प्रकार किया गया है–"हे विद्यादान देकर रक्षा करने वाले विद्वान् गुरुजनो, कमल-माला धारण किये हुए इस कुमार को तुम अपने गर्भ में धारण करो अर्थात् गर्भस्थ शिशु जैसे माता के सान्निध्य में रहता है वैसे ही इस कुमार को तुम अपने निकट संपर्क में रखो, जिससे यह विद्या ग्रहण करके मनुष्य बन जाए।"[२३]

अश्विनौ

'अश्विन्' युगल देव हैं। आख्यान-परंपरा के अनुसार ये देवों के वैद्य हैं। निरुक्त के अनुसार कुछ के मत में ये द्यावापृथिवी हैं, कुछ के मत में सूर्य-चन्द्रमा हैं और कुछ के मत में दिन-रात हैं। वहीं यह भी लिखा है कि ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुसार ये कोई दो पुण्यकर्मा राजा थे।[२४] दयानन्द-भाष्य में 'अश्विनौ' से जल-अग्नि, राजा-अमात्य, राजा-प्रजा, राजा-राजपुरुष, सूर्य-चन्द्र, वायु-विद्युत्, वायु-सूर्य, गुरु-शिष्य, शिल्पी स्त्री-पुरुष, अध्यापक-उपदेशक, वैद्य-शल्यचिकित्सक, द्यावापृथिवी, सभाधीश-सेनाधीश, पति-पत्नी, पशुपालक-कृषक, प्राण-उदान आदि युगलों का ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ, ऋ० १.२२.२ में 'अश्विनौ' का अर्थ 'अग्नि और जल' लेकर मन्त्र का अभिप्राय यह गृहीत किया है कि रथों में अग्नि और जल को प्रयुक्त कर आकाश में वायुयानों को चलाया जा सकता है।[२५] ऋ० १.११८.१ में 'अश्विनौ' का अर्थ 'शिल्पवेत्ता स्त्री-पुरुष' लेते हुए यह मन्त्रार्थ किया है–"हे शिल्पवेत्ता स्त्री-पुरुषो, जो तुम्हारा बनाया हुआ बाज पक्षी के समान उड़ने वाला, अतिशय सुख देने वाला, सवारियों और सामान से भरा हुआ, मन से भी अधिक वेगवान्, नीचे-मध्य-ऊपर तीनों स्थानों पर बन्धनों वाला, वायुवेगी विमानादि यान है, वह हमें प्राप्त हो।[२६] ऋ० १.१२०.३ में 'अश्विनौ' का अर्थ अध्यापक-उपदेशक लेकर मन्त्र का आशय यह प्रकट किया है कि तुम दोनों को हम बुलाते हैं, जिससे तुम हमें ज्ञान का उपदेश करो।[२७]

उषाः

सामान्यतः वेद-वर्णित उषा से प्राकृतिक उषा ही गृहीत की जाती है। परन्तु दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर उषा का अर्थ 'उषा के समान ज्ञानप्रकाश से युक्त नारी' किया है तथा नारी को कैसा होना चाहिए यह उषा के वर्णनों से संदेश ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, ऋ० १.११३.१४ की यह व्याख्या की है–"जैसे उषा दिशाओं में व्याप्त होती है, वैसे ही कन्याएं विद्याओं में व्याप्त होवें। जैसे उषा अपनी कान्तियों से सुशोभित होकर सुरम्य रूप के साथ भासित होती है, वैसे ही नारियां अपने शील आदि से तथा सुन्दर रूप से सुशोभित हों। जैसे उषा अन्धकार का निवारण कर प्रकाश को उत्पन्न करती है, वैसे ही नारियां मूर्खता का निवारण कर सभ्यता आदि का प्रसार करें।[२८] ऋ० १.११३.१२ में भी उषा का अर्थ उषा के तुल्य स्त्री लेकर मन्त्रार्थ प्रदर्शित किया है–'हे उषा-तुल्य स्त्री, तू द्वेष-भावों को दूर करने वाली, सत्य का पालन करने वाली, सत्य से नवजीवन पानेवाली, प्रशस्त सुखों को भोगने वाली, मधुर सत्य वाणियों को बोलनेवाली, मंगलमयी, विद्वानों की विशिष्ट नीति को ग्रहण करने वाली तथा श्रेष्ठतम होती हुई संसार का दुःख दूर कर।''[२९]

अदिति

आख्यान-परम्परा में 'अदिति' देवों की माता है, इसीलिए देवता आदित्य अर्थात् अदिति के पुत्र कहलाते हैं। निघण्टु कोष में 'अदिति' शब्द पृथिवी, वाणी और गाय के वाची शब्दों में पठित है।[३०] वेदभाष्यकारों ने प्रायः देवमाता के रूप में ही अदिति को लिया है। परन्तु दयानन्द-भाष्य में 'अदिति' के पृथिवी, अविनाशी आत्मा, अविनाशिनी प्रकृति, अखंडित नीति, विद्या, क्रिया, विदुषी स्त्री, राज-रानी, अविनाशिनी जगदम्बा, माता, राज - सभा, अवध्य गाय आदि अर्थ किये गये हैं। यथा, ऋ० १.४३.२ में 'अदिति' का अर्थ माता और राजसभा लेकर मन्त्र का यह भाव लिया है–जैसे माता के बिना सन्तान को और राजसभा के बिना प्रजा को सुख नहीं मिलता है, वैसे ही लोगों को विद्या और पुरुषार्थ के बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता।[३१]

मरुतः

वैदिक मरुत् देवों को सायण आदि भाष्यकारों ने पवनों के अधिष्ठाता देव-विशेषों के रूप में गृहीत किया था। निघण्टु कोष में ये

ऋत्विज्, हिरण्य तथा रूप के वाची पठित हैं।[३२] दयानन्द-भाष्य में इन्हें वायु और प्राण के अतिरिक्त मरणधर्मा मनुष्यों के रूप में भी गृहीत किया गया है। वहां मरुतों को विशेषतः पुरुषार्थी, शिल्पी, धार्मिक, शूरवीर या योगाभ्यासी मनुष्य माना है। कई स्थलों पर मरुतों का अर्थ विद्वद्गण, राज-पुरुष, राजा-प्रजा-जन, ऋत्विज् और अतिथिगण भी लिया है। उदाहरणार्थ, ऋ० १.३७.१२ में मरुतों को वायुसदृश राजपुरुष मानकर मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है– 'हे सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष आदि राजपुरुषो, जैसे पवन मेघों को इतस्ततः प्रेरित करते हैं, वैसे ही तुम लोग प्रजाजनों को अपने-अपने कर्तव्य-कर्म में प्रेरित करो।[३३] ऋ० १.३८.११ में मरुतों का अर्थ योगाभ्यासी जन लेते हुए मन्त्र का आशय यह लिया है कि–हे योगाभ्यासी जनो, तुम लोग बल आदि की सिद्धि के लिए उन प्राणों से महान् उपकार ग्रहण करो, जो नाड़ियों में पहुंचकर रुधिर, रस आदि को शरीर के अवयवों में पहुंचाते हैं।[३४] असल में मरुतों के वैदिक वर्णनों में उनका मनुष्य होना इतना स्पष्ट है कि उन्हें केवलमात्र वायु या वायु के अधिष्ठाता देव मानने से हम उस वैदिक रहस्य से वंचित ही रह जाते हैं, जिसके अनुसार वेद के मरुत् एक साथ दो अर्थों को देते हैं–एक पवन और दूसरे मनुष्य, और अन्ततः इन दोनों की उपमानोपमेयभाव में परिणति होकर 'पवन के तुल्य क्रियाशील, पराक्रमी, परोपकारी मनुष्य' यह अर्थ निकल आता है।

यहां केवल दिग्दर्शन के लिए कतिपय वैदिक देवों के दयानन्द-कृत अर्थों को तथा तदनुसारी मन्त्रार्थों को प्रदर्शित किया गया है, जिससे यह आभास हो सके कि वेदार्थ करने में दयानन्द ने कैसी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। दयानन्द-कृत अर्थों से सचमुच वेद एक गौरवास्पद स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये हैं और एक संकुचित क्षेत्र से निकल कर एक व्यापक धरातल पर पहुंच गए हैं। दयानन्द ने वैदिक देवों के जो अर्थ लिये हैं वे कोरे काल्पनिक नहीं हैं, अपितु स्वयं वेद से तथा निरुक्त एवं ब्राह्मणग्रन्थों के संकेतों से उनकी पुष्टि हो जाती है। दयानन्द के वेदभाष्य में जो सूत्र बिखरे हुए हैं उन्हें पकड़ कर ही आज का अनुसन्धान-कर्ता वैदिक अनुसन्धान की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

पाद - टिप्पणियां

१. यथा, ऋ० १.१६४.२१, ३६,३७, ३९,(निरु०३.१२; १४.२१; १४.२२; १३.१०)। ऋ० ४.४०.५ (निरु० १४.२९)। ऋ० १०.५.६ (निरु० ६.२७)। ऋ० १०.५५.५ (निरु०१४.१८)। यजु० ३४.५५ (निरु०१२.३५)। अथर्व०१०.८.९ (निरु०१२.३६)।

२. यथा, ऋ० १०.८५.३,५ (निरु०११.३,४)।
३. यथा, ऋ० १.५०.४; १.८६.१०; ६.४७.१८; १०.८१.१; १०.११४.३,४; १०.१७७.१–३; अथर्व० १०.४.२१।
४. तै० सं० १.८.१५.२।
५. विभिन्न वेदार्थ-पद्धतियों तथा उन पर दयानन्द की देन के विषय में द्रष्टव्यः लेखक की पुस्तक ''वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाएं'' वि० वि० संस्कृत-भारती-शोध-संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर, १९८०।
६. अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आवह । असि होता मनुर्हितः।।
७. अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसे ।।
८. स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः। पाहि सदमिद् विश्वायुः ।।
९. स केतुरध्वराणामग्निर्देवेभिरागमत्। अञ्जानः सप्तहोतृभिर्हविष्मते।।
१०. अग्ने वीहि हविषा यक्षि देवान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः ।।
११. क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व सजातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह।।
१२. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत। इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ।।
१३. वधीर्हि दस्युं धनिनं धनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र। धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः।।
१४. वृत्रखादो बलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः। स्थाता रथस्य हर्योर-भिस्वर इन्द्रो दृढा चिदारुजः।। जैसे बिजली, सूर्य और पवन मेघों के अवयवों को काटते हैं, वैसे ही धार्मिक राजा आदि लोग शत्रुओं को काटें– दयानन्दभाष्य, भावार्थ ।
१५. त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः। व्यस्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः।।
१६. कद् रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे। वोचेम शन्तमं हृदे।।
१७. एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा। एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः।।
१८. द्रष्टव्यः निघं० ३.१६.।
१९. यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्।।
२०. ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। यजु० १९.६०

२१. ये पितरः अग्निष्वात्ता अग्निना आस्वादिताः, ये च अनग्निष्वात्ताः श्मशानकर्माप्राप्ताः–उवट। ये पितरः अग्निष्वात्ताः अग्निना दग्धाः विधिवदौर्ध्वदेहिकं प्राप्ताः। ये चानग्निष्वात्ता न अग्निना स्वादिता अदग्धाः श्मशानकर्म न प्राप्ताः–महीधर।

२२. ये अग्निष्वात्ताः सम्यग्गृहीताग्निविद्याः, ये अनग्निष्वात्ताः अविद्यमानाग्निविद्याग्रहणा ज्ञाननिष्ठाः।

२३. आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषो ऽसत्।।

२४. द्रष्यव्यः निरु० १२.१ ।

२५. या सुरक्षा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा। अश्विना ता हवामहे।।

२६. आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्। यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान् त्रिबन्धुरो वृषणा वातंरहाः।।

२७. ता विदांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य। प्रार्चद् दयमानो युवाकुः।।

२८. व्यञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः। प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन।।

२९. यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती। सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ।।

३०. निघं० १.१; १.१२; २.११ ।

३१. यथा नो अदितिः करत् पश्वे नृम्यो यथा गवे। यथा तोकाय रुद्रियम्।।

३२. निघं० ३.१८; १.२; ३.१० ।

३३. मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन। गिरीरँचुच्यवीतन।।

३४. मरुतो वीडुषाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु। यातेमखिद्रयामभिः।।

स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के अधूरे भाष्य के अतिरिक्त वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता सम्पूर्ण का भी भाष्य किया है। उससे पूर्व उवट तथा महीधर इस पर भाष्य लिख चुके थे। उवट तथा महीधर का भाष्य प्रमुखतः कात्यायन-श्रौतसूत्र में विनियोजित कर्मकाण्ड का अनुसरण करता है। कर्मकाण्डानुसार प्रसिद्ध यज्ञों में से प्रथम-द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमास, चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोम, नवम-दशम अध्याय में वाजपेय और राजसूय, २२ से २५ अध्याय तक अश्वमेध, ३०-३१ अध्यायों में पुरुषमेध, ३२वें अध्याय में सर्वमेध और ३५वें में पितृमेध वर्णित हुआ है। स्वामी दयानन्द का भाष्य इन विनियोगों से स्वतन्त्र है, अथवा यह कहना चाहिए कि उन्होंने मंत्रों के अपने ही विनियोग किये हैं, जो अनेक स्थानों पर प्रत्येक मंत्र के प्रारम्भ में दी हुई भूमिका से सूचित होते हैं।

स्वामी दयानन्द के मत में पूर्वकृत विनियोग कोई ऐसी अटल रेखा नहीं है कि उसका अनुसरण करना अनिवार्य हो। प्राचीन आचार्यों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार मंत्रों के विनियोग किये हैं। कोई अन्य आचार्य इतर किसी विधि में भी उन्हें विनियुक्त कर सकता है। प्राचीनों में सभी आचार्यों ने एक मंत्र का विनियोग एक ही प्रकार से किया हो ऐसी बात भी नहीं है। एक ने किसी एक विधि में विनियोग किया है, तो दूसरे ने दूसरी विधि में। ऐसा भी नहीं है कि एक आचार्य ने भी एक मंत्र का एक ही विनियोग किया हो, एक मंत्र को अनेकत्र भी विनियुक्त किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि मंत्र का पूर्वकृत विनियोगों के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। दुर्भाग्य से विनियोग को नित्य समझ लेने के कारण मंत्रार्थ संकुचित हो कर रह गये हैं। उदाहरणार्थ यदि कहीं द्विवचनान्त प्रयोग देखकर ऊखल-मूसल को लाने में मंत्र का विनियोग कर दिया गया, तो वह मंत्र उसी विधि के प्रतिपादन तक सीमित मान

लिया गया। मन-बुद्धि, आत्मा-परमात्मा, स्त्री-पुरुष, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक आदि परक जो अर्थ लिये जा सकते थे, उन पर रोक लग गयी। यदि कोई मंत्र आसन्दी (कुर्सी) के लिये विनियुक्त हो गया तो उससे वाणी, नारी, राजसभा, आचार्य-पत्नी आदि के जो गुण या कर्तव्य सूचित हो सकते थे वे नहीं लिये जा सकते। किन्तु विनियोग को नित्य न मानने पर उन सब अर्थों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्व विनियोगों के सम्बन्ध में स्वामी जी की यह सम्मति है कि जो युक्तिसिद्ध एवं वेदादि के प्रमाण के अनुकूल हो तथा जो मंत्रार्थ का अनुसारी हो वह विनियोग ग्राह्य हो सकता है।[१] परन्तु साथ ही उनका यह भी कहना है कि वेद केवल कर्मकाण्डपरक नहीं हैं, ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा विज्ञानकाण्ड परक अर्थ भी किये जाने चाहिएं।[२] पूर्वकृत विनियोगों से बंध न जाने के कारण तथा प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं तत्कृत ऐतरेय, शतपथ, निरुक्त आदि का अनुसरण करते हुए स्वतंत्र बुद्धि से भाष्य करने के कारण स्वामी दयानन्द का भाष्य चहुंमुखी बन गया है, और उसमें कुछ विशेष प्रकार के विधि-विधान के निर्देशमात्र न रहकर अनेकविध अर्थ स्पष्ट हो सके हैं। संक्षेप में कहें तो उनका भाष्य निम्न विशेषताओं को लिए हुए है।

१. स्वामी जी के भाष्य में मंत्रों में ईश्वर के स्वरूप, गुण-कर्म-स्वभाव आदि का, तथा उसकी स्तुति-प्रार्थना-उपासना का विशद तथा विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

२. उन के भाष्य से वेद में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि वेदवर्णित अनेक देवताओं से अनेक देवों की पूजा की भ्रान्ति नहीं होती। इतर भाष्यों में जहां अग्नि, वायु, सूर्य आदि से परमेश्वर-भिन्न उन-उनके अभिमानी देवों का ग्रहण किया जाता था, वहां स्वामी जी के भाष्य में उन्हें एक परमेश्वर का गुणवाची नाम माना गया है।

३. वेदमंत्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि अर्थों की प्रक्रिया ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद,निरुक्त आदि से सम्मत थी, तथापि भाष्यकारों ने अधिकतर आधिदैविक या कर्मकाण्डपरक ही अर्थ किये थे। स्वामी जी ने पारमार्थिक एवं व्यावहारिक अर्थो के नाम से कई प्रकार के अर्थ अपने भाष्य में दर्शाये हैं। किसी मंत्र का पारमार्थिक अर्थ दिया है, किसी का व्यावहारिक। साथ ही अनेक स्थानों पर एक मंत्र के दो-दो या तीन-तीन अर्थ भी प्रदर्शित किये हैं। वे श्लेषालंकार का आश्रय लेकर मंत्रों के एक से अधिक अर्थ प्रायः प्रदर्शित कर देते हैं।

४. स्वामी जी ने वैदिक देवों के स्वरूप पर भी व्यापक विचार किया है। उनके मत में अग्नि से ईश्वर, पार्थिव अग्नि, विद्युत्, जाठराग्नि, अग्रणी राजा, सेनापति आदि विविध अर्थ गृहीत होते हैं। उषा केवल प्राकृतिक उषा नहीं है, किन्तु वह तेजस्विनी नारी का वाचक भी है। अश्विनौ के द्यावापृथिवी, सूर्य-चन्द्रमा, अध्यापक-उपदेशक, यजमान-ऋत्विज्, सभेश-सेनेश, सुशिक्षित स्त्री-पुरुष, प्राणापान आदि अर्थ करते हैं। 'आपः' उनके मत में केवल प्राकृतिक जल नहीं है, किन्तु गुणवती कन्याएं, माताएं, विदुषियां, आप्त प्रजाएं, प्राण आदि भी 'आपः' से वाच्य हैं। आदित्य केवल सूर्य नहीं है, किन्तु अविनाशी परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, ब्रह्मचारी आदि भी आदित्य कहाते हैं। इन्द्र के अर्थ भी परमेश्वर, जीवात्मा, सूर्य, विद्युत्, राजा, सेनापति आदि अनेक होते हैं। रुद्र कैलास पर्वत पर रहने वाला कोई देवता नहीं, किन्तु पापियों के रोदक तथा सज्जनों के दुःखद्रावक परमेश्वर, जीवात्मा, सेनापति, वैद्य एवं प्राण रुद्र हैं। इसी प्रकार वेदोक्त अन्य देवों के अर्थ उनके भाष्य में देखे जा सकते हैं।

५. स्वामी जी के भाष्यानुसार वेदमंत्र केवल सीमित कर्मकाण्ड के ज्ञापक नहीं हैं, किन्तु ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा-प्रजा, राजपुरुष, गुरु, शिष्य, पति-पत्नी, चिकित्सक, शिल्पी, न्यायाधीश आदि सभी के धर्मों और कर्तव्यों का उपदेश उनमें पाया जाता है।

६. उनके भाष्य से वेदमंत्रों में अध्यात्मविद्या, योगविद्या, भूगोल-विद्या, खगोलविद्या, शिल्पविद्या, धनुर्विद्या गांधर्वविद्या, वाणिज्यविद्या, अध्ययन-अध्यापनविद्या, पशुपालनविद्या, कृषिविद्या, नौविमानादिविद्या, धर्म, ज्योतिष, राजनीति, चिकित्साशास्त्र आदि विविध ज्ञान-विज्ञान की बातें दृष्टिगोचर होती हैं।

७. स्वामी जी वेदों को सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर द्वारा प्रेरित मानते हैं। अतएव उनमें बाद में हुए ऋषिओं, राजाओं आदि का इतिहास नहीं मानते । जो ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले ऋषि, राजा, नगरी आदि के नाम वेद में आते हैं, उन्हें वे यौगिक या योगरूढ मानकर उनके इतर अर्थ करते हैं। जैसे, यजुर्वेद ३.६२ में जमदग्नि और कश्यप नाम आये हैं, जिनका अर्थ वे सप्रमाण क्रमशः चक्षु तथा ईश्वर करते हैं, जबकि महीधर ने उन्हें ऐतिहासिक मुनि माना है।

८. स्वामी जी के अनुसार पशुबलि, नरबलि, मांसभक्षण आदि अमानवोचित तथा अश्लील बातें वेदों में नहीं हैं। अतएव भाष्यकारों के उन अर्थों का उन्होंने युक्ति तथा प्रमाण पुरस्सर खंडन किया है, जिनसे वेद में उपर्युक्त प्रकार की बातें सिद्ध होती हैं और उन मंत्रों के पवित्र सत्यार्थ का अपने भाष्य में प्रकाश किया है।

अब हम यजुर्वेद के कतिपय प्रसंगों को लेकर कर्मकाण्डपरक भाष्यों से स्वामी जी के भाष्य की तुलना करते हैं, जिससे स्वामी जी के भाष्य का गौरव हृदयंगम किया जा सके।

दर्शपूर्णमास

कर्मकाण्ड के अनुसार यजुर्वेद के प्रथम अध्याय से लेकर द्वितीय अध्याय के २८वें मंत्र तक दर्शपूर्णमास यज्ञ है। प्रथम अध्याय का प्रथम मंत्र '**इषे त्वोर्जे त्वा**' आदि है। कर्मकाण्ड में '**इषे त्वा**' बोलकर अध्वर्यु पलाश की शाखा को काटता है। महीधर अर्थ करते हैं–हे शाखे (इषे) वृष्टि के लिए (त्वा) तुझे काटता हूं। 'उर्जे त्वा' बोलकर उस शाखा का संनमन करता है अर्थात् उसे सीधा करके धूल आदि झाड़कर साफ करता है। अर्थ किया है–हे शाखे, (ऊर्जे) बल तथा प्राणदायक वृष्टिरस के लिये (त्वा) तुझे सीधा करके साफ करता हूं। मूल मंत्र में न पलाशशाखा का कोई उल्लेख है, न ही उसे काटने और सीधा करने या धूल झाड़ने का। यह विनियोगकार की अपनी कल्पना है। अतः इन विधियों का मूल मंत्र के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् ऐसी बात नहीं है कि इन्हीं विधियों को ध्यान में रखकर मंत्र की रचना हुई हो। अतः मंत्र का इन विधियों से 'स्वतंत्र' होकर भी अर्थ किया जा सकता है। स्वामी दयानन्द शाखा के स्थान पर परमेश्वर का ग्रहण करते हैं–हे परमेश्वर (इषे) अन्न आदि उत्तम पदार्थों और विज्ञान की प्राप्ति के लिए (त्वा) तुझ विज्ञान-स्वरूप का हम आश्रय लेते हैं, (ऊर्जे) पराक्रम और उत्तम रस की प्राप्ति के लिए (त्वा) अनन्त पराक्रमी तथा रस-घनरूप तेरा आश्रय लेते हैं।[३] इसी प्रकरण में छठा मंत्र इस प्रकार है–

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति
कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति।
कर्मणे वां वेषाय वाम् ।।यजु० १.६

कर्मकाण्डपरक व्याख्या में अध्वर्यु पात्र में जल भर उसे आहवनीयाग्नि के उत्तर में रखता हुआ कहता है– 'हे पात्र, (कः त्वा युनक्ति) कौन तुझे प्रयुक्त करता अर्थात् आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में स्थापित करता है ? फिर स्वयं उत्तर देता है, (स त्वा युनक्ति) वह प्रसिद्ध प्रजापति ही तुझे प्रयुक्त करता है। फिर प्रश्न करता है, (कस्मै त्वा युनक्ति) किस प्रयोजन के लिये तुझे प्रयुक्त करता है ? उत्तर देता है, (तस्मै त्वा युनक्ति) उस प्रजापति की प्रीति के लिए तुझे प्रयुक्त करता है। तदनन्तर शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को ग्रहण करके कहता है–(कर्मणे वाम्) यज्ञकर्म के लिये तुम दोनों को मैं ग्रहण करता हूं, (वेषाय वाम्) अपने-अपने कर्मों में व्याप्त होने के लिये मैं तुम दोनों को ग्रहण करता हूं।

यहां भी मूल मंत्र में न पात्र का नाम है, न शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी का। अतः केवल इन्हीं विधियों के लिये मंत्र की रचना हुई है, यह नहीं कहा जा सकता। स्वामी जी इन विनियोगों से स्वतंत्र होकर यह अभिप्राय लेते हैं कि इस मंत्र में मनुष्य को ही उद्बोधन दिया गया है। मनुष्य से प्रश्न करते हैं कि हे मनुष्य, कौन तुझे अच्छी-अच्छी क्रियाओं को करने की आज्ञा देता है? उत्तर दिया है कि वह जगदीश्वर ही आज्ञा देता है। फिर प्रश्न किया है कि किस प्रयोजन के लिये? उत्तर दिया है, सत्यव्रताचरण रूप यज्ञादि के लिये। 'वाम्' इस द्विवचन से वे शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी न लेकर कर्म करने वाला और कर्म कराने वाला एवं अध्येता और अध्यापक का ग्रहण करते हैं। हे कर्म करने और कराने वालो, तुम्हें जगदीश्वर ने श्रेष्ठ कर्मों के लिए ही नियुक्त किया है। हे छात्रो और अध्यापको, तुम्हें जगदीश्वर ने सव शुभ गुणों एवं विद्याओं में व्याप्ति के लिये नियुक्त किया है।

कर्मकाण्ड में अगले मंत्र से शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को तपाया जाता है–**प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः**, मंत्र ७। अर्थ करते हैं कि इन्हें तपाने से इनमें चिपटे हुए जो राक्षस थे वे दग्ध हुए, हविर्दान के बाधक जो शत्रु थे वे दग्ध हुए। परन्तु स्वामी दयानन्द इस मंत्र से यह अभिप्राय लेते हैं–''**इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्त्वाऽन्येषामपि विद्याधर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च सम्पाद्य विद्याधर्मपुरुषार्थान्विताः सुखिनः सर्वे प्राणिनः सदा सम्पादनीयाः**। अर्थात् ईश्वर आज्ञा देते हैं कि सब

मनुष्यों को अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर, विद्या और धर्म के उपदेश से औरों को भी दुष्टता आदि अधर्म के व्यवहारों से अलग करना चाहिए, तथा उनको बहुत प्रकार का ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्य आदि प्राणियों को विद्या, धर्म पुरुषार्थ और नाना प्रकार के सुखों से युक्त करना चाहिए। पाठक देखें कि स्वामी जी का आशय कितना विशाल हो गया है।

११ वां मंत्र **'भूताय त्वा नारातये'** आदि है। कर्मकाण्ड में यज्ञिय शकट में बचे हुए धान को इस मंत्र से स्पर्श करते हुए कहते हैं– 'हे धान, ब्राह्मण आदियों को भोजन कराने के लिए तुम्हें बचाया है, अदान के लिए नहीं'। विधि की भावना तो बहुत सुन्दर है, किन्तु स्वामी जी का अर्थ इससे भी विशाल है। उन्होंने इस मंत्र के तीन अर्थ दिये हैं, एक यज्ञपरक, दूसरा परमेश्वरपरक, तीसरा भौतिक अग्निपरक। भाव यह लिया है कि हम यज्ञ, परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि को सब प्राणियों के सुख के लिए, दान आदि धर्म करने के लिये तथा दारिद्र्य आदि दोषों के नाश के लिये ग्रहण करें तथा भौतिक अग्नि से शिल्पविद्या की भी सिद्धि करें।

२३वां मंत्र **'मा भेर्मा संविक्था:'** आदि है। कर्मकाण्डानुसार पुरोडाश (चावल की पूड़ी) को स्पर्श करके कहते हैं कि – हे पुरोडाश, तू भयभीत मत होना, चंचल मत होना। परन्तु स्वामी जी इसका निम्न अभिप्राय लेते हैं–**''ईश्वरः प्रतिमनुष्यम् आज्ञापयति आशीश्च ददाति नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यं, विचलितव्यं वा।''** अर्थात् ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना व चलायमान होना कभी न चाहिए। इसी प्रकार इस प्रकरण में अन्यत्र भी स्वामी जी के भाष्य की व्यापकता को देखा जा सकता है।

अग्नीषोमीय पशुप्रयोग

कर्मकाण्डपरक व्याख्या में षष्ठ अध्याय के मंत्र ७ से २२ तक अग्नीषोमीय पशु का प्रयोग आता है। इसमें छाग (बकरे) को देवताओं के लिए काटा जाता है। प्रथम अध्वर्यु तृण लेकर उसे पशु के मुख के आगे करके पशु को अभीष्ट स्थान पर ले जाता है। फिर उस पशु को

सम्बोधित कर कहता है कि तेरी हवि देवताओं को स्वादिष्ठ लगे (मंत्र ७)। फिर तीन लड़वाली कुशा की रस्सी पशु के सींग में बांधकर वधकर्त्ता के हाथ में पकड़ा देता है (मंत्र ८)। फिर पशु यूप (यज्ञ-स्तम्भ) में बांधा जाता है, उस पर जल छिड़कते हैं (मंत्र ९)। उसके मुख में पानी की बूंदें डालते हैं। ललाट, कंधों तथा श्रोणियों पर घृत लगाते हैं (मंत्र १०)। तदनन्तर अध्वर्यु छुरे को घृत से लिप्तकर उससे पशु के ललाट को स्पर्श करता है तथा पशु काटा जाता है (मंत्र ११)। फिर यजमानपत्नी कलश के जल से मृत पशु के मुख, नासिका, चक्षु, श्रोत्र आदि अंगों को जल छिड़ककर शुद्ध करती है (मंत्र १४)। पश्चात् यजमान और अध्वर्यु दोनों कलश में बचे हुए जल से पशु के सिर, मुख आदि अंगों को मंत्रोच्चारण करते हुए धोते हैं। फिर सब अंगों पर जल छिड़कते हुए कहते हैं कि–'जो पकड़ना, बांधना, काटना आदि क्रूर व्यवहार हमने पशु के साथ किया है, वह शान्त हो'। फिर पशु की नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बांध, बद्ध स्थान में घी लगाकर छुरे से उदर की त्वचा भेदन करते हैं (मंत्र १५)।

तब नाभि के अग्रभाग में जो तृण बंधा है, अध्वर्यु बांए हाथ से उसका अग्रभाग तथा दाहिने हाथ से मूल भाग पकड़ कर उसे दुहरा करके नाभि के रक्त में भिगोता है। फिर कुछ चर्बी लेकर उसमें घृत मिलाकर कुछ बूंदें आहवनीय अग्नि में डालता है (मंत्र १६)। पत्नी-सहित यजमान और ऋत्विज् सब एकत्र होकर जल द्वारा मार्जन करते हैं, और जलों से प्रार्थना करते हैं कि पशुवधरूपी जो पाप हमने किया है उसे दूर करो (मंत्र १७)। तत्पश्चात् पशु के हृदय को छुरे से काट कर धारापात करता हुआ कहता है कि तेरा मन देवताओं के मन से मिले। फिर मांसपाकपात्र में चर्बी लेकर छुरे से उसे मिलाता है (मंत्र १८)। उस चर्बी में से कुछ अग्नि में होम करता है (मंत्र १९)। तदनन्तर मृत पशु के सब अंगों को यथायोग्य स्थित करके उन्हें स्पर्श कर कहता है कि इस पशु के अंग-अंग में प्राण निहित किया, और पशु को कहता है कि तुम जीवित होकर देवताओं के समीप जाओ (मंत्र २०)। फिर प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज् पहले से ही पृथक् रखे हुए पशु के पिछले हिस्से को ग्यारह अंशों में बांट कर **''समुद्रं गच्छ स्वाहा।''** आदि ग्यारह मंत्रांशों से आहुति देते है (मंत्र २१)। फिर काटे हुए पशु का हृदय-मांस जिस शलाका पर पकाया था उस शलाका को शुष्क और आर्द्र भूप्रदेश की सन्धि में गाड़ देता है। अन्त में सब ऋत्विज् और यजमान वरुण से प्रार्थना करते हैं कि आप हमें भय से मुक्त करें! (मंत्र २२)।

इस कर्मकाण्ड पर पाठक अपनी प्रतिक्रिया स्वयं देखें। हम तुलना के लिये इस प्रसंग के दो चार मंत्रों के महीधर-कृत तथा स्वामीदयानन्द-कृत भाष्य का आशय उपस्थित करते हैं।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।। यजु०६.९

इस पर महीधर का आशय यह है। 'देवस्य त्वा' से आरम्भ कर 'नियुनज्मि' पर्यन्त मंत्र से पशु (बकरे) को यज्ञ-स्तम्भ में बांधे। अर्थ किया है–हे पशु (सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देव की आज्ञा से (अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्) आश्विनीकुमारों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से अर्थात् अपनी भुजाओं और हाथों में इन देवों की भुजाओं तथा हाथों की भावना करके (अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं) अग्नि-सोम देवताओं के प्रीतिपात्र (त्वा) तुझको (नियुनज्मि) मैं बांधता हूं। 'अद्भ्यस्त्वा' आदि से उस पशु पर जल छिड़के। अर्थ है–हे पशु (अग्नीषोमाभ्याम् जुष्टं त्वा) अग्नि और सोम देवता के प्रीतिपात्र तुझे (अद्भ्यः ओषधीभ्यः) जलों और ओषधियों से (प्रोक्षामि) सिक्त करके पवित्र करता हूं। इस प्रकार जलसेचन द्वारा पवित्र हुए (त्वा) तुझे (माता अनुमन्यताम्) माता भूमि इस कार्य के लिए अनुमति दे, (सयूथ्यः सखा अनुमन्यताम्) तेरे साथ एक ही झुण्ड में रहने वाला तेरा साथी अनुमति दे।

स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मंत्र उस अवसर का है जब बालक के माता-पिता विद्याध्ययनार्थ उसे गुरुकुल में प्रविष्ट कराने लाये हैं। आचार्य अपने इस नवागत शिष्य को सम्बोधित करके कहता है– हे शिष्य! मैं समस्त एश्वर्ययुक्त, वेदविद्या प्रकाश करने वाले परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए इस जगत् में सूर्य और चन्द्रमा के गुणों से वा पृथिवी के हाथों के समान धारण और आकर्षण गुणों से तुझे स्वीकार करता हूं, तथा अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों से प्रीति करते हुए तुझको जो ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल जल और ओषधि हैं उन जल और गोधूम आदि अन्नादि पदार्थों से नियुक्त करता हूं। तुझे मेरे समीप रहने के लिए तेरी जननी अनुमोदित करे, पिता अनुमोदित

करे, सहोदर भाई अनुमोदित करे, मित्र अनुमोदित करे, और तेरे सहवासी अनुमोदित करें। अग्नि और सोम के तेज और शांति गुणों में प्रीति करते हुए तुझको उन्हीं गुणों से ब्रह्मचर्य के नियम-पालन के लिये अभिषिक्त करता हूं।''

यह पाठक स्वयं निर्णय करें कि बकरे के यज्ञ में वलि होने का उसके माता, पिता, भाई तथा मित्र अनुमोदन करें इस अर्थ में चमत्कार है, या विद्याध्ययनार्थ बालक के गुरुकुलवास का उसके माता, पिता, भ्राता और साथी अनुमोदन करें यह अर्थ चमत्कार-जनक है।

इसी प्रकरण के १२वें मंत्र में कहा है—**माहिर्भूः मा पृदाकुः**।अर्थ है ''तू सांप मत बन, अजगर मत बन।'' कर्मकाण्ड के विनियो-गानुसार पशु बांधने की रस्सी को दुहरा करके भूमि पर रखते हुए कहते हैं कि हे रस्सी तू सर्पाकार या अजगराकार मत होना, नहीं तो तुझे सर्प या अजगर समझकर हमें भय लगेगा। पर स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मंत्र रस्सी को नहीं , किन्तु शिष्य को कहा गया है कि—हे शिष्य, तू सर्पादि के समान कुटिलाचरण वाला मत होना। इस मंत्र का भावार्थ दर्शाते हुए वे लिखते हैं— ''**केनापि मनुष्येण धर्ममार्गे कुटिलमार्गगामिसर्पादिवत् कुटिलाचरणेन न भवि-तव्यं, किन्तु सर्वदा सरलभावेनैव भवितव्यम्**।'' अर्थात् किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्ममार्ग में कुटिल न होना चाहिए, किन्तु सर्वदा। सरल भाव से ही रहना चाहिए।

इस प्रसंग में १४वां तथा १५वां मंत्र भी द्रष्टव्य हैं—

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।। यजु० ६.१४

कर्मकाण्ड के अनुसार यजमानपत्नी मृत पशु के समीप बैठ कर इन मंत्रांशों से उसके मुख, प्राण आदि अंगों का जल से स्पर्श करती हुई शोधन करती है— 'हे पशु, मैं तेरे मुख का शोधन करती हूं,

नासिका-छिद्रों का शोधन करती हूं, तेरी आंखों का शोधन करती हूं, तेरे कानों का शोधन करती हूं, तेरी नाभि का शोधन करती हूं, तेरे लिंग का शोधन करती हूं, तेरी गुदा का शोधन करती हूं तथा तेरे चरित्रों अर्थात् पैरों का शोधन करती हूं।'' पाठक विचार करें, यह कैसा अंगशोधन हुआ। पहले पशु का वध किया, फिर मृत पशु के अंगों का शोधन किया जा रहा है। पशु के ही अंगों का शोधन करना था, तो जीवित के अंगों का किया जाना चाहिए था।

स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मंत्र आचार्य द्वारा शिष्य को कहा गया है। वे लिखते हैं– **''अथ कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया स्वस्वान्तेवासिनः सद्गुणेषु प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते''**, अर्थात् इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि गुरुपत्नियों और गुरुजनों को यथायोग्य शिक्षा से अपने-अपने विद्यार्थियों को सद्गुणों में कैसे प्रकाशित करना चाहिए। मंत्रार्थ किया है– 'हे शिष्य, मैं विविध शिक्षाओं से तेरी वाणी को शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूं। तेरे नेत्र को शुद्ध करता हूं। तेरी नाभि को पवित्र करता हूं। तेरे लिङ्ग को पवित्र करता हूं। गुदेन्द्रिय को पवित्र करता हूं। समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूं। तथा गुरुपत्नी-पक्ष में सर्वत्र 'करती हूं' यह योजना करनी चाहिये''। पुनः भावार्थ में लिखते हैं– **''गुरुभिर्गुरुपत्नीभिश्च वेदोपवेदवेदाङ्गोपाङ्गशिक्षया देहेन्द्रियान्तःकरणात्ममनःशुद्धिशरीरपुष्टिप्राणसंतुष्टीः प्रदाय सर्वे कुमाराः सर्वाः कन्याश्च सद्गुणेषु प्रवर्तयितव्या इति।''** अर्थात् गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें। अगला मंत्र इस प्रकार है–

> **मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां, तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः।।** यजु० ६.१५

महीधर की कर्मकाण्डी व्याख्यानुसार इस मंत्र में पांच विधियां वर्णित हैं–

(१) प्रथम अध्वर्यु तथा यजमान पात्रेजन-पात्र में बचे हुए पानी से मृत पशु के सिर आदि अंगों को धोते हुए कहें–हे पशु (ते मनः आप्यायताम्) तेरा मन अर्थात् सिर शान्त हो, (ते वाक् आप्यायताम्) तेरा मुख शान्त हो, (ते प्राणः आप्यायताम्) तेरी नासिना शान्त हो, (ते चक्षुः आप्यायताम्) तेरी आंखें शान्त हों, (ते श्रोत्रम् आप्यायताम्) तेरे कान शान्त हों।

(२) फिर एक साथ अवशिष्ट सब अंगों पर जलसिंचन करे– हे पशु, (यत् ते क्रूरम्) जो तेरे प्रति बंधन, निरोध आदि क्रूर कार्य हमने किया है (यत् आस्थितं) और जो छेदनकर्त्ता ने छेदन आदि कर्म किया है (तत् ते आप्यायताम्) वह तेरा सव शान्त होवे, (निष्ट्यायताम्) संहत होवे अथवा दोषशून्य होवे, (तत् ते शुध्यतु) वह तेरा सब शुद्ध होवे।

(३) फिर अवशिष्ट जल से पशु के जघन-प्रदेश पर सिंचन करे– (अहोभ्यः) सब दिनों में (शम्) हमें तथा पशु को सुख प्राप्त हो।

(४) फिर पशु को उत्तान लिटाकर नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बंधन करे– (ओषधे) हे ओषधि, तू इस पशु की (त्रायस्व) रक्षा कर।

(५) फिर घृताक्ता असिधारा को तृण के ऊपर रखकर चुपचाप तृण-सहित उदर की त्वचा को छेदन करे–(स्वधिते) हे खड्ग (एनं) इस पशु को (मा हिंसीः) मत मार।

यहां पांचों विधियां विचारणीय हैं। प्रथम जब पशु के अंगों का हमने निर्दयतापूर्वक छेदन कर दिया, तब उसके मन, प्राण आदि के शान्त होने की प्रार्थना व्यर्थ है। दूसरी विधि करते हुए कहा है कि हे पशु, जो तेरा बंधन, छेदन आदि क्रूर कर्म हमने किया है वह शान्त हो। जब हम स्वयं समझ रहे हैं कि यह कर्म क्रूर है, तब वह किया ही क्यों, और अब कर चुकने के पश्चात् उसकी शान्ति कराने का भी क्या अभिप्राय? तीसरी विधि करते हुए कहते हैं कि हमें या इस पशु को सुख प्राप्त हो। पशु की जब हमने हत्या कर दी तब भला उसे सुख कैसे प्राप्त होगा? और पशुमारणरूप क्रूर कर्म करने-कराने वाले हम भी सुख के अधिकारी क्यों कर हो सकते हैं? चौथी विधि में पशु का पेट फाड़कर चर्बी निकालने की तैयारी में हम उसकी नाभि के अग्रभाग में तृण बांधते हैं, और प्रार्थना उल्टी करते हैं कि हे ओषधि तू इस पशु कि रक्षा कर। रक्षा

का मंत्र बोलना है तो हमें रक्षा ही करनी चाहिए, न कि हिंसा। ''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'' की दुहाई देना एक बहाना मात्र है। पांचवीं विधि में भी उसी प्रकार क्रिया तो करते हैं छुरे से पेट को फाड़ने की ओर प्रार्थना करते हैं कि हे छुरे, तू पशु की हिंसा मत कर। यह सब विधि-विधान कहां तक संगत है यह पाठक स्वयं विचारें। यदि घास-फूस, ओषधियों आदि का कृत्रिम पशु बनाया जाता, और 'मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व रहता है उसे नष्ट करना है' इसके प्रतीकरूप में उस पशु को काटा जाता या होम किया जाता, तब भी कथंचित् विधि की चरितार्थता हो सकती थी। किन्तु यहां तो जीवित पशु की बलि दी जाती है।

अब स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित इस मंत्र का अर्थ देखिए। वे लिखते हैं– **''हे शिष्य मदीयशिक्षणेन ते तव मनः आप्यायताम्, ते प्राणः आप्यायताम्, ते चक्षुः आप्यायताम्, ते श्रोत्रम् आप्यायताम्, ते यत् क्रूरं दुश्चरित्रं तत् निष्ट्यायतां दूरीगच्छतु। यत् ते तव आस्थितं निश्चितं तद् आप्यायताम्। इत्थं ते सर्वं शुध्यतु। अहोभ्यो दिनेभ्यः तुभ्यं शम् अस्तु। अथ स्वस्वामिनि शिष्यलालनापरं गुरुपत्नीवाक्यं– हे ओषधे विज्ञप्रवराध्यापक, त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व, मा हिंसीः। स च स्वपत्नीं प्रत्याह–हे स्वधितेऽध्यापिके स्त्रि, त्वमेनां त्रायस्व मा हिंसीश्च।''** अर्थात् गुरु शिष्य को कहता है–हे शिष्य, मेरी शिक्षा से तेरा मन पर्याप्त गुणयुक्त हो। तेरा प्राण बलादिगुणयुक्त हो। तेरी आंख निर्मल दृष्टि वाली हो। तेरे कर्ण सद्गुणव्याप्त हों। तेरा जो दुष्ट व्यवहार है, वह दूर हो। और जो तेरा निश्चय है वह पूरा हो। इस प्रकार से तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो और प्रतिदिन तेरे लिये सुख हो। गुरुपत्नी अपने पति से कहती है– 'हे प्रवर अध्यापक, आप इस शिष्य की रक्षा कीजिये और व्यर्थ ताड़ना मत कीजिये'। 'गुरु अपनी पत्नी से कहता है –हे प्रशस्त अध्यापिके, तू इस कुमारिका शिष्या की रक्षा कर और इसको ताड़ना मत दे।

पाठक दोनों अर्थों की तुलना करें। हमने इस प्रकरण के कुछ ही मंत्रों को लिया है। अन्य मंत्रों के भी अर्थ महीधर तथा स्वामी जी के भाष्य से मिलान किये जा सकते हैं।

रुद्राध्याय

यजुर्वेद का १६वां अध्याय रुद्राध्याय कहलाता है, जिसमें ६६ मंत्र हैं। इसके आधार पर शतरुद्रिय होम कल्पित किया गया है। उवट एवं महीधर के अनुसार इसमें उस रुद्र देवता से प्रार्थनाएं की गयी हैं, जो कैलास पर्वत पर निवास करता है, जिसके हाथ में बाण हैं, जो नीलग्रीव तथा जटाजूटधारी (कपर्दी) है। मंत्र १७ से ४६ तक रुद्र के विभिन्न रूपों को नमस्कार किया गया है, जिनमें जहां वह अनेक उत्कृष्ट रूपों में वर्णित हुआ है, वहां साथ ही ठग, चोर, लुटेरे, तस्कर आदि रूपों में भी उसका वर्णन किया गया है। ऐसा क्यों है? इसका समाधान महीधर यह देते हैं कि रुद्र ही लीला से चोर आदि का रूप धारण कर लेता है, अथवा क्योंकि रुद्र जगदात्मक है अतः चोर आदि भी रुद्र समझने चाहिएं, अथवा चोर आदि के शरीर में रुद्र जीवरूप में तथा ईश्वररूप में दो प्रकार से अवस्थित होता है। उसमें जीवरूप स्तेन आदि शब्द का वाच्य है, और ईश्वररूप लक्ष्यार्थ है।[१]

दूसरी ओर स्वामी दयानन्द ने इस अध्याय के भाष्य में एक आदर्श राष्ट्र का चित्र खींचा है। उनके अनुसार राजा या सेनापति रुद्र है, क्योंकि वह शत्रुओं को रुलाता है। उसके अधीन विभिन्न दिशाओं में नियुक्त शत्रुरोदक अन्य शूरवीर भी रुद्र हैं। उनसे प्रार्थना की गयी है कि वे शत्रुओं को जीतें तथा स्वपक्ष के लोगों को उन्नत करें। जिन्हें 'नमः' कहा गया है, वे राष्ट्र में रहने वाले अनेक व्यक्ति हैं। 'नमः' पद का अर्थ स्वामी जी ने यथायोग्य अन्न, वज्र या सत्कार किया है, जो वैदिक कोष निघण्टु से अनुमोदित है। जो उपकारी स्वामी, सेवक, अध्यक्ष आदि हैं उन्हें उनका पारिश्रमिक अन्न, धन एवं सत्कार प्राप्त होना चाहिए, तथा जो चोर, लुटेरे आदि हैं उन्हें वज्र से दण्डित किया जाना चाहिए। जैसे –

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये (मंत्र १७)–ज्योति के समान तीव्रतेजयुक्त भुजा वाले सेना के शिक्षक को वज्र प्राप्त हो।

पशूनां पतये नमः (मंत्र १७) –गौ आदि पशुओं के रक्षक के लिये सत्कार प्राप्त हो।

नमो मन्त्रिणे वाणिजाय (मंत्र १९)–विचार करने हारे राजमंत्री का और वैश्यों के व्यवहार में कुशल पुरुष का सत्कार करें।

नम उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते (मंत्र १९) ऊंचे स्वर से बोलने वाले तथा दुष्टों को रुलाने वाले न्यायधीश का सत्कार करें।

नमो वञ्चते परिवञ्चते(मंत्र २१) छल से दूसरों के पदार्थों को हरने वाले, सब प्रकार कपट के साथ वर्तमान पुरुष को वज्रप्रहार प्राप्त हो।

स्तायूनां पतये नमः (मंत्र २१)–चोरी से जीने वालों के स्वामी को वज्र से मारें।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः (मंत्र २७) पदार्थों को सूक्ष्म क्रिया से बनाने हारे तुमको अन्न देते हैं और बहुत से विमानादि यानों को बनाने हारे तुम लोगों का परिश्रमादि का धन देकर सत्कार करते हैं।

नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः (मंत्र २७)–प्रशंसित मिट्टी के पात्र बनाने वालों को अन्नादि पदार्थ देते हैं और खड्ग, बन्दूक, तोप आदि शस्त्र बनाने वाले तुम लोगों का सत्कार करते हैं।

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च (मंत्र २९)–गृहस्थ लोगों को चाहिए कि जटाधारी ब्रह्मचारी और समस्त केश मुंडाने हारे संन्यासी को अन्न देवें।

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च (मंत्र २९)–असंख्य शास्त्र के विषयादि को देखने वाले विद्वान् ब्राह्मण का और धनुष आदि असंख्य शस्त्रविद्याओं के शिक्षक क्षत्रिय का सत्कार करें।

नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च (मंत्र २९)– पर्वतों के आश्रय से सोने हारे वानप्रस्थ का और पशुओं के पालक वैश्य आदि का सत्कार करें।

अश्वमेध

कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार यजुर्वेदके २२वें से २५वें अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ वर्णित हुआ है। यह यज्ञ बहुत विस्तृत है, तथापि उसकी संक्षिप्त रूपरेखा यहां प्रस्तुत करते हैं। अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा को ही है। वह अपनी चार पत्नियों महिषी, वावाता, (बल्लभा), परिवृक्ता (अबल्लभा) और पालागली (दूतपुत्री) को साथ लेकर यज्ञ आरम्भ करता है। चारों पत्नियों के साथ उनकी सौ-सौ अनुचरियां होती हैं। राजा चारों ऋत्विज् होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा उद्गाता का वरण करता है। एक ऐसा घोड़ा लाया जाता है, जिसका अगला हिस्सा काला और पिछला हिस्सा सफेद हो, ललाट पर शकटाकार तिलक बना हो, जो बहुत मूल्यवान्, अति वेगवान् और ऐसा अद्वितीय हो जिसकी जोट का दूसरा न मिलता हो। अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुमति पाकर रस्सी से घोड़े को

बांधता है। उस घोड़े को तालाब के स्थावर जल के बीच ले जाकर स्नान कराता है। वहीं आयोगव पुरुष (शूद्र से वैश्या में उत्पन्न संतान) के हाथ से एक चार आंखों वाले (अर्थात् जिसकी दो आंखें तथा उनके ऊपर दो आंख-जैसे चिन्ह हों ऐसे) कुत्ते को मूसल से मरवा कर बेंत की चटाई पर रखकर **''परो मर्तः परः श्वा,** यजु० २२.५'' का पाठ कर घोड़े के नीचे से तालाब में प्रवाहित कर देता है। वहां से वह घोड़े को अग्नि के समीप लाकर अग्नि में आहुतियां देता है।

इसके पश्चात् अध्वर्यु तथा यजमान घोड़े को विहार करने के लिए अन्य १०० घोड़ों के साथ ईशान दिशा में छोड़ देते हैं। साथ में कवच, खड्ग, दण्ड आदि लिये हुए ४०० सैनिक रक्षार्थ भेजे जाते हैं। उन्हें आदेश दिया जाता है कि वे एक वर्ष तक घोड़े को भ्रमण कराते रहें और दिग्विजय करके लौटें। एक वर्ष के पश्चात् जब घोड़ा लौटकर आता है तब अन्य तीन घोड़ों सहित उसे एक रथ में नियुक्त कर अध्वर्यु और यजमान रथ में बैठ, तालाब पर ले जाकर घोड़ों को जल में प्रविष्ट कराते हैं। वहां से घोड़े को देवयजन स्थान में लाते हैं। उस समय महिषी, वावाता तथा परिवृक्ता ये तीनों पत्नियां क्रमशः घोड़े के अगले, बीच के तथा पिछले शरीर की मालिश करती हैं। फिर वे ही तीनों उस घोड़े के सिर तथा पूंछ में १०१–१०१ सौवर्ण मणियां बांधती हैं। इसके बाद ब्रह्मा और होता **''कः स्विदेकाकी चरति''** यजु० २३.९-१२ इन चार मंत्रों से परस्पर प्रश्नोत्तर करते हैं। इसके बाद पशुओं को यूप में बांधा जाता है। २१ यूप होते हैं, जिनमें बीच के अग्निष्ठ यूप में १७ पशु तथा शेष यूपों में से प्रत्येक में १६–१६ पशु बांधे जाते हैं। ये सब ग्राम्य पशु होते हैं, जिनका बाद में वध करना होता है। इन २१ यूपों के मध्य में जो २० अवकाश होते हैं उनमें से प्रत्येक में कपिंजल आदि १३–१३ आरण्य प्राणी अवस्थित किये जाते हैं। इनका वध अभीष्ट नहीं होता, किन्तु इन्हें बाद में इन-इनके देवताओं के उद्देश्य से उत्सर्ग कर छोड़ दिया जाता है। पत्पश्चात् दरी-चादर बिछाकर उस पर सुवर्ण रखकर घोड़े का संज्ञपन (वध) किया जाता है। राजपत्नियां उस मृत घोड़े की तीन-तीन परिक्रमाएं कराती हैं। फिर पत्नियां, अध्वर्यु और यजमान मिलकर मृत घोड़े का प्राणशोधन करते हैं। प्राणशोधन के अनन्तर महिषी घोड़े के पास लेट जाती है। अध्वर्यु महिषी तथा घोड़े को चादर से ढक देता है। महिषी मृत घोड़े के लिंग को खींचकर अपनी योनि में डालती है और कहती है कि यह घोड़ा मुझ में वीर्य का आधान करे।

इसके अनन्तर अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि ऋत्विज् कुमारी एवं राजपत्नियों से अश्लील हास-परिहास करते हैं, और वे भी अपनी-अपनी अनुचरियों सहित उन्हें वैसा ही अश्लील उत्तर देती हैं। फिर अध्वर्यु आदि घोड़े के पास लेटी हुई महिषी को वहां से उठा कर लाते हैं। महिषी आदि तीनों राजपत्नियां तांबे, चांदी और सोने की सुइयों से मृत घोड़े के शरीर को छेदकर जर्जर करती हैं, जिससे तलवार उसके शरीर में आसानी से प्रविष्ट हो सके। फिर घोड़े के पेट को काटकर उसमें से होम के लिये चर्बी निकाली जाती है। यूपों में बंधे अन्य पशुओं को भी काटा जाता है और चर्बी, रक्त तथा शूल पर पकाए हुए मांस का होम किया जाता है। अन्त में राजपत्नियों की जो सौ-सौ अनुचरियां थीं, उन्हें ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को दक्षिणा में दे दिया जाता है। कर्मकाण्डियों का विश्वास है कि घोड़ा पुनर्जीवित होकर स्वर्ग चला जाता है।

स्वामी दयानन्द अश्वमेध के इस रूप से सहमत नहीं हैं, न ही इसे वेद व शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल समझते हैं। वे **'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'** (श० १३.१.६.३) यह शतपथ का प्रमाण देते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के राजप्रजाधर्मविषय में लिखते हैं कि **''राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणाम् अश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति,''** अर्थात् राष्ट्र का पालन करना ही क्षत्रियों का अश्वमेध यज्ञ है, घोड़े को मारकर उसके अंगों को होम करना नहीं। सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्नोत्तर आये हैं—

प्रश्न—यज्ञकर्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी तथा होम करके फिर पशु को जीवित करते थे, यह बात सच्ची है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं, जो स्वर्ग को जाते हों तो ऐसी बात कहने वाले को मारके होम कर स्वर्ग में पहुंचाना चाहिए वा उसके प्रिय माता, पिता स्त्री और पुत्रादि को मार होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुंचाते ? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला लेते हैं ?

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं तब वेदों के मंत्र पढ़ते हैं। जो वेदों में न होता तो कहां से पढ़ते ?

उत्तर—मंत्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता, क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मारके होम करना चाहिए।

अश्वमेध के प्रसंग में आने वाले २३वें अध्याय के १९ से ३१ तक के मंत्रों का महीधरकृत अर्थ अत्यन्त अश्लील है, जिसे लिखते हुए भी लज्जा अनुभव होती है। स्वयं महीधर भी उसे वैसा ही समझते हैं। अतएव उसके बाद ३२वें मंत्र का अर्थ वे करते हैं कि 'अश्व के संस्कार के लिए जो हमने अश्लील भाषण किया है और उससे जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये हैं उन्हें यह यज्ञ पुनः सुगन्धित कर देवे'। यदि मुख दुर्गन्धित होने की चिन्ता थी तो अश्लील अर्थ किया ही क्यों? वस्तुतः न उन मंत्रों का अर्थ अश्लील है, न ही इस ३२वें मंत्र का यह अभिप्राय है जो महीधर ले रहे हैं। स्वामी जी ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरण-शंकासमाधानादि विषय में उक्त मंत्रों के महीधरकृत अर्थ देकर फिर शतपथ के वाक्य उद्धृत करते हुए उनके सत्यार्थ प्रकाशित किये हैं। उन्हें पाठक वहीं देखें। स्वामी जी के यजुर्भाष्य में भी उक्त मंत्रों का भाष्य देखना चाहिए। नीचे हम तुलना के लिए अश्वमेध-प्रकरण के कुछ इतर मंत्रों का कर्मकाण्डिक अर्थ तथा स्वामी जी का अर्थ देते हैं।

ऊपर अश्वमेध की विधि में हम देख चुके हैं कि घोड़े को काटने के पश्चात् राजमहिषी मृत घोड़े के पास लेट जाती है, उस प्रसंग का यह मंत्र है–

प्राणाय स्वाहा अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ।। यजु० २३.१८

महीधर के अनुसार 'प्राणाय स्वाहा' आदि से मृत अश्व का प्राणशोधन करते हैं। फिर घोड़े के पास लेटी हुइ महिषी से ईर्ष्या करती हुई अन्य राजपत्नियां परस्पर कहती हैं कि अरी अम्बे, अरी अम्बिके, अरी अम्बालिके ! मुझे तो उस घोड़े के पास कोई ले ही नहीं जाता। वह दुष्ट घोड़ा तो काम्पील-नगरबासिनी उस दुष्टा सुन्दरी सुभद्रा के पास लेटा है। पाठक सोचेंगे यह यज्ञ हो रहा है या तमाशा।

अब स्वामी दयानन्द का अर्थ देखिये। उन्होंने 'अश्वकः' का अर्थ अश्व के समान शीघ्रगामी जन, 'सुभद्रिका' का अर्थ सुष्ठु कल्याणकारिणी तथा 'काम्पीलवासिनी' का अर्थ लक्ष्मी किया है– **''अश्वकः अश्व इव गन्ता जनः, सुभद्रिकां सुष्ठुकल्याणकारिकां, काम्पीलवासिनीं कं सुखं पीलति बध्नाति गृह्णातीति कंपीलः स्वार्थेऽण्, ''तं वासयितुं शीलमस्यास्तां लक्ष्मीम्''।** सम्पूर्ण मंत्र का अभिप्राय यह लिया है कि हे माता, हे दादी, और हे परदादी,

जिस लक्ष्मी को पाकर अश्व के समान शीघ्रगामी मनुष्य भी सो जाता है, निरुद्यमी हो जाता है, वह लक्ष्मी मुझे वश में नहीं करती है, अतः मैं तो प्राण, अपान और व्यान के लिए स्वाहा करता हूं, अर्थात् पुरुषार्थी होता हूं। भावार्थ में लिखते हैं-**''धनस्य स्वभावोऽस्ति यत्रेदं संचीयते तान् निद्रालून् अलसान् कर्महीनान् करोति, अतो धनं प्राप्यापि पुरुषार्थ एव कर्तव्यः''**, अर्थात् धन का स्वभाव है कि जहां वह इकट्ठा होता है उन जनों को निद्रालु, आलसी और कर्महीन कर देता है , इससे धन पाकर भी मनुष्य को पुरुषार्थ ही करना चाहिए ।

कर्मकाण्ड में २३वें अध्याय के ३३ से ३८ मन्त्र तक राजपत्नियां मृत घोड़े के अंगों को लोहे, चांदी और सोने की सुइयों से छेद-छेद कर जर्जर करती हैं। मंत्र है–

गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा।। यजु० २३.३३

इसका महीधरकृत अर्थ है–**''हे अश्व, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पङ्क्त्या सह बृहती, उष्णिहा सह ककुप् एतानि छन्दांसि सूचीभिरेताभिः त्वां शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु। असिपथार्थं त्वग्भेदनं संस्कारः।''**, अर्थात् हे घोड़े, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् पंक्तिसहित बृहती, उष्णिक्सहित ककुप् ये छन्द इन सुइयों से तेरा संस्कार करें। संस्कार का अभिप्राय है त्वचा को भेदना, जिससे तलबार घुसने का मार्ग बन सके। परन्तु स्वामी जी इस मंत्र में घोड़े को संबोधन न मानकर मनुष्य को सम्बोधन मानते हैं और यह अर्थ लेते हैं कि हे मनुष्यो, गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्दों वाले वेदमंत्र तुम्हारे आपस के मतभेदों को उसी प्रकार सी दें, जैसे सुइयों से वस्त्र को सिला जाता है। इस मंत्र के भावार्थ में लिखते हैं-**''ये विद्वांसो गायत्र्यादिच्छन्दोऽर्थविज्ञापनेन मनुष्यान् विदुषः कुर्वन्ति, सूच्या छिन्नं वस्त्रमिव भिन्नमतान्यनुसंदधति ऐकमत्ये स्थापयन्ति ते जगत्कल्याणकारका भवन्ति।''** अर्थात् जो विद्वान् गायत्री आदि छन्दों के अर्थ को बताने से मनुष्यों को विद्वान् करते हैं और सूई से फटे वस्त्र को सीवें त्यों अलग-अलग मत वालों का सत्य में मिलाप कर देते हैं और उनको एक मत में स्थापन करते हैं, वे जगत् के कल्याण करने वाले होते हैं।

३६वें मंत्र का पूर्वार्ध है- **नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया ।** महीधर इसका अर्थ करते हैं कि हे घोड़े, महिषी आदि राजपत्नियां

मनसे विचारकर तेरे शरीर के बालों को नोचें-**''हे अश्व नार्यः नृणामपत्यानि स्त्रियः ते तव लोम रोमाणि मनीषया मनसः इच्छया विचार्य विचिन्वन्तु पृथक् कुर्वन्तु। कीदृश्यो नार्यः? पत्न्यः यजमानभार्या महिष्याद्या इत्यर्थः।''** परन्तु स्वामी जी घोड़े के स्थान पर विदूषी अध्यापिका को सम्बोधन कर अर्थ करते हैं कि कुमारियां तीक्ष्ण बुद्धि से आपकी अनुकूल आज्ञा को एकत्र करें-**''नार्यः नराणां स्त्रियः ते तव पत्न्यः स्त्रियः लोम अनुकूलं वचनं विचिन्वन्तु संचितं कुर्वन्तु मनीषया मनस ईषणकर्त्र्या प्रज्ञया ..। हे विदुष्यध्यापिके, कुमार्यो मनीषया ते लोम विचिन्वन्तु।''**

अब जिन मंत्रों से चर्बी निकालने के लिए घोड़े का पेट फाड़ा जाता है उनमें से एक मंत्र लेते हैं।

> **कस्त्वा ऽऽच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति।**
> **क उ ते शमिता कविः ।।** यजु० २३.३९

महीधर के अनुसार घोड़े का पेट फाड़ने वाला कह रहा है कि 'हे घोड़े, प्रजापति तुझे काट रहा है (मैं नहीं), प्रजापति ही तेरी खाल अलग कर रहा है (मैं नहीं), प्रजापति ही तेरे अंगों को काटकर हविर्भाव को प्राप्त करा रहा है (मैं नहीं), वह मेधावी प्रजापति ही तेरा शमिता अर्थात् वध करने वाला है (मैं नहीं)''। देखिए, अपना पाप कैसी कुशलता से प्रजापति के ऊपर आरोपित किया जा रहा है। स्वामी जी ने इस मंत्र का निम्न भावार्थ लिखा है-**''अध्यापिका अध्येतॄन् प्रत्येकं परीक्षायां पृच्छेयुः। के युष्माकमध्ययनं छिन्दन्ति? के युष्मानध्ययनाय उपदिशन्ति ? केऽङ्गानां शुद्धियोग्यां चेष्टां च ज्ञापयन्ति? कोऽध्यापकोऽस्ति ? किमधीतम्? किमध्येतव्यमस्तीत्यादि पृष्ट्वा सुपरीक्ष्य, उत्तमानुत्साह्य अधमान् धिक् कृत्वा विद्यामुन्नयेयुः।''** अर्थात् अध्यापक लोग पढ़ने वालों के प्रति ऐसे परीक्षा में पूछें कि कौन तुम्हारे पढ़ने को काटते अर्थात् पढ़ने में विघ्न करते हैं? कौन तुमको पढ़ने के लिए उपदेश देते हैं? कौन अंगों की शुद्धि और योग्य चेष्टा को जनाते हैं? कौन पढ़ाने वाला है? क्या पढ़ा ? क्या पढ़ने योग्य है? ऐसे-ऐसे पूछ, उत्तम परीक्षा कर, उत्तम विद्यार्थियों को उत्साह देकर दुष्ट स्वभाव वालों को धिक्कार देके विद्या की उन्नति करावें।

२४वें अध्याय में कुछ पशु, कुछ जलचर जीव और कुछ पक्षी परिगणित किये गये हैं। कर्मकाण्ड के अनुसार जैसा पहले उल्लेख कर

चुके हैं, ग्राम्य पशुओं को, जो संख्या में ३२७ बैठते हैं, २१ यूपों में बांधा जाता और बाद में उनका वध किया जाता है। २६० आरण्य जीवों को भी बांधा जाता है, किन्तु इतना अन्तर है कि उन्हें बिना मारे देवताओं के नाम पर छोड़ दिया जाता है। परन्तु स्वामी दयानन्द इस सब इन्द्रजाल में नहीं पड़ते। उनका कथन है कि यह जंतुओं का परिगणन इस दृष्टि से किया गया है कि मनुष्य उनसे यथायोग्य उपकार लेवें। प्रथम मंत्र में विषय-प्रतिपादन करते हुए वे लिखते हैं–

''अथ मनुष्यैः पशुभ्यः कीदृश उपकारो ग्राह्य इत्याह'' अर्थात् मनुष्यों को पशुओं से कैसा उपकार लेना चाहिए इस विषय का यहां वर्णन किया जाता है। पुनः १५वें मंत्र के भाष्य में लिखते हैं-**''ये नाना-देशसंचारिणः प्राणिनः सन्ति तैर्मनुष्या यथायोग्यानुपकारान् गृह्णीयुः''**, अर्थात् जो नाना देशों में विहार करने वाले प्राणी हैं, उनसे मनुष्य यथायोग्य उपकार लेवें। पशुओं के साथ जो एक-एक देवता का मंत्रों में उल्लेख है उसका अभिप्राय कर्मकाण्डी यह लेते हैं कि उस-उस देवता की तृप्ति के लिए उस-उस पशु का वध या उत्सर्ग किया जाता है। परन्तु स्वामी जी १९वें मंत्र के भाष्य में लिखते हैं कि **''या यस्य पशोर्देवता उक्ता स तद्गुणो ग्राह्यः''**, अर्थात् मंत्र में जो जिस पशु का देवता कहा गया है, उस पशु को उस गुण वाला समझना चाहिए। एवं अश्वमेधसम्बन्धी सारे प्रकरण की व्याख्या में स्वामी जी की दिव्य दृष्टि सर्वत्र दिखायी देती है।

पुरुषमेध

कर्मकाण्ड में अध्याय ३० तथा ३१ पुरुषमेधपरक हैं। ३० वें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि १८४ प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। इससे विधि यह कल्पित की गयी है कि इस यज्ञ में ११ यूप गाड़े जाते हैं। **'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्'** आदि प्रथम ४८ मंत्रभागों से मध्य के अग्निष्ठ यूप में एक-एक करके ४८ पुरुष बांधे जाते हैं। शेष १० यूपों में अगले ११-११ मंत्रभागों से प्रत्येक में ११-११ पुरुषों को बांधते हैं। अन्त में अवशिष्ट मंत्रभागों से अवशिष्ट २६ पुरुष द्वितीय यूप में और बांध दिये जाते हैं। इस प्रकार १८४ की संख्या पूर्ण की जाती है। 'ब्रह्मदेवता की तृप्ति के लिए मैं ब्राह्मण को बांधता हूं' इत्यादि प्रकार से प्रत्येक पुरुष के साथ जिस-जिस देवता का मंत्र में उल्लेख है, उस-उस देवता की तृप्ति के

लिए उस-उस पुरुष को बांधा जाता है। सब पुरुषों के बंध जाने के उपरान्त ३१ वें अध्याय **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** आदि से उनकी स्तुति की जाती है। फिर जिस क्रम से बांधा गया था उसी क्रम से उन-उन देवताओं के नाम पर प्रत्येक को बंधनमुक्त कर दिया जाता है। कुछ का विश्वास है कि किसी समय इन बद्ध पुरुषों का अग्नि में होम किया जाता था, एवं नरबलि की प्रथा प्रचलित थी। शतपथकार को यह नृशंस प्रथा सह्य नहीं हुई, अतः उसने कहा कि बलि न दी जाए, किन्तु उस-उस देवता के नाम पर बद्ध पुरुषों को मुक्त कर दिया जाए। तब से पुरुषों की बलि न देकर उन्हें बन्धन-मुक्त किया जाने लगा।

स्वामी दयानन्द के अनुसार न पुरुषों को बद्ध करने की आवश्यकता है, न बलि देने की। ३०वें अध्याय में जो पुरुष तथा स्त्रियां परिगणित किये गये हैं, उनमें से कुछ उत्कृष्ट हैं तथा कुछ निकृष्ट। उनके साथ एक-एक गुण या दोष का भी उल्लेख है। राजा का कर्तव्य बताते हुए उसे कहा गया है कि अमुक-अमुक सद्गुण के प्रचार के लिए अमुक-अमुक गुणों वाले पुरुष या स्त्री को आप राष्ट्र में उत्पन्न कीजिए या नियुक्त कीजिए, और अमुक-अमुक दुष्ट आचरण करने वाले अमुक-अमुक प्रकार के पुरुष या स्त्री को आप दूर कीजिए। उदाहरणार्थ, स्वामी जी के भाष्य में कुछ मंत्रभागों के अर्थ निम्न हैं।

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् (मंत्र ५) वेद और ईश्वर के ज्ञान के प्रचार के अर्थ वेद और ईश्वर को जानने वाले को उत्पन्न कीजिए।

क्षत्राय राजन्यम् (मंत्र ५) राज्य वा राज्य की रक्षा के लिए राजपुत्र को उत्पन्न कीजिए।

मरुद्भ्यो वैश्यम् (मंत्र ५) पशु आदि प्रजा के लिए वैश्य को उत्पन्न कीजिए ।

तपसे शूद्रम् (मंत्र ५) कष्ट से होने वाले सेवन के अर्थ प्रीति से सेवा करने तथा शुद्धि करने हारे शूद्र को उत्पन्न कीजिए।

पवित्राय भिषजम् (मंत्र १०) रोग की निवृत्ति करने के अर्थ वैद्य को उत्पन्न कीजिए।

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम् (मंत्र १०) उत्तम ज्ञान बढ़ाने के अर्थ नक्षत्रों को देखने वा इनसे उत्तम विषयों को दिखाने हारे गणितज्ञ ज्योतिषी को उत्पन्न कीजिए।

ऋतये स्तेनहृदयम् (मंत्र १३) हिंसा करने के लिए प्रवृत्त हुए चोर के तुल्य छली-कपटी को पृथक् कीजिए।

वैरहत्याय पिशुनम् (मंत्र १३) वैर तथा हत्या जिस कर्म में हों उसके लिए प्रवृत्त हुए निन्दक को पृथक् कीजिये ।

योगाय योक्तारम् (मंत्र १४) योगाभ्यास के लिए योग करने वाले को उत्पन्न कीजिए।

वर्णाय हिरण्यकारम् (मंत्र १७) सुन्दर रूप बनाने के लिए सुनार को उत्पन्न कीजिए।

नर्माय पुंश्चलूम् (मंत्र २०) क्रीडा के लिए प्रवृत्त हुई व्यभिचारिणी स्त्री को दूर कीजिए।

इससे अगले ३१वें अध्याय में 'पुरुष' नाम से परमात्मा के गुण-कर्म-स्वाभाव का वर्णन है, तथा उस पुरुष से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई इसका उल्लेख है।

पितृमेध

कर्मकाण्डानुसार ३५वें अध्याय में पितृमेध का वर्णन है। जिस पुरुष को पितृमेध करना हो वह मृत सम्बन्धी की अस्थियां कुम्भ में संचित कर अरण्य में गाड़ दे। पितृमेध के दिन उस अस्थिकुम्भ को ग्राम के समीप लाकर जितने मृत के अमात्य-पुत्र-पौत्र हों उतने अन्य कुम्भ तथा इनसे कुछ अधिक छत्र एकत्र कर ले। अस्थिकुम्भ को शय्या पर रख वस्त्र में लपेट दे। मोहमय वादित्र, वीणा आदि बजने पर मृत के पुत्र-पौत्र उत्तरीयों तथा व्यजनों से पंखा झलते हुए उसकी तीन-तीन प्रदक्षिणा करें। कुछ के मत में स्त्रियां भी प्ररिक्रमा करें। रात्रि के पूर्व, मध्य तथा अपर भागों में उस दिन बहुत अन्नदान करें, नृत्य-गीत करायें, बाजे बजवायें तथा अस्थिकुम्भ सहित पूर्वोक्त कुम्भों तथा छत्रों को लेकर ग्राम के दक्षिण ओर अध्वर्यु, यजमान तथा अमात्य बाहर चले जाएं। इतनी रात गये कार्य आरम्भ करना चाहिए कि श्मशानान्त कर्म करते-करते सूर्य निकल आये। पुरुषप्रमाण क्षेत्र बना कर पूर्वादि दिक्कोणों में पलाश, शमी, वरण तथा पत्थर के शंकु गाड़ दें। निकट यजमान का कोई पुरुष तृणों का पूला ऊंचा खड़ा कर दे, जिसे कार्यसमाप्ति पर घर आकर घरके ऊपर लगा दे, उससे प्रजावृद्धि होगी।

तदनन्तर तैयार किये हुए उस पुरुषप्रमाण क्षेत्र को रस्सी से घेरकर प्रथम मंत्र से पलाश-शाखा द्वारा, तृण, पत्ते आदि बाहर निकाल दे। फिर पलाश-शाखा को दक्षिण में फेंककर द्वितीय मंत्र द्वारा उस क्षेत्र के दक्षिण या उत्तर में ६ बैलों से हल चलवाये। तृतीय मंत्र के पूर्वभाग से हल द्वारा चार लीकें करवाये, उत्तर भाग में बैलों को खोल दें। फिर हल को दक्षिण दिशा में चुपचाप फेंककर चतुर्थ मंत्र से कृष्ट क्षेत्र में ओषधियों को बोये। ५म -६ष्ठ मंत्र से पुरुषप्रमाण क्षेत्र के मध्य मृत की अस्थियों को संचित करे। उस रिक्त कुम्भ को कोई विप्र दक्षिण में फेंक आये, तब यजमान या अध्वर्यु ७ म मंत्र का जप करे। फिर उन अस्थियों को अंगों के क्रम से रखकर पुरुषाकृति बना ले, जिसका सिर पूर्व की ओर रहे। मध्य में ईंट (इष्टका) रखता हुआ ८म तथा ९म मंत्र बोले, जिसमें शान्ति की प्रार्थना की गयी है। फिर श्मशान बना, उसके दक्षिण में दो गढ़े कर, उन्हें दूध तथा जल से भर, उत्तर में ७ गढ़े खोद, उन्हें जल से भर, मध्य में तीन पाषाण रख अध्वर्यु, यजमान तथा अमात्य उन गढ़ों के ऊपर चलते हुए १० वां मंत्र बोलें, जिसमें कहा है कि यह पत्थरों वाली नदी बह रही है, इसे पार कर जाओ। फिर अमात्य यज्ञोपवीत धारण कर, आचमन कर ११वें मंत्र से अपामार्ग द्वारा अपने शरीरों को मार्जन करें। तत्पश्चात् यजमान और अमात्य १२वें मंत्र से स्नान कर, नूतन वस्त्र पहन १३वें मंत्र से बैल की पूंछ का स्पर्श कर, १४वें मंत्र से ग्राम को चल पड़ें। ग्राम तथा श्मशान के मध्य में १५वें मंत्र से मिट्टी का ढेला (मर्यादालोष्ठ) रखे। इत्यादि विधि कल्पित की गयी है।

श्री स्वामी जी ने इन विधियों से स्वतंत्र होकर मंत्रों की व्याख्या की है। उन्होंने सम्पूर्ण अध्याय को मृत के पक्ष में न लगाकर, जीवितों के लिए लगाया है, तथा जीवितों के लिए प्रेरणा ली है कि उन्हें अमुक-अमुक प्रकार के सत्कार्य करने चाहिएं। सब जीवों के लिए सुखप्राप्ति तथा मृत्यु को दूर भगाने का सन्देश लिया है। तुलना के लिए हम इस अध्याय का केवल एक मंत्र यजु० ३५.२० ले रहे हैं।

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्या उप तान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः संनमन्ता ँ्स्वाहा।।

उवट तथा महीधर ने इस मंत्र का विनियोग चर्बी (वपा) के होम में माना है। महीधर लिखते हैं कि इस मंत्र का विनियोग यद्यपि श्रौतसूत्र में नहीं है, तो भी गृह्यसूत्र में है। वे कहते हैं कि इस मंत्र से गाय की चर्बी

का होम करें। अर्थ यह किया है-''हे जातवेदः अग्ने, तू पितरों के लिए गाय की चर्बी को वहन कर ले जा, जहां कि दूर पर निहित हुए उन्हें तू जानता है। चर्बी की नहरें पितरों के पास पहुंचें। दाताओं के मनोरथ भी पूर्ण हों। स्वाहा, सुहुत हो।''।

इस अर्थ से स्वामी जी के अर्थ का मिलान कीजिए। उनके मत में पितर जनक लोग व विद्या-शिक्षा देने वाले सज्जन हैं, 'जातवेदाः' उत्तम ज्ञान को प्राप्त हुआ जन है। 'वपा' का अर्थ चर्बी नहीं, किन्तु भूमि है। यह शब्द बीज बोने अर्थ वाली 'वप' धातु से बना है, जिसमें बीज बोया जाए वह भूमि वपा कहलाती है। 'मेदसः कुल्याः' का अर्थ भी चर्बी की नहरें नहीं, किन्तु 'स्निग्ध नहरें' है। ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे जनक व विद्या-शिक्षा देने वाले श्रेष्ठ पितृजनों से खेती-योग्य भूमि को प्राप्त करें। उसकी सिंचाई आदि के लिए उन्हें जलप्रवाह से युक्त नदी व नहरें निकट प्राप्त हों, जिससे सत्य क्रिया द्वारा उनकी यथार्थ इच्छाएं फलीभूत हों।

उपसंहार

इसप्रकार श्री स्वामी जी के यजुर्वेद-भाष्य पर संक्षेपतः तुलनात्मक दृष्टिपात करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उन्होंने वेदभाष्य के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न की है। यद्यपि उनका उद्घोष है कि इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त महर्षियों ने जो कुछ कहा है, उसी का संग्रह मैंने किया है, तथापि वे वेदव्याख्या के लिए एक अपूर्व प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं। यह प्रसन्नता का विषय है कि स्वामी जी की भाष्यशैली का विद्वानों में व्यापक प्रभाव हुआ है। अनेक आधुनिक भाष्यकर्ताओं ने उसी से प्रभावित होकर वेदमंत्रों के तदनुरूप अर्थ किये हैं। तो भी स्वामी जी की दिशा का अवलम्बन कर अभी वेदार्थ का बहुत कुछ अनुसन्धान करना अवशिष्ट है।

पाद - टिप्पणियां

१. द्रष्टव्यः ''ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय–तस्माद् युक्ति-सिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।''

२. वहीं, भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषय—यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वेवेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तं तदन्यथास्ति। कुतः? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्।

३. (इषे) अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये, "इषमित्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २.७ इषतीति गतिकर्मसु पठितम्। निघं० २.१४। अस्माद् धातोः क्विपि कृते पदं सिध्यति" (त्वा) विज्ञानस्वरूपं परमेश्ववम्, (ऊर्जे) पराक्रमोत्तमरसलाभाय । ऊर्ग् रसः श० ५.१.२.८ (त्वा) अनन्तपराक्रमानन्दरसघनम्—दयानन्दभाष्य।

४. मंत्र है 'घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाम्' तुम घृत से लिप्त होकर पशुओं की रक्षा करो। पर यहां तो मंत्रार्थ के विरुद्ध पशु को काटा जा रहा है। स्वामी जी पशु को काटने से सहमत नहीं हैं, तथा उन्होंने यह अर्थ किया है— हे घृत चाहने और यज्ञ के करने-कराने हारो, तुम गौ आदि पशुओं को पालो।

५. द्रष्टव्यः दयानन्दभाष्य के ८म तथा ९म मंत्र की भूमिका—"अथ पित्रादयः स्वसन्तानान् कथमध्यापकाय प्रदद्युः स च तान् कथं गृह्णीयादित्युपदिश्यते।। पुनः स शिष्यं किमुपदिशेदित्याह।"

६. द्रष्टव्य मंत्र २० का महीधरभाष्य—"रुद्रो लीलया चोरादिरूपं धत्ते। यद्वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वाच्चोरादयो रुद्रा एव ध्येयाः। यद्वा स्तेनादिशरीरे जीवेश्वररूपेण रुद्रो द्विधा तिष्ठति, तत्र जीवरूपं स्तेनादिशब्दवाच्यं, तदीश्वररूपं लक्षयति, यथा शाखाग्रं चन्द्रस्य लक्षकम्। किं बहुना, लक्ष्यार्थविवक्षया मन्त्रेषु लौकिकाः शब्दाः प्रयुक्ताः।"

७. मंत्र यह है—दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत्।। यजु० २३.३२, महीधर अर्थ करते हैं-"वयम् अध्वर्य्वादयः अकारिषम् अकार्ष्म कृतवन्तः। वचनव्यत्ययः। अश्लीलभाषणमितिशेषः। किमर्थम् ? अश्वस्य संस्कारायेति शेषः, अश्वसंस्कारायाश्लीलभाषणं कृतवन्त इत्यर्थः। ..नोऽस्माकं मुखा मुखानि सुरभि सुरभीणि करत् करोतु यज्ञ इति शेषः। अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्वित्यर्थः।" पाठक देखें कि मंत्र में अश्लील-भाषण आदि शब्द कहीं नहीं हैं, महीधर उन्हें अपनी ओर से ही ले आये हैं।

अथर्ववेद के कौशिक-कृत विनियोगों पर एक दृष्टि

अथर्ववेद के सम्बन्ध में दुर्भाग्य से यह धारणा बद्धमूल हो चुकी है कि यह जादू-टोनों का वेद है। भारतीय और पाश्चात्त्य दोनों ही क्षेत्रों के विद्वानों के मुख से यही बात सुनने को मिलती है। प्रो० मैकडानल ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत लिटरेचर' में तथा एम० विन्तरनित्स ने 'हिस्टरी ऑफ इंडियन लिटरेचर' में ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं। इसके प्रभाव से दासगुप्ता, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पं० बलदेव उपाध्याय आदि अनेक भारतीय विद्वान् भी अछूते नहीं रहे हैं। सबके मुख से और सबकी लेखनी से अथर्ववेद के जादू-टोने की बात सुनते-पढ़ते वेद को गरिमामय गम्भीर ज्ञान की पवित्र पुस्तक मानने वाले भी इस जादू-टोने की बात से प्रभावित हो रहे हैं। जब विश्वविद्यालयों में यही पढ़ाया जाता है, पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों में यही लिखा मिलता है, तब अपरिपक्व मस्तिष्क इससे प्रभावित क्यों न हो। यही कारण है कि एम० ए० तथा पी-एच० डी० के परीक्षार्थी भी जबरदस्ती अथर्ववेद को जादू-टोने का वेद सिद्ध करने में लगे हैं। एक परीक्षक के रूप में मेरा यह अनुभव कह रहा है।

एक विश्वविद्यालय की शोध-समिति में विशेषज्ञ के रूप में मैं बुलाया गया था, जिसमें शोधार्थियों के शोध-विषयों की रूपरेखाएं परखी जाती हैं। उसमें शोध का एक विषय अथर्ववेद पर भी था। विषय-सूची में अधिकतर मारण-उच्चाटन, कृत्या-अभिचार, जादू-टोने आदि की ही बातें थीं। मैंने उस पर आपत्ति उठायी कि क्या अथर्ववेद पर यही पृष्ठभूमि छात्र को शोध के लिए देना अथर्ववेद और छात्र दोनों के प्रति अन्याय नहीं है। एक अन्य विशेषज्ञ ने उस पर यह टिप्पणी की कि आप अथर्ववेद में इन बातों को नहीं मानते हैं, पर वस्तुतः है तो अथर्ववेद में यही सब। अन्त में एक तीसरे विशेषज्ञ के मेरे साथ सहमत हो जाने से उस रूपरेखा में संशोधन करने की बात मान ली गयी।

यदि अथर्ववेद में जादू-टोना होने की बात मिथ्या है, तो इस मिथ्या प्रपंच को प्रचलित करने का दोषी कौन है? प्रायः इसका दोष विदेशी

वेद-विचारकों को दे दिया जाता है। हम उनका नाम ले-लेकर उनके प्रति अपना आक्रोश प्रकट करते हैं। पर मौलिक अपराध तो उसी भारतीय मस्तिष्क का है जो एक ओर तो वेदों को ईश्वरीय वाणी के रूप में पूजता है और दूसरी ओर ऐसी भ्रान्त धारणाओं को जन्म देता है। वैदिक ऋचाओं को रहस्यमय ज्ञान के अजस्र स्रोत मानने वाले योगी श्री अरविन्द ने अपनी 'वेदरहस्य' पुस्तक में लिखा है कि 'यह मेरा सौभाग्य था कि मैंने वेद का सायण-भाष्य पहले नही पढ़ा था। अन्यथा संभव है मैं उसी प्रवाह में बह जाता और वेदों में जिस आध्यात्मिक तत्त्व के दर्शन मैंने किये हैं उसे न कर पाता।' और वास्तव में मूल दोष सायण का भी नहीं है, उसका दोष इतना ही है कि उसने वेदों पर स्वतंत्र विचार न कर पुराने विनियोगों को, चाहे वे तर्कसंगत थे चाहे अतर्कसंगत, उसी रूप में स्वीकार कर लिया। श्री अरविन्द के शब्दों में "सायण ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी, जो कई शताब्दियों तक नहीं टूट सकती थी।"

यहां हम अथर्ववेद की बात कर रहे हैं। अथर्ववेदविषयक समस्त भ्रान्तियों के प्रमुख जन्मदाता हैं कौशिक, जिन्होंने अपने कौशिकसूत्र में अनेक विनियोग ऐसे किये हैं, जिनसे अथर्ववेद का एक भ्रान्त चित्र पाठक के संमुख उपस्थित होता है। सायण ने अथर्ववेद-भाष्य के अपने उपोद्घात में कौशिकसूत्र, वैतानसूत्र, शान्तिकल्प, आंगिरसकल्प तथा अथर्वपरिशिष्ट में प्रतिपादित प्रमुख अथर्ववेदीय विषयों का परिगणन किया है तथा लिखा है कि इतर सूत्रों का उपजीव्य होने के कारण कौशिकसूत्र ही सबसे प्रधान है। कौशिकसूत्र ने जो विनियोग दिये हैं उनमें से अधिकांश जादू-टोने या मंत्र-तंत्र की कल्पना से ओत-प्रोत हैं। क्योंकि सायण भाष्य के उपजीव्य ये ही विनियोग हैं, अतः सायण का इस प्रचार में बहुत बड़ा हाथ है। भाष्यारम्भ करते हुए सायण ने स्वयं लिखा है–

शाखायाः शौनकीयायाः पूर्वोक्तेष्वेव कर्मसु।
विनियोगाभिधानेन संहितार्थः प्रकाश्यते ।।

अर्थात् कौशिकसूत्र आदि में प्रोक्त कर्मों में ही विनियोग दिखला कर मैं अथर्ववेद की शौनकीय संहिता का अर्थ प्रकाशित करूंगा।

यदि सायण कौशिक के प्रचारक न बन कर स्वतन्त्र रूप से अपना भाष्य करते तो संभवतः अथर्ववेद के जादू-टोने का वेद होने की आंधी इतनी जोर से न फैलती। कौशिक का प्रचार सायण ने किया और उसी प्रचार को आगे बढ़ाया पाश्चात्त्य विचारकों ने तथा उनका अविवेकपूर्ण अनुकरण करने वाले भारतीयों ने। जो पाठक कौशिक के विनियोगों को बिना देखे अपनी बुद्धि से मूल अथर्ववेद को पढ़ेगा उसके मन में कौशिककृत विधि-विधान कभी नहीं आ सकते, यह कौशिकीय विनियोगों के काल्पनिक तथा स्वेच्छाप्रसूत होने में प्रबल युक्ति है। वस्तुतः विनियोगकार अपने विनियोगों के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है, वेद पर उसका उत्तरदायित्व नहीं है।

इतनी भूमिका के पश्चात् अब हम कतिपय मन्त्र-तन्त्र-मूलक कौशिकीय विनियोगों का दिग्दर्शन करायेंगे तथा यह भी देखेंगे कि जिस सूक्त या मन्त्र पर वे विनियोग लिखे हैं उस सूक्त या मन्त्र से क्या वे प्रमाणित होते हैं। उन विनियोगों पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सामने आ जाएगा कि चाहे राज्याभिषेक, सेना-प्रोत्साहन, शत्रुविजय आदि राजकर्मसम्बन्धी सूक्त हों, चाहे ऐश्वर्यवृद्धिपरक सूक्त हों, चाहे गोसमृद्धिविषयक सूक्त हों, चाहे चिकित्साप्रतिपादक सूक्त हों, चाहे नारीसौभाग्यसूचक सूक्त हों, चाहे वृष्टि, वाणिज्य, कृमिविनाश, आयुष्य आदि के सूक्त हों, सर्वत्र कौशिक मन्त्र-तन्त्र की बात अपनी ओर से कल्पित कर लेता है।

१. 'अमूर्या यन्ति' अथर्व० १.१७ चार मंत्रों का सूक्त है। इसमें स्त्रियों के आर्तव का आधिक्य, नाड़ियों से रक्तस्राव, पथरी के कारण रक्तस्राव आदि के निरोध का वर्णन है। कौशिक का विनियोग इस प्रकार है–शस्त्रघात आदि से उत्पन्न रुधिर-प्रवाह तथा स्त्री के रजोधर्म के अतिप्रवाह की निवृत्ति के लिए पांच पर्वों वाले दण्ड से रुधिरवहनस्थान को अभिमन्त्रित करे, व्रण के मुख पर गली की धूल, रेत आदि प्रक्षिप्त करे , सूखी कीचड़ या खेत की क्यारी की मिट्टी बांधे और पिलाये।[१] मन्त्रों में यह प्रक्रिया कहीं वर्णित नहीं हुई है। वैद्यगण उत्कृष्ट ओषधियों के द्वारा रक्त-प्रवाह को रोकने का इससे अच्छा विनियोग कर सकते हैं, जिसमें अभिमन्त्रित करने की कोई बात न हो। निश्चय ही उनका प्रयोग अधिक सफल होगा।

२. **'वेनस्तत् पश्यत्'** अथर्व० २.१ पांच मंत्रों का सूक्त है, जिसमें ब्रह्म की महिमा वर्णित की गयी है और यह कहा गया है कि मेधावी और दीप्तप्रज्ञ मनुष्य ही उसका दर्शन कर सकता है तथा वेदज्ञ एवं वाणी पर अधिकार रखने वाला व्यक्ति ही उसका प्रवचन करने में समर्थ होता है। कौशिक ने इसका विनियोग 'मनोवांछित फल सिद्ध होगा या असिद्ध' इसका पता लगाने में किया है–"पांच पर्वों वाला वेणुदण्ड, काम्पील वृक्ष की शाखा या रथयुग को इस सूक्त के मन्त्रों से अभिमंत्रित करके, अभीष्ट कार्य को मन में सोचकर, समतल प्रदेश में ऊंचा खड़ा करके छोड़ दे। यदि वे वेणुण्ड आदि सोची हुई दिशा में गिरें तो कार्यसिद्धि जाने। बाण को धनुष पर सन्धान करके इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर अग्नि में छोड़ दें, यदि ज्वाला दक्षिण दिशा में जाए तो इष्टसिद्धि होगी। जुए के पासों को अभिमन्त्रित कर फेंके, अभीष्ट संख्या आये तो कार्यसिद्धि जाने। हाथों की दो अंगुलियां अभिमन्त्रित कर कार्य को सोचे, उद्दिष्ट अंगुलि का स्पर्श होने पर अभिलषित सिद्धि समझे।

इसी प्रकार खोये हुये द्रव्य का पता लगाने तथा विवाह से पूर्व कुमारी के सौभाग्यादि की परीक्षा में भी इस सूक्त का विनियोग कौशिक ने किया है। पानी का घड़ा, हल या जुए के पासों को नवीन वस्त्र से लपेट कर संपातित तथा अभिमन्त्रित कर जिनका रजोदर्शन प्रारंभ नहीं हुआ है ऐसी दो कुमारियों को कहे कि इसे ले जाओ। वे जिस दिशा में ले जाएं, उसी दिशा में खोया हुआ द्रव्य मिलेगा, ऐसा जाने। विवाह से पूर्व कुमारी के सौभाग्यादि लक्षणों के ज्ञान के लिए आकृतिलोष्ठ (क्षेत्र-मृत्तिका), वल्मीकलोष्ठ, चतुष्पथलोष्ठ और श्मशानलोष्ठ इन चार प्रकार की मृत्तिकाओं को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर कुमारी को कहे कि इनमें से किसी एक को उठा लो। यदि वह आकृतिलोष्ठ या वल्मीकलोष्ठ को उठाये तो उसका कल्याण होगा, चतुष्पथलोष्ठ को उठाये तो वह बहुचारिणी होगी, श्मशानलोष्ठ को उठाये तो उसकी मृत्यु हो जाएगी, ऐसा जाने। दूसरी यह विधि भी कर सकते हैं कि कुमारी की अंजलि में जल भर कर इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर उसे कहे कि इच्छानुसार किसी दिशा में इसे फेंक दे। यदि वह पूर्व दिशा में फेंके तो समझे कि उसका कल्याण होगा। [२]

सूक्त का प्रतिपाद्य विषय प्रारंभ में हम बता चुके हैं। उससे इन विनियोगों का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। सायण ने भी कौशिकसूत्र को उद्धृत करते

हुए सूक्त के आरम्भ में ये विनियोग दिये तो हैं, किन्तु मन्त्रार्थ में इनका कोई उपयोग नही किया है।

३. **'यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः'** अथर्व० २.१५ छः मन्त्रों का सूक्त है। इसमें मनुष्य अपने प्राण को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि जैसे द्यौ और पृथिवी, सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म और क्षत्र, सत्य और अनृत, भूत और भव्य भयभीत नहीं होते, अतएव विनाश को प्राप्त नहीं करते, वैसे ही हे मेरे प्राण, तू भी भयभीत मत हो। कैसा सुन्दर आत्मोद्बोधन है! इस सूक्त का विनियोग यही हो सकता है कि जब हम किसी संकटपूर्ण कार्य को करने लगें, तब इस सूक्त का पाठ करते हुए अपने अन्दर शक्ति-संचय करें। किन्तु कौशिक ने इसका विनियोग किया है कि जिसे दीर्घायुष्य की कामना हो वह इस सूक्त से स्थालीपाक ओदन को शान्त्युदक से संप्रोक्षित तथा अभिमन्त्रित कर खा ले,[३] जिसकी कोई चर्चा सूक्त में नहीं है। यदि कौशिक यह कहता कि दीर्घायुष्य के लिए इस सूक्त का अर्थज्ञानपूर्वक पाठ करता हुआ अपने प्राण को निर्भय और सबल बनाये, तब तो संगत हो सकता था।

४. **'एह यन्तु पशवो'** अथर्व० २.२६ पांच मन्त्रों का सूक्त है। इसमें गोपालन और गौओं के दूध, घी आदि से स्वयं तथा परिवार के अन्य सदस्यों पुत्र, पत्नी आदि के पुष्टि प्राप्त करने का वर्णन है। तदनुसार ही इसका विनियोग होना चाहिए। परन्तु कौशिक कहते हैं कि जिसे गो-पुष्टि की कामना हो वह बछंड़े की लार से मिश्रित ताजा दूध इस सूक्त से अभिमन्त्रित करके पी ले, गौ को अभिमन्त्रित करके दान करे तथा जलपात्र को अभिमन्त्रित करके गोष्ठ के मध्य में ले जाए।[४] पर इन विधियों से गो-पुष्टि कैसे सम्भव है? गो-पुष्टि तो गो-सेवा से ही हो सकती है।

५. **'संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्'** अथर्व० ३.१९ आठ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें शक्तिसंचय करने, शस्त्रास्त्र का बल बढ़ाने, अपने वीरों को उद्बोधन देने एवं शत्रु-विजय करने का वीरतापूर्ण वर्णन है। इसके कौशिक-प्रोक्त विनियोगों में से एक यह है कि जब शत्रुसेना को उद्वेल्लित करना हो तब इस सूक्त से घृत की आहुति देकर श्वेत पैरों वाली बकरी या भेड़ को अभिमन्त्रित करके शत्रुसेना के प्रति छोड़ दें।[५] सूक्त का वीररसपूर्ण एक मन्त्र इस प्रकार है–

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया।। अथर्व० ३.१९.६

अर्थात् 'हे राजन्, आपकी सेना के गजारोही, अश्वारोही, रथारोही, पदाति सब सैनिकों के बल हर्षित हों। विजय लाभ करते हुए वीरों के सिंहनाद आकाश में गूंजें। पृथक्-पृथक् दलों के झण्डे आकाश में लहरायें। विजयसूचक 'उल्लुलुलु' के घोष ऊपर उठें। ज्येष्ठ सेनापति सहित देदीप्यमान, मरने-मारने के लिए तैयार सैनिक सेना बांध कर चलें।' इसका भला अभिमन्त्रित बकरी को शत्रुसेना के प्रति छोड़ने से क्या सम्बन्ध है?

६. **'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः'** अथर्व० ३.३० सात मन्त्रों का सुप्रसिद्ध सूक्त है। इसमें यह भावना व्यक्त की गयी है कि परिवार में सौहार्द, सांमनस्य, अविद्वेष, पारस्परिक प्रीति, पिता-माता-पुत्र, पति-पत्नि, भाई-बहिन आदि के बीच मधुर वाणी, प्रेम-व्यवहार, मिल कर खान-पान करना, मिलकर अग्निहोत्र करना आदि होना चाहिए। इसके विनियोग में कौशिक लिखते हैं कि इस सूक्त द्वारा सांमनस्य-कर्म में ग्राम के मध्य संपातित जलकुम्भ और सुराकुम्भ को घुमाएं, त्रिवर्षवत्सिका गौ के मांस-खण्डों का तथा संपातित अन्न का भोग और संपातित सुरा का पान करायें।[६] क्या इन क्रियाओं को करने से परस्पर सांमनस्य उत्पन्न हो जाएगा? वस्तुतः सांमनस्य तो तब उत्पन्न हो सकता है, जब परिवार के सदस्य प्रतिदिन अर्थबोधपूर्वक इन मन्त्रों का पाठ करते हुए अपने अन्दर पारस्परिक सौहार्द की भावना को जागरित करें।

७. **'य आत्मदा बलदा'** अथर्व० ४.२ सूक्त में आठ मन्त्र हैं, जिनमें देव परमेश्वर की महिमा वर्णित की गयी है कि वह आत्मिक शक्ति और शारीरिक बल का दाता है, उत्तम प्रकाशक है, जड़-चेतन जगत् का राजा है, और पृथिवी का धर्ता, लोकलोकान्तरों का निर्माता तथा सृष्टि को उत्पन्न करने वाला है; उसी की पूजा करनी योग्य है। परन्तु कौशिक ने इसका विनियोग वन्ध्या गौ का वध करके उसे शान्ति प्राप्त कराने तथा उसके अंगों का होम करने में किया है। इस सूक्त का जप करके उसके लिए शान्त्युदक छोडें। यदि काटी हुई उस गौ का अचानक गर्भ दीख जाए तो उस गर्भ को अंजलि में लेकर इस सूक्त से अग्नि में आहुति दें।[७] देखिए, सूक्त के साथ कैसा अत्याचार किया गया है।

८. **'समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः'** अथर्व० ४.१५ वृष्टिसूक्ति नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें सोलह मन्त्र हैं। दिशाएं बादलों से उमड़ पड़ें, प्रचुर वर्षा हो, मेंढक प्रसन्नता से बोलने लगें, ओषधियां लहलहा उठें आदि प्रार्थना इन

मन्त्रों में की गयी है। यह आतप से व्याकुल मनुष्यों की भावाभिव्यक्ति है। कौशिक विनियोग करते हैं कि जिसे वर्षा की कामना हो वह मरुतों अथवा मन्त्रोक्त देवताओं के प्रति आज्यहोम करे। काश, दिविधुवक तथा वेतस ओषधियों को एक पात्र में रखकर संपातित तथा अभिमन्त्रित कर जल में अधोमुख ले जाए और उन्हें प्रवाहित कर दे। कुत्ते और मेंढे के सिर को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर पानी में फेंक दे। मनुष्य के केश और पुराने जूतों को बांस के अग्रभाग में बांध कर खड़ा करे। तुषासहित कच्चे मृत्पात्र पर अभिमन्त्रित जल छिड़क कर तीन पैरों वाले छींके में रखकर पानी में फेंक दे।[८] वर्षा की कामना होने पर वृष्टियज्ञ करना तो वैदिक है, शेष सब मन्त्र-तन्त्र की बातें कपोल-कल्पित हैं।

९. **'त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो'** अथर्व० ४.३१ तथा **'यस्ते मन्योऽविधद् वज्रसायक'** अथर्व० ४.३२ दोनों मन्युसूक्त हैं, जिनमें प्रत्येक में सात-सात मन्त्र हैं। इनमें मन्यु के मूर्त रूप सेनानी को शत्रुविजय के लिए उद्बोधन दिया गया है। इन पर कौशिक के कुछ विनियोग इस प्रकार हैं– स्वसेना और परसेना के मध्य में खड़ा होकर दोनों सेनाओं की ओर देखता हुआ इनका जप करे। भंग और मूंज के पाशों को अथवा कच्चे पात्रों को इन सूक्तों से संपातित और अभिमन्त्रित करके शत्रुसेना के संचारस्थलों में फेंक दे। जय-पराजय-विज्ञान के लिए शरतृणों को दोनों सेनाओं के मध्य में रखकर इन सूक्तों से अभिमन्त्रित कर आंगिरस अग्नि से जलाए। जिस सेना में धुआं पहुंचे उसका पराजय होगा, यह जाने।[९]

१०. **'ऋधङ्मन्त्रो योनिं'** अथर्व० ५.१ तथा **'तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्'** अथर्व० ५.२ दोनों नौ-नौ मन्त्रों के सूक्त हैं, जिनमें जीवात्मा के शरीर-धारण, संसार-क्षेत्र में अवतरण, मर्यादा-पालन आदि का वर्णन है। इन पर कौशिककृत विनियोगों में से कतिपय निम्नलिखित हैं – पुष्टिकर्मों में इन सूक्तों से मिश्रित धान्य और भुने-पिसे सत्तू को बकरी के रक्त और दधि-घृत-मधु-उदक रूप रस में मिला कर अभिमन्त्रित कर खा लें। पुष्टिनिमित्त ही तीन उदुम्बर- चमसों में या प्लक्ष-चमसों में मिश्रित धान्य को डालकर और दधि-मधु आदि रसों को मिलाकर अभिमन्त्रित कर पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण काल में एक-एक चमस खाए। पुष्टिकर्मों में ही ऋतुमती स्त्री के रक्त को दधि-मधु आदि रसों में मिश्रित कर संपातित एवं अभिमन्त्रित कर प्रादेशिनी और मध्यमा अंगुलियों से खाये।[१०]

११. **'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु'** अथर्व० ५.३ सूक्त में १२ मन्त्र हैं। अग्नि नाम से सेनानी को सम्बोधन कर कहा गया है कि तू शत्रुओं को पराजित करके हमारी रक्षा कर, जिससे हमारे मनोरथ पूर्ण हों और हमारा राष्ट्र उत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त कर सके। बाद के मन्त्रों में सोम, इन्द्र, सविता आदि से रक्षा की प्रार्थना की गयी है। इस सूक्त पर कौशिकसूत्र का एक विनियोग यह है-यदि पिता चाहे कि दायभाग के बंटवारे में कोई कलह उपस्थित न हो तो वह विभाग करते समय तेली की रस्सी को अभिमन्त्रित कर हाथ में पकड़ ले।[११]

१२. **'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्'** अथर्व० ५.६ सूक्त में १४ मंत्र हैं। प्रथम ब्रह्म का वर्णन कर यह प्रार्थना की गयी है कि तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों वाले सोम और रुद्र शत्रु की हिंसा कर हमें सुखी करें। अग्नि को सम्बोधन कर कहा गया है कि जो आंख से, मन से, विचार से, संकल्प से हमें पापी बनाना चाहें, उन्हें तू अपने शस्त्र से निहत्था कर दे। अन्त में इन्द्र की शरण जाने का संकल्प व्यक्त किया गया है। इस पर कौशिक के कुछ विनियोग इसप्रकार हैं– रोगी नीरोग हो जाएगा या नहीं यह जानने के लिए तीन स्नायु-रज्जुओं को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर अंगारों पर रख दें। यदि वे ऊपर चली जाएं तो समझें कि रोगी जीवित रहेगा।[१२] संग्राम में किसका जय या पराजय होगा, यह जानना हो तो तीन स्नायु-रज्जुओं को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर लें। फिर एक रज्जु अपनी सेना है, दूसरी मध्य की रज्जु मृत्यु है, तीसरी रज्जु शत्रु-सेना है, यह मन में सोचकर उन्हें अंगारों पर रख दें। जिसके ऊपर मृत्यु-रज्जु चली जाए, उसका पराजय होगा। जो मृत्यु-रज्जु के ऊपर चढ़ जाएगी, उसकी जीत होगी। जो सामने की ओर चली जाएगी उसकी भी विजय होगी।[१३] इसीप्रकार स्त्री के प्रसवदोष में और सूतिकारोग में इस सूक्त से भात को अभिमन्त्रित कर खिलाए तथा मथे हुए सत्तु को अभिमन्त्रित कर पिलाए।[१४]

१३. **'एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे'** अथर्व० ५.१५ तथा **'यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि'** अथर्व० ५.१६ दोनों ११–११ मन्त्रों के सूक्त हैं। प्रथम सूक्त में ऋतजाता, ऋतावरी मधुला ओषधि को सम्बोधन कर कहा है कि यदि एक और दस, दो और बीस, तीन और तीस, चार और चालीस, पांच और पचास, छह और साठ, सात और सत्तर, आठ और अस्सी, नौ और नब्बे, दस और सौ, सौ और हजार व्याधियां या दुर्वक्ता मुझे हानि पहुंचाने आयें, तो भी तू मुझे मधु प्रदान कर। द्वितीय सूक्त में रोगादि को ललकार कर कहा गया है कि चाहे तू अकेला आता है, या दो, तीन, चार, पांच, छह,

सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह के साथ आता है, तो भी तू हमें छोड़ दे, अब तू निर्बल हो गया है। इस पर कौशिक विनियोग करते हैं– गौओं के रोगोपशमन, पोषण तथा प्रजनन के कर्मों में लवणयुक्त या अकेले जल को प्रथम सूक्त से अभिमन्त्रित कर गौओं को पिला दें।[१५] दुष्ट वक्ता का मुख-स्तम्भन करना हो तो खलतुलपर्णी को मधु में बिलोए हुए सत्तुओं पर जर्जर करके उक्त दोनों सूक्तों से अभिमन्त्रित कर पिला दें। किसी का शाप लगा हो तो उसकी चिकित्सा के लिए द्वितीय सूक्त से गृहद्वार को अभिमन्त्रित कर बन्द करे।[१६]

१४. **'नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे'** अथर्व० ५.१८ और **'अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्'** अथर्व० ५.१९ ये दोनों ब्रह्मगवीसूक्त नाम से प्रसिद्ध हैं। जो राजा ब्राह्मण की गौ को खाता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है तथा उसका राष्ट्र तेजोविहीन हो जाता है, यह इन सूक्तों में प्रतिपादित किया गया है। विद्वान् व्याख्याकारों ने यहां गौ का अर्थ वाणी लिया है। ब्रह्मवित् ज्ञानी ब्राह्मण की वाणी या परामर्श की उपेक्षा करने का उक्त दुष्परिणाम राजा को भोगना पड़ता है, यह तात्पर्य है। यदि गौ का अर्थ यहां गाय पशु अभिप्रेत होता तो केवल ब्राह्मण की ही गाय को खाने का निषेध क्यों किया गया, गाय तो किसी भी वर्ण की क्यों न हो, अवध्य तथा अभक्ष्य है। कौशिक ने इन दोनों सूक्तों का विनियोग अभिचार-कर्म में किया है। यदि कोई ब्राह्मण की गौ को हरे, मारे, काटे, पकाए, खाए तो ब्रह्मचारी उस विद्वेषी का मन में ध्यान करके इन सूक्तों को जपे, तीन बार कहे कि वह मर जाए, बारह रात्रि व्रतपूर्वक रहे, द्वादशरात्र व्यतीत होने पर दूसरे दिन जब सूर्य उदित होगा तब शत्रु मरा मिलेगा।[१७] यहां यह अभिचारकर्म कौशिक का स्वाविष्कृत है।

१५. **'सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या'** अथर्व० ६.३८ चार मंत्रों का सूक्त है। इसमें यह कामना की गयी है कि जो तेजस्विता सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, हाथी, चीता, सुवर्ण, जल, गौ, पुरुष आदि में है, वह तेजस्विता ब्रह्मवर्चस् के साथ हमें भी प्राप्त हो। इससे अगला **'यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं'** अथर्व० ६.३९ आदि तीन मंत्रों का सूक्त है, जिसमें यशस्विता की प्रार्थना की गयी है। इन दोनों सूक्तों पर कौशिक का विनियोग है कि जिसे वर्चःप्राप्ति की इच्छा हो वह स्नातक, सिंह, व्याघ्र, बकरा, मेंढा, वृषभ और राजा इन सातों के नाभि-लोमों को लाक्षा से सान कर और ऊपर सुवर्ण चढ़ा कर इन सूक्तों से अभिमन्त्रित कर बांध ले, तथा

फ्लाश आदि दस शान्त वृक्षों के खण्डों से बनी हुई मणि को भी लाक्षा और हिरण्य से वेष्टित कर संपातित और अभिमन्त्रित करके बांधे।[१८] वस्तुतः तो सूक्त में भावना का बल है कि सिंह, व्याघ्र आदि में जो अपने-अपने प्रकार का तेजस्विता का गुण है उसे हम अपने अन्दर धारण करें। नाभि-लोमों को ही बांधना है तो अन्य प्राणियों के नाभि-लोम प्राप्त हो भी जायें, किन्तु सिंह, व्याघ्र और राजा के कैसे सुलभ हो सकेंगे? फिर सूक्त में तो सांप, ब्राह्मण, हाथी, चीता, गाय और घोड़े का भी नाम आया है, इन प्राणियों के भी लोम या अन्य काई शरीरावयव मणि बनाने में क्यों नहीं लिये गये?

१६. **'अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः'** अथर्व० ६.४२ आदि तीन मन्त्रों का मन्युशमन- सूक्त है। अपने प्रति क्रोध करने वाले मनुष्य को सम्बोधन कर कहते हैं– जैसे धनुष से प्रत्यंचा को उतार देते हैं, वैसे ही मैं तेरे हृदय से क्रोध को उतार देता हूं, तेरे क्रोध को मैं भारी पत्थर से कुचल देता हूं, तेरे क्रोध को मैं एड़ी और पंजे से रगड़ देता हूं, जिससे भविष्य में हम दोनों मित्र के समान रहें। पत्थर से कुचलना, एड़ी-पंजे से रगड़ना ये भाषा के मुहावरे हैं, जो भावना की तीव्रता को व्यक्त करते हैं। किन्तु कौशिक निम्न विनियोग प्रदर्शित करते हैं– स्त्री का पुरुष के प्रति या पुरुष का स्त्री के प्रति क्रोध हो तो कुपित की ओर देखते हुए पत्थर को अभिमन्त्रित कर हाथ में पकड़ **'सखायाविव सचावहा'** इस द्वितीय ऋचा को जपते हुए पत्थर को भूमि पर फेंक दे, फिर **'अभि तिष्ठामि ते मन्युं'** इस तृतीय ऋचाको जपते हुए उस पत्थर के ऊपर थूके। फिर उस कुपित पुरुष या स्त्री की छाया में सूक्त की तीनों ऋचाओं से धनुष को अभिमन्त्रित कर उस पर डोरी चढ़ाए।[१९] यहां विचारने योग्य है कि जिस कुपित पुरुष या स्त्री के प्रति ये क्रियाएं करने लगेंगे उसका क्रोध उतरेगा या और अधिक बढ़ जाएगा। फिर मन्त्र में तो धनुष से डोरी उतारने की उपमा दी गई है, पर विनियोग में धनुष पर डोरी चढ़ायी जा रही है।

१७. **'अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभिरक्षतु'** अथर्व० ६.७९ तीन मंत्रों का सूक्त है, जिसमें 'नभसस्पति संस्फान' देव से यह कामना प्रकट की गयी है कि वह हमारे घरों में धान्य की अपार समृद्धि ला दे। 'संस्फान' शब्द **'ओस्फायी वृद्धौ'** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है समृद्धि लाने वाला। 'नभसस्पति' से सायण ने प्रथम मंत्र में अग्नि, द्वितीय मंत्र में वायु और तृतीय मन्त्र में सूर्य गृहीत किया है। इसका अर्थ पर्जन्य भी कर सकते

हैं। हम वृष्टियज्ञ आदि से इन प्राकृतिक शक्तियों को अनुकूल करें, जिससे प्रचुर वर्षा होकर प्रभूत सस्य-सम्पत्ति उत्पन्न हो, यह अभिप्राय है। इस पर कौशिक का विनियोग इस प्रकार है–जिसे धान्यवृद्धि की इच्छा हो वह एक पत्थर पर जल छिड़क कर इस सूक्त से उसे अभिमन्त्रित कर जिसमें धान्य भरा जाता है उस कोठे के ऊपर उस पत्थर को रख कर एक-एक मन्त्र बोलता हुआ क्रमशः तीन धान्यमुष्टियां उसके ऊपर धरे।[२०] पाठक स्वयं देखें कि क्या इस विधि से धान्य-समृद्धि हो सकेगी।

१८. **'अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्'** अथर्व० ६.८० तीन मंत्रों का सूक्त है। इसमें 'दिव्य श्वा' के तेज से और हवि से रोग-निवारण (अरिष्टताति) का वर्णन है। यह 'दिव्य श्वा' साधारण कुत्ता नहीं, किन्तु द्युलोकवर्त्ती सूर्य है। तृतीय मंत्र में इस 'दिव्य श्वा' का परिचय इस रूप में दिया गया है कि जलों में तेरा जन्म है, द्युलोक में तेरा घर है, समुद्र, बादल और पृथिवी में तेरी महिमा है– **अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम्।** अब इस पर कौशिक का विनियोग देखिए– यदि कोई अंग कौए, कबूतर, बाज आदि पक्षी से विक्षत हो जाए तो कुत्ते के पैर के नीचे की मिट्टी लेकर उसे इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर विक्षत अंग पर उसका लेप कर दे।[२१]

१९. **'अग्ने जातान् प्रणुदा मे सपत्नान्'** अथर्व० ७.३४ तथा **'प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व'** अथर्व० ७.३५ क्रमशः एक एवं तीन मंत्रों के सूक्त हैं। दो मंत्रों में अग्नि (अग्रणी राजा या सेनानी) को कहा गया है कि तू उत्पन्न शत्रुओं को नष्ट कर दे तथा जो अनुत्पन्न अर्थात् अभी गर्भ में हैं उन्हें भी नष्ट कर दे; जो सेना लेकर हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करें उन्हें पददलित कर दे; इस प्रकार अपने राष्ट्र को तू समुन्नत एवं परिपूर्ण कर। अन्तिम दो मंत्रों में शत्रु-नारी को कहा गया है कि तुझे मैं गर्भ-धारण के अयोग्य कर दूंगा। इस पर कौशिक का विनियोग द्रष्टव्य है– शत्रु को निःसन्तान करने के लिए खच्चरी के मूत्र में पत्थर घिस कर इन सूक्तों के मंत्रों से अभिमन्त्रित कर भात के साथ एक स्त्री को खिला दे तथा वही मूत्र उसके आभूषणों पर लेप करे और उस स्त्री के सिर की मांग (सीमन्त) की ओर देखे।[२२] विचारणीय है कि यह खच्चरी (अश्वतरी) के मूत्र का विनियोग कहां से आ गया। सायण ने इस विनियोग का मूल वेदानुमोदित सिद्ध करने के लिए ही संभवतः **'अस्वं त्वाप्रजसं कृणोमि'** अथर्व० ७. ३६.३ की व्याख्या में 'अस्वं' के स्थान पर 'अश्वां' पाठ मान लिया है और अश्वतरी (खच्चरी) अर्थ कर लिया है तथा

यह आशय लिया है कि जैसे अश्वतरी मादा-सदृश अंग रखते हुए भी सन्तानहीन होती है, वैसे ही शत्रु-नारी भी सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाए। किन्तु मूल पाठ 'अस्वं' ही है, जिसका अर्थ होता है प्रसवयोग्यतारहित– **न सूते इति असूः, ताम् अस्वम्।** 'अश्वां' पाठ मानें तो अश्वा का अर्थ घोड़ी होता है, खच्चरी नहीं, और घोड़ी सुप्रसवा होने का प्रतीक है, न कि अप्रसवा होने का।

२०. **'नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे'** अथर्व० ७.११६ दो मंत्रों का सूक्त है, जिसमें उष्णज्वर, शीतज्वर, दो दिन छोड़ कर आने वाला ज्वर आदि ज्वरों को दूर से ही नमस्कार करते हुए यह भावना व्यक्त की गयी है कि हम इन्हें निश्चय ही नष्ट कर देंगे। इस पर कौशिककृत विनियोग यह है–सब ज्वरों को दूर करने के लिए ज्वरग्रस्त की शय्या के नीचे सिरकियों से कसे हुए एक मेंढक को नीले-लाल दो सूत्रों से बांध कर रख दे और ज्वरग्रस्त के ऊपर इस सूक्त की दोनों ऋचाओं के द्वारा अभिमन्त्रित जल के छींटे दे। कह सकते हैं कि मेंढक में ज्वर के चले जाने का संकेत मंत्र में भी आया है– **यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्येत्वव्रतः** (मंत्र २)। पर यहां मण्डूक शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय मण्डूकपर्णी आदि किसी ओषधि से है। यदि मेंढक में ज्वर को हरने की क्षमता होती तो वर्षा ऋतु में, जबकि आस-पास मेंढक ही मेंढक रहते हैं, यह रोग न फैलता। कौशिक ने मंत्र में मण्डूक शब्द देखकर उपर्युक्त टोटके का अविष्कार कर लिया है।

इस प्रकार के टोटके कौशिकसूत्र में भरे पड़े हैं, जिनका मन्त्रार्थ के साथ कोई संबन्ध नहीं है। अनेक विनियोग मारण, उच्चाटन, वशीकरण, कृत्यानिर्हरण, अभिचार, मणि-बन्धन आदि परक भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कौशिक एक तान्त्रिक था, जिसने अथर्ववेद का उपयोग अपनी तन्त्रविद्या के प्रचार के लिए किया। परवर्ती सायण आदि विद्वान् बिना देखे-भाले उसी का अन्ध अनुकरण करते रहे।

वस्तुतः पूर्वकृत विनियोगों का वेद के साथ कोई नित्य संबन्ध नहीं है। कौशिक ने भी एक-एक सूक्त पर कई-कई विनियोग लिखे हैं तथा इतर आचार्यों ने उनसे भिन्न स्वतंत्र ही विनियोग दिखाये हैं। अतः स्वामी दयानन्द की परख-कसौटी के अनुसार वे ही

विनियोग मान्य हैं जो युक्तिसिद्ध एवं वेदादिप्रमाणानुकूल हों तथा मन्त्रार्थ से संपुष्ट होते हों।

पाद–टिप्पणियां

१. कौ० सू० २६.९-१२
२. कौ० सू० ३७.३-१२
३. कौ० सू० ५४.११
४. कौ० सू० १९.१४–१७
५. कौ० सू० १४.२२
६. कौ० सू० १२.५,६
७. कौ० सू० ४४.१–४, ४५.१
८. कौ० सू० ४१.१–७
९. कौ० सू० १४.२६–३१
१० कौ० सू० २२.१–५
११. कौ० सू० ३८.२६
१२. कौ० सू० १५.१२–१४
१३. कौ० सू० १५.१५–१८
१४. कौ० सू० २८.१५,१६
१५. कौ० सू० १९.१
१६. कौ० सू० २९.१५,१७
१७. कौ० सू० ४८.१३–२२
१८. कौ० सू० १३.३–५
१९. कौ० सू० ३६.२८–३१
२०. कौ० सू० २१.७
२१. कौ० सू० ३१.१८, १९
२२. कौ० सू० ३६.३३, ३४

वेद के अनेक देवों में एक ईश्वर की झांकी

भारत में बहुत समय से भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की पूजा चली आती हैं। यह तो एक प्रचलित विश्वास रहा हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन स्वतंत्र देव हैं; ब्रह्मा जगत् को रचते हैं, विष्णु इसका पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं। इसके अतिरिक्त भी सैंकड़ों देवी-देव हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। उनकी पूजा करने से, उन्हें अर्घ्य-पत्र-पुष्प देने से, वे प्रसन्न होते हैं और अपनी कृपा हम पर बनाये रखते हैं। 'सूर्य' देवता की पूजा आज भी होती हैं। लोगों का विश्वास हैं कि यदि सूर्य देव प्रकुपित हों जाएं तो सूर्य का निकलना बंद हो जाए और हम अंधेरे में पड़े रहें। वृक्षों का एक स्वतंत्र 'वनस्पति' देवता हैं, आज भी बहुतेरी अशिक्षित स्त्रियां पुत्र को पाने, पति की बीमारी दूर करने आदि के लिए भिन्न-भिन्न वृक्षों की पूजा करती हैं। आज भी काली माई की पूजा होती हैं, शीतला देवी की पूजा होती हैं, गणेश की पूजा होती हैं। तो देखना यह हैं कि क्या यह बहुत से देवताओं की पूजा वेदमूलक है? क्या वेद में भी संसार को रचने वाले, पालने-पोसने वाले अनेक देव माने गए हैं? वेद आर्यमात्र की सब से प्रथम प्रामाणिक धर्मपुस्तक हैं। इसलिए इसका अनुसंधान होना ही चाहिए कि वेद इस विषय में क्या कहता हैं? महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेद पर अपनी लेखनी इसीलिए उठायी, स्थान-स्थान पर लेख, व्याख्यान आदि से वेद की चर्चा, वेद-विषयक शास्त्रार्थ इसीलिए किए क्योंकि उन्होंने देखा कि प्रत्येक हिन्दू वेद पर अटल श्रद्धा रखता हैं, और वेद के नाम पर अनेक बुराइयां भी प्रचलित हैं। यदि किसी बुराई के विषय में उसे विश्वास हो जाए कि वह वेद-विरुद्ध है, तो उसे छोड़ने के लिए वह आसानी से तैयार हो सकता हैं। इसीलिए कोई मत या प्रचलित विश्वास वेदमूलक हैं या नहीं इस विचार का अपने आप में बहुत महत्त्व है। तो आइये, सूक्ष्म छानबीन करके देखें कि वेद बहुदेवतावादी हैं या एकदेवतावादी।

पूर्वपक्ष—वेदों में अनेक देवों का वर्णन

पुंलिंगी देव

वेदों को आदि से अन्त तक पढ़ जाइए। आपको अनेकों देवों के नाम मिलेंगे, अनेक देवियों की स्तुति मिलेगी।[१] कहीं वेद अग्नि देव की स्तुति कर रहा हैं, तो दूसरी जगह वह वायु देव को पुकार रहा हैं। कहीं मित्र देवता की पूजा हैं, तो दूसरे स्थान पर वरुण की पूजा हैं। वेद का स्तोता कभी भक्ति की तरंग में आकर इन्द्र के गीत गा रहा हैं, तो कभी वह विष्णु की आराधना करता दिखायी देता है। कहीं वह प्रजापति को बुला रहा हैं, तो कहीं सविता की खुशामद कर रहा हैं। कभी प्रजापति को बुला रहा हैं, तो कभी रुद्र देवता को रिझा रहा हैं। कहीं अश्विनौ की पुकार मचायी गयी हैं, तो कहीं मरुत् देवों की तारीफ में सूक्त के सूक्त लिख दिये गये हैं।

कहीं वेद मौत के देवता यम से प्रार्थनाएं कर रहा हैं, तो कहीं पूषा के आगे फरियाद लिये खड़ा हैं। और भी मित्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वास्तोष्पति, त्वष्टा, सूर्य, भग, पर्जन्य, वैश्वानर, जातवेदस्, आप: आदि सैकड़ों देवता वेद की स्तुति के पात्र बने हैं। कई पौराणिक देवता भी वेद में वैसे के वैसे मिलते हैं। वामनावतार लेकर अपने कदमों से त्रिलोकी को माप लेने वाले विष्णु के दर्शन वेद में भी होते हैं।[२] अपने भाल-प्रदेश में तीसरे नेत्र को रखने वाले और इसीलिए तीन नेत्र होने के कारण त्र्यम्बक कहाने वाले शिव जी भी उसी त्र्यम्बक[३] नाम से वेद में दिखायी देते हैं। पशुपति कहलाने वाले रुद्र की झांकी भी वेद में मिलती हैं।[४] शची के पति इन्द्र देव भी वेद में पूरी सजधज से विद्यमान हैं।[५] यहां तक कि इन्द्र-वृत्र के युद्ध का कथानक और इन्द्र के शतक्रतु होने का वर्णन भी वेद में वैसा का वैसा विद्यमान है।[६] देवताओं के कारीगर विश्वकर्मा[७] तथा स्वष्टा[८] और देव-वैद्य अश्विनौ[९] को भी आप वेद के सूक्तों में विराजमान पायेंगे। सुरों के आचार्य बृहस्पति[१०] भी वेद में हैं, और गणपति गणेश[११] भी आपको वेद में मिलेंगे।

इन पुंलिंग देवों की तरह अनेक स्त्री देवियां भी वेद में आयी हैं। वेद के वर्णनों से विदित होता है कि प्रत्येक देव के साथ उसकी एक-एक पत्नी भी हैं। उदाहरणार्थ अथर्व० ११.६.१९ में पाप-मोचन की प्रार्थना करते हुए कहा हैं— **विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः। विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।** अर्थात् सब देवों से हम विनति करते हैं कि वे अपनी-अपनी पत्नियों के साथ मिलकर हमें पाप से छुड़ायें। जैसे पुराणों में इन्द्र की पत्नी

शची हैं, विष्णु की लक्ष्मी हैं, महादेव की पत्नी पार्वती हैं, वैसे ही वेद में भी इन्द्र की पत्नी शची या इन्द्राणी हैं, वरुण की पत्नी वरुणानी हैं, अग्नि की पत्नी अग्नायी है, रुद्र की पत्नी रोदसी हैं। ऋ० १.२२.१२ में सोम-पान के लिए इन देवियों को इस प्रकार बुलाया गया है-**इहेन्द्राणी-मुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये।।** जैसे भिन्न- भिन्न देवों की अपनी-अपनी पत्नियां हैं, वैसे ही वेद में कई स्वतंत्र देवियों की भी स्तुति पायी जाती है। "**इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।।** ऋ० १.१३.९", इस प्रसिद्ध मंत्र में इडा, सरस्वती और मही इन तीन देवियों का आह्वान किया गया है। मही के स्थान पर वेद में दूसरा नाम भारती भी आता है। सब देवों की एक माता अदिति देवी प्रसिद्ध ही है। जंगल की भी एक देवी 'अरण्यानी' मानी गयी है। उषाकाल की देवी उषा और रात की देवी रात्रि भी वेद में स्थान-स्थान पर वर्णित हुई हैं। उर्वशी नाम की अप्सरा, जिससे पौराणिक साहित्य रंजित है, वेद में भी मिलती है। पुराणों की पार्वती और वेद की गौरी भी संभवतः एक ही हैं। इसीप्रकार पृथिवी, श्रद्धा, सरमा, अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू, यमी, सूर्या, वृषाकपायी, सरण्यू आदि अन्य अनेक देवियां भी वेद में मिलती हैं।

देवों के अंग, आयुध, वाहन आदि

वर्णन की शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल यही नहीं कि वेद में अनेक देव उल्लिखित हुए हैं, किन्तु वे शरीरधारी भी हैं। उनके बाहु, जिह्वा, मुख, कान, हाथ, मुट्ठी आदि अवयवों का वर्णन मिलता है। देखिए -'हे इन्द्र, तेरी बाहुएं बड़ी दर्शनीय हैं, तेरी मुट्ठी महान् है। ऋ० ६.४७.८; ३.३०.५"; 'हे सुन्दर जिह्वा वाले अग्नि देव, मधु का पान कर। ऋ० १.१४.७"; 'हे सुनने वाले कानों से युक्त इन्द्र, मेरे आह्वान को सुन। ऋ० १.१९.९"; "सुनहरे हाथों वाले सविता को मैं पुकारता हूं। ऋ० १.२२.५; हे अग्नि, तेरे मुख चारों ओर हैं, तू सर्वव्यापक है। ऋ०१.९७.६"। इसीप्रकार देवों के रथ, शस्त्रास्त्र आदि का वर्णन भी वेद में आया है। रथ तो प्रायः सभी देवों के पास हैं। स्तोता स्तुति करता हुआ देवों से कहता है कि झट से तुम अपने रथ पर चढ़ कर मेरे पास आ जाओ। भिन्न-भिन्न देवों के पास अपने-अपने आयुध भी हैं। त्वष्टा के पास कुल्हाड़ी या परशु (आयसी वाशी) है, **वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीम्** ऋ० ८.२९.३; इन्द्र के पास वज्र है, **इन्द्रो वज्री हिरण्ययः**

ऋ० १.७.२; रुद्र के पास भी एक नोकीला शस्त्र (तिग्म आयुध) है, **तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः** ऋ० ७.४६.१। पूषा के पास सोने की कुल्हाड़ी (हिरण्यवाशी) और आरी (ब्रह्मचोदनी आरा) है, **हिरण्यवाशीमत्तम** ऋ० १.४२.६; **यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे** ऋ० ६.५३.८। वेद के देवता कवच भी पहनते हैं। जैसे, वरुण के पास सोने का कवच है, **बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम्** ऋ० १.२५.१३। पुराणों में भिन्न-भिन्न देवों के वाहनों का वर्णन आता है; वहां विष्णु का वाहन शिशुमार है, धर्मराज का वाहन भैंसा (महिष) है, देवराज का वाहन एक बड़ा हाथी (महागज) है, अश्विदेवों के वाहन घोड़े (हय) हैं। वैसे ही वेद में भी अनेक देवों के अपने-अपने वाहन हैं। इन्द्र के वाहन 'हरी' हैं, अग्नि के 'रोहित' हैं, अश्विनों के वाहन गधे (रासभ) हैं, पूषा के वाहन बकरियां (अजाः) हैं।[१२] भिन्न-भिन्न देवों के वाहन अलग-अलग होना भी इसी बात को बताता है कि वे सब देव अलग-अलग हैं और अलग-अलग सवारियों पर चढ़ते हैं, और इस प्रकार वेद में एक देव नहीं, अपितु अनेक देव प्रतिपादित हुए हैं।

देवों की संख्या

इसकी पुष्टि के लिए एक अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि वेद में देवों की संख्या अनेक कही गयी है। वेद के बहुत से स्थलों में यह संख्या ३३ बतायी गयी है। जैसे, "**इति स्तुतासो असथ रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः**, ऋ० ८.३०.२", अर्थात् हे पूजनीय देवो, जो तुम संख्या में तेंतीस हो, वे स्तुति पाकर मनुष्य के रक्षक होते हो। कई स्थानों पर इस तेंतीस की संख्या को इस प्रकार भी विभक्त किया गया है कि इनमें से ११ देव पृथिवी पर, ११ देव अन्तरिक्ष में और ११ द्युलोक में हैं।[१३] दूसरी जगह इस संख्या को बढ़ाकर बहुत विस्तृत कर दिया गया है, तीन हजार तीन सौ उनतालीस "**त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्**, ऋ० ३.९.९"। इससे इतना तो प्रतीत होता ही है कि वेद की दृष्टि में एक नहीं, किन्तु अनेक देवता हैं, फिर उनकी निश्चित संख्या चाहे कुछ भी हो।

एक कल्पना—वेद के देवता प्राकृतिक पदार्थ हैं

अभी हमने देखा है कि वेद में नाना देवों का वर्णन आता है। तो ये देव क्या हैं? इन देवों में कई तो स्पष्ट ही प्राकृतिक पदार्थ मालूम होते

हैं। कहा जा सकता है कि वायु देव चलने वाली हवा ही है, अग्निदेव आग है, सूर्य देव यह प्रकाश देने वाला सूरज हैं, रात्रि देवी रात हैं, उषा देवी उषाकाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इससे एक विचार यह उठता हैं कि जैसे ये अग्नि, वायु, सूर्य आदि देव प्राकृतिक पदार्थों के वाचक हैं, वैसे ही वेद के अन्य सभी देव इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, अश्विनौ आदि भी किन्हीं प्राकृतिक पदार्थों के ही द्योतक होने चाहिएं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने अपनी ''धर्म का स्रोत (The Origin of Religion)''नामक पुस्तक में यही कल्पना की हैं। वह कहता हैं कि प्राचीन वैदिक युग के लोग प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उन पर मुग्ध हो जाते थे और उमंग में भर नाच-नाच कर उनके गीत गाया करते थे। ये गीत ही वेदमन्त्र हैं, और जिन प्राकृतिक पदार्थों को लक्ष्य करके वे गाये गये हैं वे हैं वेद के देवता। प्रभात काल में खिलती हुई उषा को देख कर प्राचीन ऋषि प्रमुदित होकर चिल्ला उठते थे, ''**एता उ त्या प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्जोतिर्यच्छन्ती-रुषसो विभातीः**, ऋ० ७.७८.३., ये देखो, सामने ज्योति प्रदान करती हुई चमकीली उषाएं दिखायी देने लगी हैं।'' रात्रि के बाद दैनिक सूर्योदय के अद्भुत दृश्य को देखकर सहसा उनके मुख से निकल पड़ता था, ''**तच्चक्षुर्दे-वहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्**, यजु० ३६.२४ , वह देखो, देवों के लिए हितकारी चमकीला प्रकाशक सूर्य उदित हो गया है।'' अग्निहोत्र में जब घृत की आहुति पाकर अग्नि की ज्वालाएं चमकती थीं, तब वे उसकी स्तुति में गा उठते थे, ''**शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने बृहद् विरोचसे । त्वं घृतेभिराहुतः**, ऋ० २.७.५, हे अग्ने, घृत की आहुति पाकर तू कैसा चमक उठता है।'' वायु के शब्द को सुन कर वे आश्चर्यविमुग्ध होकर कहते थे, ''**घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपम्**, ऋ० १०.१३८.४, देखो, कैसा अद्भुत यह वायु-रथ है, इसका शब्द तो सुनायी देता है, पर रूप नहीं दीखता।''मैक्समूलर की इस कल्पना में से ऐतिहासिकता के अंश को निकाल दिया जाए तो इसका सार यही है कि वेद के देवों द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का ही महिमा-गान किया गया हैं।

निरुक्त व ब्राह्मणग्रन्थों का आधार

यास्काचार्य का निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थ भी मैक्समूलर की इस कल्पना के आधार हुए हैं। निरुक्तकार ने वेद के सब देवों को पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ इन तीन स्थानों में बांट दिया है, और प्रत्येक देवता को

प्राकृतिक रूप देने का यत्न किया है। इस प्रकार उनके मत में अग्नि, वैश्वानर, जातवेदस्, द्रविणोदस्, नद्यः, आपः आदि पृथिवीस्थानीय देवगण हैं; वायु, मित्र, वरूण, रुद्र, इन्द्र, पर्जन्य, यम आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय देव हैं; और अश्विनौ, उषाः, सूर्या, पूषा, विष्णु, यम, सविता आदि द्युस्थानीय देव हैं। एवं वेद का रुद्र देवता मध्यमस्थानीय होने से गड़गड़ाने वाला बादल, बिजली या वायु ही है, न कि पुराणोक्त चण्डिकापति शिव। विष्णु सूर्य है, न कि कोई पौराणिक देवता। यम भी वायु का नाम है, यह मौत का कोई देवता नहीं हैं। अश्विनौ दिन-रात, द्यावापृथिवी, सूर्य-चन्द्र, उत्तर रात्रि के पूर्वापरभाग, प्राणापान आदि युगलों को सूचित करते हैं, ये कोई तथाकथित देवताओं के वैद्य नहीं हैं। इसीप्रकार वेद के अन्य सब देव भी निरुक्तकार की दृष्टि में किन्हीं प्राकृतिक पदार्थों के ही नाम हैं। ब्राह्मणवाक्य भी भिन्न-भिन्न देवों को प्राकृतिक पदार्थों का रूप देते दिखायी पड़ते हैं। उनके मत में यह सूर्य ही सविता देव हैं, **असावाऽऽदित्यो देवः सविता,** श० ६.३.१.१८; यह बहने वाली हवा ही वायु हैं, **अयं वै वायुर्योऽयं पवते,** श० १.७.२.३; ये द्यावापृथिवी ही अश्विनौ हैं, **इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ,** श० ४.१.५.१६, यह ताप देने वाला सूर्य ही इन्द्र है, **एष एवेन्द्रो य एष तपति,** श० १.६.४.१८; दिन रात ही मित्र-वरुण हैं, **अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः,** ऐ० ४.१०.१ ।

प्राकृतिक देवों के अंग आदि कैसे?

यहां यह शंका स्वभावतः उठेगी कि यदि वेद के भिन्न-भिन्न देव प्राकृतिक पदार्थ ही हैं, तो उनके हाथ, पैर, आंख, नाक, कान आदि अंगों का क्या अभिप्राय हैं? इसके उत्तर में मैक्समूलर ने बड़ा अच्छा कहा हैं, "यदि वसिष्ठ, विश्वामित्र या अन्य ऋषि आज होते और उनसे हम पूछ पाते कि क्यों भाई, क्या तुम सचमुच यह मानते हो कि यह सुनहरा तेज का गोला सूर्य कोई मनुष्य जैसा शरीरधारी है, जिसके हाथ-पैर हैं, हृदय है, फुप्फुस है, तो वे ऋषि निःसन्देह हंस पड़ते और हमें कहते कि यद्यपि तुमने हमारी भाषा को समझ लिया है, पर भाव को तुम नहीं समझ पाये"।[१४] अभिप्राय यह है कि प्राकृतिक पदार्थों के हाथ-पैर आदि अंगों का वर्णन आलंकारिक है। वेद प्राकृतिक पदार्थों के अंगों का वर्णन

करता है, इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह उन्हें कोई शरीरधारी चेतन मानता है। ज्वालाएं ही अग्नि की जिह्वा या मुख हैं, सूर्य की किरणें ही सूर्य की बाहुएं हैं। इसी प्रकार अन्य देवों के विषय में समझना चाहिए। और जैसे अंगों का वर्णन आलंकारिक है, वैसे ही उनके वाहन, रथ, कवच, आयुध आदि के वर्णन को भी आलंकारिक रूप में ही लेना चाहिए।

प्राकृतिकदेवतावाद की समीक्षा

वेद के देवता प्राकृतिक पदार्थ ही हैं, यह मैक्समूलर की कल्पना अभी हमने प्रस्तुत की है। कहां तक यह मान्य है और किन अंशों में मान्य नहीं है? यह तो ठीक है कि इससे इस भ्रम का निवारण हो जाता है कि वेद के देवता भिन्न-भिन्न ईश्वर हैं और वेद में नाना ईश्वरों की पूजा का विधान है; पर इसमें दोष यह है कि यह एकपक्षी है, क्योंकि इसके अनुसार देवता केवल प्राकृतिक पदार्थों के ही वाचक रह जाते हैं, उनका और कोई अर्थ नहीं रहता। यदि स्थापना यह होती की वेद के देवता प्राकृतिक पदार्थों के 'भी' वाचक हैं, न कि प्राकृतिक पदार्थों के 'ही', तब यह कल्पना उपादेय हो सकती थी; क्योंकि तब इसका अभिप्राय यह होता कि वैदिक देव प्राकृतिक पदार्थों के वाचक भी हैं, और साथ ही उनके अन्य अर्थ भी हैं। वेद के देव अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। उनके आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, यह ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य से स्पष्ट है। कहीं-कहीं वेद स्वयं भी इस विषय में प्रमाण है। उदाहरण के लिए सोम के अनेक अर्थ बताते हुए वेद कहता है– **सोमेनाऽऽदित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः**, ऋ० १०.८५.२, अर्थात् एक वीर्यरूपी सोम है जिससे आदित्य ब्रह्मचारी बली बनते हैं; एक सोमलतारूपी सोम है, जिससे भूमि महिमाशाली बनी है, तीसरा सोम चन्द्रमा है जो कि नक्षत्रों के बीच में स्थित है। साथ ही अन्य कई मन्त्रों से स्पष्ट है कि गोदुग्ध और मधुर जल को भी सोम कहते हैं और रसमय परमेश्वर का नाम भी सोम है। शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों में भी "**रेतः सोमः**, कौ० १३.७, **प्राणः सोमः** श० ७.३.१.२" आदि वचनों से सोम के विभिन्न अर्थ बताये गये हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी प्राकृतिक अर्थों के साथ-साथ कहीं-कहीं आध्यात्मिक आदि अन्य अर्थ भी दिखाये हैं। मुख्यतः प्राकृतिक अर्थ

उसने इसलिए किये हैं, क्योंकि वह प्रधानतः इसी उद्देश्य को लेकर चला है, न कि इसलिए कि अन्य अर्थों को वह अस्वीकार करता है। उदाहरणार्थ, सोम का अर्थ वह चन्द्रमा और सोमलता भी करता है, और साथ ही परमात्मा या आत्मा भी।[१५] अग्नि का अर्थ उसने यज्ञाग्नि भी किया हैं और परमात्मा भी।[१६] पर प्राकृतिकदेवतावाद की कल्पना प्रकृति-भिन्न सब अर्थों का बहिष्कार कर देती है, इसलिए एकपक्षी होने से पूरी तौर से मान्य नहीं हो सकती। साथ ही यह जिस ऐतिहासिकता के विचार को लेकर चली है वह भी निरा काल्पनिक होने से सर्वमान्य नहीं हो सकता।

दूसरी कल्पना—अभिमानिदेवतावाद

वेद के नाना देवों की व्याख्या के लिये एक और कल्पना की गयी है, वह है अभिमानी-देवता की कल्पना। मैकडानल लिखते हैं, ''ऋषियों ने देखा कि मानव-जीवन की प्रत्येक क्रिया चेतन द्वारा होती हैं, अतः उन्होंने परिणाम निकाला कि प्रकृति की प्रत्येक क्रिया भी चेतन द्वारा ही होनी चाहिए। अग्नि, वायु आदि प्रत्येक के पीछे उन्होंने उसकी अधिष्ठात्री पृथक्-पृथक् देवता की भी कल्पना कर ली; और उस देवता के अपने समान आकृति, अंग-प्रत्यंग, रथ, घोड़े खान-पान-सामग्री आदि भी कल्पित कर लिए।''[१७] जहां मैक्समूलर अपनी कल्पना के अनुसार वैदिक अग्नि को आग मात्र और आदित्य को प्राकृतिक सूर्य मात्र समझता है, वहां मैकडानल वेद के अग्नि को आग नहीं, बल्कि आग का अधिष्ठाता देव मानता है; आदित्य को सूर्य नहीं, किन्तु सूर्य का एक चेतन अधिष्ठाता देव समझता है। इस प्रकार प्रकृति के पदार्थों के अपने-अपने स्वतंत्र अधिष्ठाता देव हैं। वेद उन्हीं देवों की स्तुति कर रहे हैं। प्रसिद्ध वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने भी अभिमानी-देवता की कल्पना की थी। वेदों में ओषधि, पाषाण, अग्नि आदि जड़ पदार्थों की चेतन की तरह स्तुति क्यों की गयी है, इस शंका का उत्तर वे यह देते हैं कि वहां उन-उन अचेतन पदार्थों के नाम से उनके अधिष्ठाता चेतन देवता की ही स्तुति समझनी चाहिए।

> **ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवताः तेन तेन नाम्ना संबोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता वादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु । ब्र० सू० २.१.५' इति सूत्रे सूत्रिताः—**
> उपोद्घात, ऋग्भाष्य, सायण ।

इसप्रकार यदि वेद में प्रत्येक पदार्थ की भिन्न-भिन्न अधिष्ठात्री देवता हैं, तो फिर अनेक देवता सिद्ध होते हैं। और फिर हम उसी समस्या में आ पड़ते हैं कि वेद बहुत से देवताओं का वर्णन करता हुआ एकेश्वरवादी कैसे हो सकता है? या तो बहुत से देवों के वर्णन के आधार पर यह मानें कि वेद अनेकेश्वरवादी हैं, नहीं तो वेदों को एकेश्वरवादी सिद्ध करने के लिए हमें स्वयं वेद से ही ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिएं, जिनमें यह कहा गया हो कि ब्रह्माण्ड का शासक एक ही है। और ऐसे प्रमाण मिल भी जाएं तो फिर इसकी संगति भी लगानी चाहिए कि कैसे एक ओर बहुत से देवता होते हुए भी ब्रह्माण्ड का शासक एक ही है?

एक ईश्वर में प्रमाण

तो आइये, परीक्षा करके देखें कि क्या वेद में कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि जगत् का कोई एकच्छत्र राजा है। सचमुच इस विषयक प्रमाण वेद में बिखरे पड़े हैं। कुछ नमूने देखिए-

१. य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ऋ० १.७.९, जो एक ही सब मनुष्यों का और वसुओं का ईश्वर है।

२. य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ऋ० १.८४.६, जो एक ही है और दानी मनुष्य को धन प्रदान करता है।

३. य एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम् ऋ० ६.२२.१, जो एक ही है और मनुष्यों से पुकारने योग्य है।

४. पतिर्बभूवासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ऋ० ६.३६.४, हे परमेश्वर (इन्द्र) , तू सब जनों का एक अद्वितीय स्वामी है, तू अकेला समस्त जगत् का राजा है।

५. य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ऋ० ६.४५.१६, हे मनुष्य, जो परमेश्वर एक ही है उसी की तू स्तुति कर, वह सब मनुष्यों का द्रष्टा है।

६. एक ईशान ओजसा ऋ० ८.६.४१, तू एक ही अपने पराक्रम से सबका ईश्वर बना हुआ है।

७. द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ऋ० १०.८१.३, विश्व को रचने वाला एक ही देव है, जिसने आकाश और भूमि को जन्म दिया है।

८. नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेवा यथा त्वम् ऋ० ४.३०.१, हे दुष्टों को दंड देने वाले परमेश्वर, तुझ से अधिक उत्कृष्ट और तुझ से बड़ा संसार में कोई नहीं है, न ही तेरी बराबरी का अन्य कोई है।

९. अनेजदेकं मनसो जवीयः यजु० ४०.४, वह ईश्वर अचल है, एक है, मन से भी अधिक वेगवान् है।

१०. मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः अथर्व० २.२.२, पृथिव्यादि लोकों का धारण करने वाला वह परमेश्वर हमें सुख देवे, जो जगत् का स्वामी है, एक ही है, नमस्कार करने योग्य है, बहुत सुख देने वाला है।

११. समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् अथर्व० ६.२१.१, आओ, सब मिलकर स्तुति-वचनों से इस परमात्मा की पूजा करो, जो आकाश का स्वामी है, एक है, व्यापक है और हम मनुष्यों का अतिथि है।

१२. न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं निगतं सहः। स एष एक एकवृदेक एव। अथर्व० १३.४.१६-२०, वह परमेश्वर एक है, एक है, एक ही है। उसके मुकाबले में कोई दूसरा, तीसरा, चौथा परमेश्वर नहीं है, पांचवां, छठा, सातवां नहीं है, आठवां, नौवां, दसवां नहीं है। वही एक परमेश्वर चेतन-अचेतन सबको देख रहा है।

इस प्रकार नमूने के रूप में जो एक दर्जन प्रमाण हमने दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि वेद के विचार में संसार का शासक ईश्वर एक ही है। इसके अतिरिक्त ऐसे मन्त्र भी वेद में मिलते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि अभिमानी-देवता की कल्पना अर्थात् प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठाता पृथक्-पृथक् ईश्वर मानने की कल्पना वेद को अभिमत नहीं है। यजुर्वेद का अन्तिम मन्त्र है- **योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म,** यजु० ४०.१७। परमेश्वर अपना परिचय दे रहा है कि मेरा नाम ओ३म् है, मैं आकाशवत् व्यापक हूं, मैं ब्रह्म हूं; जो तुम्हें अपनी कल्पना में आदित्य में पुरुष दिखायी देता है, वह मैं ही हूं। अभिप्राय यह है कि यह मत समझो कि आदित्य का कोई स्वतन्त्र अधिष्ठाता देव है, वहां भी मेरी ही शक्ति काम कर रही है। इसीप्रकार

प्रजापति परमेश्वर का वर्णन करता हुआ वेद कहता है-**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**, यजु० ३२.५, वह सोलहों कलाओं से पूर्ण प्रजापति तीनों ज्योतियों अर्थात् अग्नि, विद्युत् और सूर्य में समवेत है। इससे भी यही अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि का कोई स्वतंत्र अभिमानी देवता नहीं है, किन्तु प्रजापति परमेश्वर ही उनमें बैठा हुआ कार्य कर रहा है।

समन्वय कैसे करें? अनेकता में एकता

अब एक समस्या उत्पन्न होती है। एक ओर तो वेद मित्र, वरुण, अर्यमा, अग्नि, इन्द्र, अश्विनौ आदि नाना देवों की सत्ता की घोषणा करता है, दूसरी ओर वह कहता है कि एक ही देव जगत् का ईश्वर है। तो इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातों में समन्वय कैसे करें? एक दृष्टान्त लेते हैं। कोई परदेसी किसी अपरिचित देश में पहुंचा, वहां के राजा थे उदयवीर सिंह। लोगों से उसने पूछा, यहां राजा कौन है? लोगों ने कहा, महाराज उदयवीरसिंह। वह उसी देश के एक और प्रान्त में पहुंचा, वहां किसी ने बताया कि यहां वीरसिंह का राज्य है। तीसरे प्रान्त में पहुंचा, वहां उसने सुना कि प्रतापसिंह यहां के राजा हैं। यात्रा करते हुए चौथे प्रान्त में पहुंचा, वहां राजा का नाम लक्ष्मीसिंह सुनने को मिला। जिन्होंने उदयवीरसिंह नाम न बता कर अन्य नाम बताये थे, उनका अभिप्राय अपने-अपने प्रान्त के शासक से था। पर परदेशी यह नहीं समझ पाया, सोचने लगा की आखिर इस देश का राजा है कौन? सभी तो राजा हो नहीं सकते। एक ओर तो उसे यह मालूम था कि यहां का राजा एक ही है, दूसरी ओर अनेक राजाओं के नाम सुन रहा था। वह समझा लोगों ने उससे हंसी की है। पर जब उसे रहस्य का पता लगा तब वह समझ गया कि असली महाराजा तो उदयवीर ही हैं, पर अन्य राजा उनके नीचे काम करने वाले प्रान्ताधिपति हैं। अपने देश का ही उदाहरण लीजिए। वस्तुतः तो भारत का एक ही राजा है, जो यहां का राष्ट्रपति है। पर तो भी कहा जाता है कि यहां अनेक राजा राज्य करते हैं। प्रधानमंत्री भी यहां का राजा है, प्रान्तों के राज्यपाल या मुख्यमंत्री भी अपने-अपने प्रदेशों के राजा हैं। जिलाधीश अपने-अपने जिले के राजा हैं। प्रत्येक नगर और ग्राम के भी नगराधिपति या ग्रामाधिपति हैं। तो, जो कहता है कि भारत का एक राजा है वह भी ठीक है, और

दूसरा जो यह कहता है कि भारत में बहुत से राजा हैं, उसका कहना भी ठीक है। भेद यहां केवल दृष्टिकोण का है। यही बात वेद के विषय में है। सबसे बड़ा देवता एक परब्रह्म परमेश्वर है, अन्य नाना देवता उसके नीचे काम करने वाले हैं। यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक साहित्य में अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्र, यम आदि को आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि क्षेत्रों के भेद से भिन्न-भिन्न सिद्ध किया गया है। अग्नि प्रकृति में आग है, शरीर में मन है, राष्ट्र में सेनानी है। इन्द्र प्रकृति में सूर्य या विद्युत् है, शरीर में आत्मा है, राष्ट्र में राजा है। मित्र और वरुण प्रकृति में दो वायुएं हैं, शरीर में प्राणापान हैं, राष्ट्र में दो अधिकारी हैं। दिव्यशक्ति-सम्पन्न होने से ये सब देव हैं। इसलिए यद्यपि वस्तुतः इस जगत् का एक ही राजा है, तो भी अपने-अपने क्षेत्र में भिन्न-भिन्न देव भी राज्य कर रहे हैं। परमेश्वर जो कि महादेव है, इन सब से ऊपर है। इसीलिए वेद में इस भाव के अनेकों मन्त्र मिलते हैं कि सब देव उस एक महादेव के अधीन हैं। जैसे, **तस्मिन्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः** अथर्व० १०.७.३८, अर्थात् जैसे वृक्ष के तने के आश्रित सब शाखाएं होती हैं, वैसे ही उस परम देव के आश्रय में अन्य सब देव रहते हैं।

दूसरा समन्वयप्रकार—एक के अनेक नाम

परन्तु, यह भी हम देख चुके हैं कि मित्र, वरुण, इन्द्र आदि नाम केवल प्राकृतिक या जड़ शक्तियों के ही वाचक नहीं हैं। मन्त्रों के वर्णनों से स्पष्ट है कि वे किसी चेतन देवता की ओर भी संकेत करते हैं। तब यदि अनेक चेतन देव हैं, तो इन अनेक देवों का एक देवता के सिद्धान्त के साथ समन्वय कैसे होगा? दृष्टान्त लीजिए। कोई महाविद्यालय है, एक विद्वान् उसके प्राचार्य हैं। कोई नवागन्तुक पूछता है, इस महाविद्यालय के प्राचार्य कौन हैं? एक उत्तर देता है कि मेरे चाचा जी प्राचार्य हैं, दूसरा कहता है कि मेरे भाई जी प्राचार्य हैं, तीसरा कहता है कि मेरे पिता जी प्राचार्य हैं, चौथा व्यक्ति कहता है कि मेरे मित्र यहां के प्राचार्य हैं, पांचवां कहता है कि महाशय जयचन्द्र जी प्राचार्य हैं, छठा कहता है कि गुप्त जी प्राचार्य का कार्य करते हैं, सातवां कहता है कि लखनवी जी प्राचार्य हैं, आठवां कहता है कि मन्त्री जी प्राचार्य हैं, नौवा व्यक्ति कहता है कि कविकेतु प्राचार्य हैं। तो अब प्राचार्य किसे

मानें? समझने वाला समझ लेता है कि यह सब एक ही व्यक्ति की स्तुति है। वस्तुतः महाशय जयचन्द्र जी प्राचार्य हैं, उन्हीं को लोग गुप्त जी कहा करते हैं, वे ही लखनवी जी नाम से प्रसिद्ध हैं, वे ही समाज के मन्त्री होने के कारण मन्त्री कहाते हैं, उन्हें ही लोग अच्छी कविता करने के कारण कविकेतु भी कह दिया करते हैं। यही दशा वेद के देवों की है। जब वेद कहता है कि मित्र ने द्यावापृथिवी को धारा हुआ है या इन्द्र सब लोकों को थामे है, या वरुण जगत् को धारण करने वाला है, या सविता ने भूमि-आकाश को टिकाया हुआ है, तो इसका अभिप्राय यही होना चाहिए कि जैसे दृष्टान्त में प्राचार्य अनेक नहीं हैं, वैसे ही जगत् को धारण करने वाले परमेश्वर भी अनेक नहीं हैं, किन्तु एक के ही ये भिन्न-भिन्न नाम हैं। जगत् का धारक परमेश्वर एक ही है, वही सबका मित्र होने से 'मित्र' कहाता है, पापनिवारक, वरणीय व सर्वश्रेष्ठ होने से उसी को 'वरुण' कहते हैं और सर्वोत्पादक तथा शुभगुणप्रेरक होने से उसी का नाम 'सविता' हो गया है। जब नाना देव एक ही देवता के नामान्तर हैं, तो फिर अनेकेश्वरवाद का प्रश्न ही नहीं रहता।

मैक्समूलर का हीनोथीज़्म

इस प्रसंग मे एक और बात की तरफ ध्यान खींचना उचित प्रतीत होता है। मैक्समूलर कहते हैं कि वेद में हम एक अद्भुत बात यह देखते हैं कि प्रत्येक देवता की इस रूप में स्तुति है, मानो वही सब से बड़ा हो। जब वेद इन्द्रदेव का वर्णन करने लगता है तब जितने भी गुण हैं सब उसमें आरोपित कर देता है। इन्द्र द्यावापृथिवी का अधिष्ठाता है, इन्द्र संसार का उत्पादक है, इन्द्र सबसे बड़ा दानी है। जब इन्द्र को छोड़कर मित्र पर आता है तब उसे सबसे महान् कहने लगता है, और मानो भूल जाता है कि पहले वह इन्द्र को सबसे बड़ा कह चुका है। मित्र के बाद जब वरुण की स्तुति करने लगता है तब वरुण सबसे बड़ा देवता हो जाता है। सविता की बारी आती है, तो उसका ऐसा वर्णन करता है मानो वही सबसे बड़ा है। इस प्रकार अपनी-अपनी बारी में हर-एक देव सबसे बड़ा बन बैठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के ऋषि यह निश्चय नहीं कर सके कि जगत् में सबसे बड़ा कौन है। जिसे भी वे देखते थे वही उन्हें सबसे बड़ा लगने लगता था। प्रकृति में सूर्य को देखते थे, तो समझते थे कि अहो, सूर्य जैसा शक्तिशाली भला और कौन हो

सकता है! अग्नि पर उनकी दृष्टि जाती थी तो उसे ही सब से महान् समझ बैठते थे। वेद की यह अपूर्व विशेषता बता कर मैक्समूलर ने इसे हीनोथीज़्म नाम दिया है।

मैक्समूलर इस आलोचना से किसी भी परिणाम पर पहुंचे हों, पर हमें इससे यही निष्कर्ष निकलता दिखायी देता है कि वेद की यह विशेषता कोई दोष नहीं है, किन्तु यह इसी बात को सिद्ध करती है कि सब नाम एक ही ईश्वर के हैं, क्योंकि जैसा हम दृष्टान्त से स्पष्ट कर चुके हैं, यदि वेद में सभी देवों को एक जैसा कहा गया है, तो इसका यही अभिप्राय होना चाहिए कि वे सब भिन्न-भिन्न नहीं, किन्तु एक के ही नाम हैं।

वेद का साक्ष्य

तो वेदों में ऐसे वर्णन बहुतायत से मिलने चाहिएं, जिनमें यह कहा गया हो कि सब देव एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। और सचमुच ही ऐसी उक्तियां वेदों में स्थान-स्थान पर मिलती हैं। देखिए—

१. ऋग्वेद, प्रथम मण्डल १६४.४६ **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः**, परमेश्वर एक है, ज्ञानी लोग उसे बहुत से नामों से पुकारते हैं। उसे इन्द्र कहते हैं, मित्र कहते हैं, वरुण कहते हैं, अग्नि कहते हैं, और वही दिव्य सुपर्ण और गरुत्मान् भी है। उसे ही वे यम और मातरिश्वा भी कहते हैं।

२. यही बात दशम मण्डल में इन शब्दो में कही गयी है—**सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति**, ऋ० १०.११४.५, एक होते हुए उस सुपर्ण परमेश्वर को ज्ञानी कविजन बहुत नामों से कल्पित कर लेते हैं।

३. तृतीय मण्डल में परमेश्वर अपना परिचय देता है कि सुनो, मेरा नाम 'अग्नि' है, **अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्**, ऋ० ३.२६.७। साथ ही द्वितीय मण्डल में अग्नि तथा अन्य देवों को एक बताया गया है। परिणामतः अग्नि और अन्य नाना देव उसी परमेश्वर के नाम सिद्ध होते हैं। देखिए, ''**त्वमग्ने इन्द्रः। त्वं विष्णुः। त्वं ब्रह्मा। त्वमग्ने राजा वरुणः। त्वं मित्रः। त्वमंशः। त्वमग्ने त्वष्टा। त्वमग्ने रुद्रः। त्वं शर्धो मारुतम्। त्वं पूषा। त्वमग्ने द्रविणोदाः। त्वं देवः सविता। त्वं भगः।** ऋ० २.१.३-७, ''हे अग्ने, तू ही इन्द्र है, तू ही विष्णु है, तू ही

ब्रह्मा है, तू ही वरुण राजा है, तू ही मित्र है, तू ही अर्यमा है, तू ही अंश है, तू ही त्वष्टा है, तू ही रुद्र है, तू ही मरुद्गण है, तू ही पूषा है, तू ही द्रविणोदाः है, तू ही सविता देव है और भग भी तू ही है।''

४. ऋ० १०.८२.३ भी देखिए, **यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एवं तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।** ''जो विश्वकर्मा हमारा पिता है, जनयिता है, विधाता है, जो सब भुवनों को जानता है, जो अकेला ही अनेक देवों के नामों को धारण करने वाला है, उस प्रश्न करने योग्य की शरण में सब प्राणी जा रहे हैं।'' यही मन्त्र थोड़े से परिवर्तन के साथ अथर्व० २.१.३ में भी मिलता है।

५. यजुर्वेद पर आइए, वहां ३२.१ में कहा है– **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।** ''वही परमेश्वर अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है। वही शुक्र है, वही ब्रह्म भी है, वही आपः है और उसी का नाम प्रजापति है।''

६. अथर्व० १३.४ में इस नाना देवों की एकता को बड़े सुन्दर रूप से चित्रित किया गया है। वेद कहता है कि 'देखो, वह सविता परमेश्वर महेन्द्र बन कर, अनेक नामों से घिरा हुआ खड़ा है। वही धाता है, वही विधर्ता है, वही वायु है, वही अर्यमा है, वही वरुण है, वही रुद्र है, वही महादेव है, वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही महायम है। ये दसों नाम मानो उस परब्रह्म के दस पुत्र हैं। इन दसों का सिर या केन्द्र या प्रतिपाद्य एक ही है। यह मत समझना कि ये भिन्न-भिन्न हैं। भाइयो वह एक है, एक है, एक ही है; ये सब देव जो अलग-अलग हैं, उस एक ही में समाये हुए हैं।''

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।।
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।
तं वत्सा उपतिष्ठन्ति एकशीर्षाणो युता दश ।।
रश्मिभिर्नभ आवृतं महेन्द्र एत्यावृतः। मन्त्र ३-६
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।। मंत्र १२,१३

अपने कथन को प्रवृत्त रखता हुआ आगे वेद कहता है-"उसकी कीर्ति होती है, उसे यश मिलता है, उसे रस प्राप्त होते हैं, उसे आकाश मिलता है, उसे ब्रह्मतेज प्राप्त होता है, अन्न मिलता है, अन्न भोगने का सामर्थ्य मिलता है, जिसने देव के एक होने की बात को अनुभव कर लिया है। जिसने सचंमुच वेद के ईश्वर की एकता को पहचान लिया है वह फिर वेद में नाना देवों के नामों को देख कर भी नहीं कहेगा कि यह दूसरा ईश्वर है, यह तीसरा एक और है, यह चौथा है, यह पांचवां है, यह छठा है, यह सातवां है, यह आठवां है, यह नौवां है, यह दसवां है। हे मनुष्यो, विश्वास करो, वह एक है, एक है, सचमुच एक ही है।"

कीर्तिश्च यशचाम्भश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च। य एतं देवमेकवृतं वेद। न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।। मन्त्र १४-२१

आगे फिर भिन्न-भिन्न नामों से उसकी उपासना करता हुआ वेद का कवि सुना रहा है–"हे परमेश्वर, तेरा नाम इन्द्र है, विभू और प्रभू नामों से हम तेरी उपासना करते हैं। अम्भः, अरुण, रजत, रजः, सहः नामों से हम तेरी उपासना करते हैं। उरु, पृथू, सुभू, भुवः नामों से तेरी उपासना करते हैं। प्रथ, वर, व्यच, लोक इन नामों से उपासना करते हैं। भवद्वसु, इदद्वसु, संयद्वसु, आयद्वसु इन नामों से उपासना करते हैं।"

त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्।
अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्।।
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्।
उरुः पृथुः सुभूः भुव इति त्वोपास्महे वयम्।
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्।
भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति
त्वोपास्महे वयम्।। मंत्र ४७,५०-५४

तो, इसप्रकार हम देखते हैं कि वेदों में यह स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया गया है कि वेद में नाना देवों के नाम देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए, ये सब एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं, न कि वे अपने आप कोई स्वतन्त्र देव हैं।

निरुक्तकार का साक्ष्य

वैदिक देवों के सम्बन्ध में यास्काचार्य ने भी अच्छा प्रकाश डाला है। वे निरुक्त उत्तरार्ध की अपनी भूमिका (निरु० ७।४) में तीन मतों का उल्लेख करते हैं। प्रथम मत यह है कि जगत् में मुख्य देव एक ही है, अन्य सब नाम उसी की विभूति को बताते हैं **माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।** दूसरा मत यह है कि संसार में तीन देव हैं– **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।** भूलोक का राजा अग्नि है, अन्तरिक्ष का राजा वायु या इन्द्र है, और द्यौ का राजा सूर्य है। अन्य सब देव इन्हीं तीन के अन्तर्गत हो जाते हैं। और तीसरा पक्ष है कि वेदवर्णित सब देव पृथक्-पृथक् हैं, क्योंकि पृथक्-पृथक् ही सबकी स्तुति की गयी है–**अपि वा पृथगेव स्युः, प्रथग् हि स्तुतयो भवन्ति।** पर यास्काचार्य इन मतों को दर्शा कर कहते हैं कि वस्तुतः इन मतों में परस्पर विरोध नहीं है, केवल दृष्टि का भेद है। वास्तव में देखें तो संसार का एक ही अधिष्ठाता है, उसी की विभूति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। परन्तु जैसे किसी राष्ट्र का एक राजा होते हुए भी उसके भिन्न-भिन्न छोटे राजा भी होते हैं, वैसे ही यद्यपि सारे जगत् का एक महाराजा ईश्वर है, तो भी 'अग्नि' को पृथिवी का राजा कह सकते हैं, 'वायु' या 'इन्द्र' को अन्तरिक्ष का राजा और सूर्य को द्यौ का राजा। अथवा जैसे प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने घर का राजा होता है, वैसे प्रत्येक देव अपने-अपने क्षेत्र का राजा है। पर अन्तर यह है कि वे अग्नि, वायु आदि राजा विराट् देव के समकक्ष कोई चेतन ईश्वर नहीं हैं। ये अचेतन प्राकृतिक शक्ति होते हुए भी उसी महाराजा से क्रियाशक्ति को पाकर अपने-अपने क्षेत्र में राज्य कर रहे हैं। जैसे किसी बड़े भारी कारखाने में बहुत सी मशीनें कार्य कर रही होती हैं, बटन बनाने की मशीन बटन बना रही है, इसलिए वह बटनों की राजा है। पुर्जे बनाने की मशीन पुर्जे बना रही है, इसलिए वह पुर्जों की राजा है। पर ये मशीनें स्वतन्त्र राजा नहीं हैं, असली राजा है कारखाने का मालिक। न ही इन मशीनों में क्रियाशक्ति अपनी है, न ही ये चेतन हैं। इसी तरह अग्नि क्योंकि पृथिवी की सबसे बड़ी शक्ति है, इसलिए वह पृथिवी का राजा है। पर वह चेतन नहीं है। वह तो मशीन की तरह है, जैसे मशीन को चलाने वाला कोई और चेतन होता है।

यास्क ने अपने निरुक्त में देवों की अधिकतर प्राकृतिक व्याख्या की है। इससे कहीं यह भ्रम पैदा न हो जाए कि वह उन्हें ईश्वर के नाम नहीं

मानता, इसलिए परिशिष्ट में उसने ईश्वरपरक अर्थ भी किये हैं और नमूने के तौर पर ईश्वर (महान् आत्मा) के अनेक नाम गिनाये हैं। वह कहता है, **''अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्युत्क्रमिष्यामः''**, अब आगे हम परमात्मा के उन नामों को गिनाते हैं जिन्हें कि पहले हम भूतों (प्राकृतिक पदार्थों) के नाम बता चुके हैं। अर्थात् ये सब नाम जहां प्राकृतिक पदार्थों के वाचक हैं, वहां साथ ही परमात्मा के वाचक भी हैं। और वे नाम उसने ये गिनाये हैं–

हंसः, घर्मः, यज्ञः, वेनः, मेधः, कृमिः, भूमिः, विभुः, प्रभुः, शम्भुः, राभुः, वधकर्मा, सोमः, भूतम्, भुवनम्, भविष्यत्, महत्, आपः, व्योम, यशः, महः, स्वर्णीकम्, स्मृतीकम्, स्वृतीकम्, सतीकम्, सतीनम्, गहनम्, गभीरम्, गह्वरम्, कम्, अन्नम्, हविः, सद्म, सदनम्, ऋतम्, योनिः, ऋतस्य योनिः, सत्यम्, नीरम्, रयिः, सत्, पूर्णम्, सर्वम्, अक्षितम्, वर्हिः, नाम, सर्पिः, आपः, पवित्रम्, अमृतम्, इन्दुः, हेम, स्वः, सर्गाः, शम्बरम्, अम्बरम्, वियत्, व्योम, बर्हिः, धन्व, अन्तरिक्षम्, आकाशम्, अपः, पृथिवी, भूः, स्वयम्भूः, अध्वा, पुष्करम्, सगरम्, समुद्रः, तपः, तेजः, सिन्धुः, अर्णवः, नाभिः, ऊधः, वृक्षः, तत्, यत्, किम्, ब्रह्म, वरेण्यम्, हंसः, आत्मा। निरु० १४.११

इस प्रकार हम देखते हैं कि निरुक्तकार का भी साक्ष्य हमें मिल रहा है कि वेद में जो नाना देवों की स्तुति की गयी है उससे परमेश्वर की अनेकता का अभिप्राय नहीं है।

महर्षि दयानन्द का साक्ष्य

महर्षि ने देखा कि वेद को समझने के लिए इस मूलसूत्र का प्रचार अत्यावश्यक है कि वेदवर्णित अनेक देव एक ही ईश्वर के वाचक हैं। महर्षि के वेदभाष्य की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि उन्होंने वेदोक्त एकदेवतावाद के सूत्र को पकड़ा। नहीं तो उनसे पहले भाष्यकार पौराणिक देवों की तरह वेद के देवताओं को भी आंख-नाक वाले स्वतंत्र देव समझ बैठे थे। सायण जैसे महान् पण्डित भाष्यकार भी अभिमानिदेवता की कल्पना के फेर में पड़े रहे, यद्यपि जहां अपना काम पड़ा है वहां थोड़ी देर के लिए उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि इन्द्र आदि सब एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका के आरम्भ में ''इन्द्रं मित्रं वरुणम्'' आदि ऋ० १.१६४.४६

का प्रमाण देते हुए वे कहते हैं—**यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेण अवस्थानादविरोधः**, अर्थात् यद्यपि वेद में स्थान-स्थान पर इन्द्रादि देवों का आह्वान किया गया है, तो भी वहां परमेश्वर ही इन्द्रादि नामों से वर्णित हुआ है। पर पीछे से अपनी इस स्थापना को वे भूल गये और उन्होंने अभिमानिदेवता की कल्पना में हां में हां मिला दी। महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में भी और सत्यार्थ-प्रकाश में भी इस एक देवता की स्थापना पर बहुत बल दिया है। वेद में परमेश्वर को अमुक-अमुक नाम से क्यों बुलाया गया है, यह वहां उन्होंने अच्छी तरह प्रकट किया है। सत्यार्थप्रकाश में सबसे पहले समुल्लास में ही उन्होंने नमूने के तौर पर परमेश्वर के एक सौ आठ नामों की व्याख्या की है। और इसप्रकार लोगों के अन्दर जो देवविषयक पौराणिक संस्कार बैठे हुए थे उन्हें निकालने का यत्न किया है।

स्तुति अनेक नामों से क्यों?

यहां एक शंका उठती है। माना कि वेद में नाना नामों से एक ही ईश्वर की स्तुति की गयी है, पर ऐसा हुआ क्यों? यह क्यों नहीं किया गया कि कोई सा एक नाम रख लिया जाता और सारे वेद में उसी से परमेश्वर की स्तुति होती ? अनेक नामों से स्तुति करके हमें भ्रम में क्यों डाला गया ? क्या इससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है? इस प्रश्न के उत्तर से पहले जरा आप संस्कृत भाषा, या संस्कृत ही क्यों, किसी भी भाषा के शब्द-कोष पर दृष्टि डालिए। क्या प्रत्येक भाषा में एक ही पदार्थ के वाची अनेक नाम नहीं हैं ? और क्या कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में यह नियम रखता है कि हर जगह वह किसी पदार्थ को एक ही नाम से पुकारे ? क्या बाइबल में एक परमेश्वर को 'गौड', 'लार्ड', 'ऑल-माइटी' आदि विविध नामों से नहीं पुकारा गया है? यदि बाइबल में कहीं गौड की जगह लार्ड आ जाता है तो क्या कोई यह कहता है कि यह 'लार्ड' 'गौड' से भिन्न कोई देव है? फिर संस्कृत भाषा तो इसके लिए प्रसिद्ध है कि उसमें एक शब्द के लिए अनेक पर्यायवाची नाम हैं। परमेश्वर को छोड़िये, अन्य पदार्थों को ही ले लीजिए। एक मामूली सी वस्तु है, पेड़। पर उसके वाची अनेक नाम आपको मिलेंगे। क्योंकि वह काटा जाता है इसलिए उसे वृक्ष कहते हैं। वह भूमि पर उगता है, इसलिए उसे भूरुह या महीरुह कहते हैं। उसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएं

होती हैं, इसलिए उसे शाखी या विटपी कहते हैं। क्योंकि वह पैरों (जड़ों) से पानी पीता है, इसलिए वह पादप है। क्योंकि उसमें पत्ते होते हैं, इसलिए वह पलाशी कहाता है। चन्द्रमा को हिमांशु कहते हैं, क्योंकि उसकी किरणें शीतल हैं। वह कुमुदों को खिलाने वाला है, इसलिए उसे कुमुदबान्धव कहते हैं, रात्रि का पति होने से वही निशापति है, तारों का राजा होने से उसी को नक्षत्रेश भी कहा जाता है।

गीता का संसार में कितना प्रचार हुआ है। पर जरा संग्रह तो करिये कि उसमें अर्जुन को कितने नामों से याद किया गया है। कहीं वह धनञ्जय है, तो कहीं पार्थ बन जाता है, तीसरी जगह वही कौन्तेय हो गया है। और कृष्ण भगवान् भी कहीं हृषीकेश हैं, तो कहीं जर्नादन हैं, कहीं अच्युत हैं, तो कहीं वासुदेव हैं। क्या कभी आपको सन्देह हुआ है कि कृष्ण जिसे कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं वह एक अर्जुन नहीं है, किन्तु कई व्यक्ति हैं; अर्जुन अलग है, पार्थ अलग है, कौन्तेय अलग है; और उपदेश देने वाले भी कृष्ण अकेले नहीं हैं, किन्तु हृषीकेश, जर्नादन आदि कई हैं? देखिए, युधिष्ठिर धर्मपरायण होने के कारण धर्मराज कहाते थे; आधुनिक युग के मोहनदास नाम के सन्त गान्धी जाति का होने से गान्धी जी और महात्मा होने से महात्मा जी कहाते थे।

तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि गुण-कर्म-स्वभाव आदि के अनुसार एक ही को भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया जा सकता है। इसी प्रकार वेद में भी भिन्न-भिन्न गुणों की दृष्टि से परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। और परमेश्वर के अनेक नाम होना तो और भी स्वाभाविक है। उसके असंख्यों अद्भुत गुण हैं, जिनके आधार पर उसके असंख्य नाम पड़ सकते हैं। लोक में भी तो एक ही व्यक्ति पिता, चाचा, मामा, ताऊ, भाई, भतीजा, लाला जी, गुप्त जी, मन्त्री जी, सेठ जी, प्रधान जी, वैद्य जी ठेकेदार, साहिब आदि अनेक नामों से याद किया जाता है। यदि एक व्यक्ति के अनेक नामों को देखकर कहीं अन्यत्र उनके अनेक होने का भ्रम पैदा नहीं होता, तो वेद में भी नहीं होना चाहिए, जब कि साथ ही वेद ने स्वयं पहले से ही सावधान कर दिया है—**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**

वेद की अनेकनामोपासना का एक और प्रयोजन भी है। अग्नि आदि नाम केवल परमेश्वर के वाचक नहीं हैं, किन्तु प्राकृतिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में अन्यों के वाचक भी हैं। यदि सारे वेद में एक ही नाम से

परमेश्वर की उपासना होती तो यह प्रयोजन पूरा न हो सकता कि एक ही शब्द परमेश्वर के अर्थ को भी दे और अन्य अर्थों को भी। कल्पना करिए, सारे वेद में ओम् या इन्द्र या अन्य किसी एक ही नाम की स्तुति होती तो उससे परमेश्वर की महिमा का वर्णन तो हो जाता (यद्यपि वह भी वैसा चामत्कारिक नहीं रहता जैसा अब है), पर राजा, सेनापति, न्यायाधीश आदि राजनीतिक अर्थों, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा आदि आध्यात्मिक अर्थों एवं अग्नि, वायु, सूर्य आदि प्राकृतिक अर्थों की छटा देखने को नहीं मिलती।

सब देव परमेश्वर कैसे हैं ?

अभी हमने दिखाया है कि विविध गुणों के आधार पर एक के विविध नाम पड़ जाया करते हैं। साहित्य में हम देखते हैं कि परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणों को लेकर भिन्न-भिन्न देव कल्पित कर लिये गये हैं। कामदेव और क्या है? जो सौन्दर्य ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य की जिसमें पराकाष्ठा है, ऐसा एक देव कल्पित कर लिया गया है। परमेश्वर में ही सब गुणों की पराकाष्ठा है, इसलिए कामदेव को हम यह समझ सकते हैं कि सौन्दर्य का मूर्तरूप परमेश्वर ही कामदेव है। यही बात वेद के भिन्न-भिन्न देवों के विषय में है। नीचे हम कुछ देवों का संक्षिप्त स्पष्टीकरण करके यह बताने का यत्न करते हैं कि किस तरह वे परमेश्वरवाची हैं, और उन-उन नामों से परमेश्वर की स्तुति करने में क्या चमत्कार पैदा होता है।

१. **अग्नि**—उणादि कोष में 'अगि गतौ' धातु से नि प्रत्यय करके अग्नि बनाया गया है (उ० ४.५१)। निरुक्त में अग्रपूर्वक 'णीञ् प्रापणे' से अग्नि की सिद्धि की गयी है—**अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति,** निरु० ७.१४। जो सब का अग्रणी है, पथ-प्रदर्शक है, वह परमेश्वर अग्नि है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं—**यः अञ्चति, अच्यते, अगति, अङ्गति, एति वा सोऽयमग्निः**, जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम अग्नि है। इसके साथ ही लोक में अग्नि आग का वाची भी है। परमेश्वर के लिए अग्नि शब्द बोलते ही हमें आग का स्मरण आये बिना नहीं रह सकता। इसलिए साभिप्राय आगवाची अग्नि शब्द को परमेश्वर के लिए प्रयुक्त किया गया है। परमेश्वर क्या है, एक प्रज्वलित आग है, जो स्वयं प्रकाशमान है और

दूसरों को भी प्रकाशित करने वाला है। वह ईश्वरीय आग हृदय-वेदि में प्रज्वलित होने पर मानव के दुर्गुणों को भस्म और सद्गुणों को प्रकाशित करने का काम करती है।

२. **वायु**—निरुक्तकार कहते हैं—**वायुर्वातेः, वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः** निरु० १०.२। वायु का अर्थ है सर्वगत या व्याप्तिमान्। धातु इसमें है गत्यर्थक 'वा' या 'वी' । जैसे मन्द, शीतल, स्वच्छ हवा हृदयसुखद और दुःख-दर्द को हर कर शान्ति देने वाली होती है, वैसा ही वह परमेश्वर है। और जैसे हवा मार्ग में बाधा डालने वालों को तोड़ती-फोड़ती, परे फेंकती हुई और पृथिवी की धूल (रेणु, रजस्) को उड़ाती हुई चला करती है (देखें, ऋ० १०.१६८.१), वैसे ही परमेश्वर भी जब मनुष्य के अन्दर प्रकट होता है, तब उसकी उन्नति में रुकावट डालने वाली विघ्न-बाधाओं को तोड़-फोड़ डालता है, और उसकी आत्मा पर पड़ी हुई जो भौतिक चेतना की धूल (रजस्, रजोभाव) है उसे उड़ा कर आत्मिक धरातल को साफ कर देता है। महर्षि ने वायु की व्युत्पत्ति की है—**यो वाति चराचरं जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः** (वा गतिगन्धनयोः, गन्धनं हिंसनम्) अर्थात् जो चराचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करता और सब बलवानों से बलवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम वायु है।

३. **मित्र**— 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से मित्र शब्द बना है। मित्र है स्नेह का, प्रेम का, मित्रता का देवता। परमेश्वर को मित्र इसलिए कहा गया है कि वह मित्रता का मूर्त रूप है, मानों मित्रता या स्नेह ही सशरीर आ गये हों। हम जो सांसारिक मित्र होते हैं उनमें मित्रता के साथ अमित्रता का अंश भी अप्रकट रूप में रहता है, और समय पाकर वह प्रकट भी हो जाया करता है। पर परमेश्वर को मित्र कहने का अभिप्राय है कि उसमें मित्रता ही मित्रता है, जैसे मित्रता और प्रेम के रस के भरा हुआ कोई रसगुल्ला हो। और सचमुच ही वह कैसा अद्भुत मित्र है, जो बिना किसी स्वार्थ के सब से मित्रता करता है। वेद में मित्र को 'पूतदक्ष' कहा गया है, वह पवित्रता के बल से युक्त है। उसमें छल, कपट, कालिमा नहीं हैं; वह किसी को स्वार्थवश हानि पहुंचाने का इरादा नहीं रखता। जिसे इस अनुपम मित्र की रक्षा मिल जाती है, उसे कोई शक्ति क्षति नहीं पहुंचा सकती, हरा नहीं सकती, पाप उसे नहीं सताता— **न हन्यते न जीयते त्वोतो, नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्,** ऋ० ३.५९.२। महर्षि

लिखते हैं—**मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः**, जो सबसे स्नेह करता है और स्वयं सबसे स्नेह करने योग्य है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम मित्र है।

४. **वरुण**—वरुण पाप को निवारण करने वाला है-**वारयतीति वरुणः।** इसलिए उसे 'रिशादस' अर्थात् मनुष्य के दोषों को हड़प जाने वाला कहा है। मित्र और वरुण वेद में अधिकतर साथ-साथ आते हैं। परमेश्वर मित्र हो कर वरुण बनता है। वह मानव से प्रेम करता है, और उसके पाप का वारण करता है, इसीलिए वह हम सब से वरने योग्य है, **व्रियते इति वरुणः।** स्वामी जी वरुण की व्युत्पत्ति करते हैं— **यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिः व्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः**, अर्थात् जो सज्जन, मुमुक्ष, धर्मात्मा लोगों को वरता है, अपनी शरण में लेता है, अथवा जिसे सज्जन, मुमुक्षु, धर्मात्मा भक्तजन वरते हैं, उस परमेश्वर का नाम वरुण है।

५. **इन्द्र**—इन्द्र से ईश्वर के परमैश्वर्यवान् होने का गुण सूचित होता है, धातु है 'इदि परमैश्वर्ये'। **यः इन्दति परमैश्र्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः**, स० प्र०। जहां परमैश्वर्य की पराकाष्ठा है, जिसके पास अनन्त ऐश्वर्य भरा पड़ा है, जो दुनिया के हम छोटे-छोटे ईश्वर कहलाने वालों में सबसे बड़ा 'परम ईश्वर' है, वह इन्द्र है। इसीलिए इन्द्र को वेद में बड़ा भारी दानी कहा गया है, वह अपने ऐश्वर्यों का भरपूर दान करता है। इन्द्र में दूसरा भाव है पराक्रम और विजय का। इन्द्र की वीरता का बखान वेद में बहुत हुआ है। निरुक्तकार भी कहते हैं, **या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्**, अर्थात् जो बल के काम हैं वे इन्द्र के हैं (निरु० ७.१०)। इन्द्र अपनी वीरता से वृत्र या अहि का वध कर डालता है। यह वृत्र कोई किस्से-कहानी का महाकाय दैत्य नहीं है। यह है मनुष्य के हृदय में वास करने वाला पाप का असुर। प्रकृति में यह वृत्र बादल[७] है, जो सूर्य के प्रकाश को ढक लिया करता है। समाज में बृत्र हैं पापी लोग, जो कि पुण्य को या सत्कर्मों के प्रवाह को रोक लेना चाहते हैं। इन्द्र शतक्रतु है, पूर्णकर्मा है; शत है पूर्णता या शत-प्रतिशत का वाची और क्रतु है कर्म, ज्ञान, संकल्प या यज्ञ। केवल इन्द्र ही १०० यज्ञ कर पाया है, अन्य किसी के वह १०० यज्ञ पूरे नहीं होने देता, इस डर से कि कहीं यह मेरे समकक्ष न हो जाए, ये पीछे से बना ली गयी कहानियां हैं, जिनका विवरण वेद में नहीं मिलेगा। पौराणिक इन्द्र की तरह वैदिक इन्द्र भी शचीपति है, पर वेद की शची कोई

सुरांगना नहीं, किन्तु शक्ति या कर्मण्यता है[१८]। तो इन्द्र शचीपति है इसका अर्थ हुआ कि वह शक्ति का पति है, अर्थात् शक्तिशाली या कर्मवीर है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेद से ही इन सब संकेतों को लेकर पुराणकारों ने उन्हें कथानक का रूप दे दिया है।

६. **विष्णु**—विष्णु हैं व्यापकता के देवता। **वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगदिति विष्णुः** स० प्र०। जो अपनी सत्ता से चराचर जगत् में व्याप रहे हैं, वे परमेश्वर विष्णु हैं। पुराणों में जो यह लिखा है कि वामन विष्णु ने विराट् रूप धर कर अपने कदमों से त्रिलोकी को माप लिया था, वह कहानी भी विष्णु की व्यापकता को बताने वाली है, और वह वेद से ही ली गयी है। **इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्,** ऋ० १.१२.१७, **यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा** ऋ० १.१५४.२ आदि वेद-वाक्यों का यही अभिप्राय है कि उस परमेश्वर ने पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीनों लोकों में अपने पैरों को रखा हुआ है, अर्थात् वह सर्वव्यापक है।

अस्तु, यहां नमूने के रूप में हमने कुछ वैदिक देवों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। इसी प्रकार अन्य देवों का स्वरूप भी निश्चित हो सकता है। जैसे, परमेश्वर **त्र्यम्बक** इसलिए है क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय इन तीनों शक्तियों वाला है। वह **पशुपति** इस कारण है, क्योंकि प्राणियों की रक्षा करता है।[१९] उसका नाम **रुद्र** इसलिए है, क्योंकि अन्यायियों को दण्ड देकर रुलाता है—**रोदयतीति रुद्रः**, और सज्जनों के रोगों को या पाप-ताप को दूर भगाता है—**रुत् दुःखं, तद् द्रावयतीति रुद्रः। विश्वकर्मा** उसे इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह विश्व की रचना करता है। **त्वष्टा** वह इस कारण है, क्योंकि बढ़ई की तरह गढ़छील कर पदार्थों को रूप देता है। **बृहस्पति** वह इसलिए है, क्योंकि वह बड़े-बड़े लोकों का स्वामी है, अथवा वेद का पति है— **बृहतां लोकानां पतिः अथवा बृहती वेदवाक् तस्याः पतिः। सोम** है रसमय परमेश्वर, जिसे उपनिषत्कार ने इस रूप में अनुभव किया है-**रसो वै सः**, तै० उ० २.७। वेद के देवों का स्वरूप-निश्चय करते समय हमें एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि उस-उस देव का वेद में कैसा वर्णन हुआ है ? उसमें कुछ वर्णन तो सभी देवों के एक से हैं, और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि सब एक ही परमेश्वर के नाम हैं; और कुछ वर्णन ऐसे हैं जो प्रत्येक देव की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। उन विशेषताओं के आधार पर हमें स्वरूप-निश्चय करना चाहिए कि अमुक देव से परमेश्वर के किस गुण की सूचना मिलती है।

स्त्रीलिंगी देवों का अभिप्राय

पहले हम दिखा चुके हैं कि पुल्लिंगी देवों की तरह वेद में अनेक स्त्रीलिंगी देवता भी आये हैं। उनका अभिप्राय क्या होगा? बात यह है कि परमेश्वर जैसे सब का पिता है, वैसे ही माता भी है– **त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ,** ऋ० ८.९८.११। ऋग्वेद के प्रसिद्ध वागाम्भृणी सूक्त (१०.१२५) में भी परमेश्वर के इसी मातृरूप को चित्रित किया गया है। यह अकेले वेद की ही अनुभूति नहीं है, किन्तु **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव', 'पितु मातु सहायक स्वामि सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो'** आदि शब्दों में लौकिक कवियों ने भी यही गाया है। इसलिए वेद के कई स्त्रीलिंगी देव ऐसे हैं, जो परमेश्वर के मातृरूप को बताने वाले हैं; जैसे अदिति और सरस्वती। **अदिति** जगत् के देवों की, दिव्य शक्तियों की, माता है, इसलिए देव आदित्य (अदिति के पुत्र) कहाते हैं। अदिति का धात्वर्थ है अखण्डनीय, अविनाश्य, नित्य। **सरस्वती** देवी हृदय में ज्ञान-रस को प्रेरित करने वाली माता है। जैसे माता बच्चे को अपने दूधरूप रस का पान कराती है, वैसे ही परमेश्वर माता बन कर मानव-जाति के शिशुओं को ज्ञान-रस का पान कराता है।

इसके अतिरिक्त कुछ स्त्रीलिंगी देवताएं ऐसी हैं जो किन्हीं प्राकृतिक वस्तुओं या किन्हीं भावनाओं को सूचित करती हैं। जैसे **उषा** देवी या तो रात्रि के पश्चात् खिलने वाली प्राकृतिक उषा है या हृदयाकाश में उदित होने वाली ज्ञान की उषा है। **रात्रि** देवी या तो दिन के बाद आने वाली प्राकृतिक रात है, या अज्ञानान्धकार की और तमोगुण की निशा है। **श्रद्धा** कोई विशेष देवी नहीं है, बल्कि वह आस्तिक्य–बुद्धि है, जिसे लोक में भी श्रद्धा नाम से ही कहते हैं। **उर्वशी** और **गौरी** विद्युत् हैं। **पृथिवी देवी** भूमि को ही कहा गया है । इसी प्रकार **अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू, सरण्यू** आदि के भी अपने-अपने अर्थ हैं, जो कि निरुक्त आदि ग्रन्थों में स्पष्ट किये गये हैं।

अब रह जाती है देवों की पत्नियों की बात। अग्नि की पत्नी **अग्नायी** है, वरुण की पत्नी **वरुणानी** है, इन्द्र की पत्नी **इन्द्राणी** है, रुद्र की पत्नी **रोदसी** है। अन्य सब देवों की भी अपनी-अपनी पत्नियां हैं, ऐसा वेद कहता है, चाहे वेद में उन सबका पृथक्-पृथक् नाम न आता हो। तो ये देव-पत्नियां क्या हैं? विचार करने से प्रतीत होता है कि ये पत्नियां

उन-उन देवों की सहचारिणी क्रिया-शक्तियां हैं। जैसे अग्नि में जो प्रकाश की शक्ति है वह अग्नायी है; वरुण में जो पाप-निवारण की शक्ति है वही वरुणानी है। देव अपनी पत्नियों के साथ हमारे अन्दर आयें इसका अभिप्राय यही है कि वे अपनी-अपनी क्रियाओं के प्रवाह के साथ हमारे हृदय में अवतीर्ण हों; ऐसा न हो कि वे खाली हमारे अन्दर आकर बैठ जाएं और करें कुछ न। अग्नि आये तो अपनी प्रकाश की क्रिया के साथ आये, और हम ज्ञान-प्रकाश से जगमगा उठें। वरुण आये तो अपनी पाप-निवारण की क्रिया के साथ आये, और हम निष्पाप हो जाएं। इन्द्र आये तो अपनी वीरता और विजय-प्रदान की क्रिया के साथ आये, और हमारे अन्दर वीरभावों का संचार हो जाए तथा सब विघ्न-बाधाओं पर विजय पाते हुए हम आगे बढ़ते चलें। पत्नियां क्रियाशक्तिरूप हैं, यह इससे भी स्पष्ट है कि इन्द्र की पत्नी जो इन्द्राणी है उसका नाम शची है; और शची का अर्थ होता हैं क्रिया (निघं० २.१)। तो इसका यह अभिप्राय हुआ कि इन्द्राणी शक्तिरूप है, वह कोई सचमुच की देव-स्त्री नहीं है। वैसे ही अग्नायी, वरुणानी आदि अन्य देव-पत्नियां भी शक्तिरूप ही होनी चाहिएं। महर्षि दयानन्द ऋ० १.२२.९ के भाष्य में 'देवानां पत्नीः' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- **यस्मिन् यस्मिन् द्रव्ये या याः शक्तयः सन्ति तास्तास्तेषां द्रव्याणां पत्न्य इवेत्युच्यन्ते,** अर्थात् जिस-जिस द्रव्य में जो-जो शक्तियां हैं, वे-वे उन द्रव्यों की मानो पत्नियां हैं।

देवों के अंग, वाहन आदि का अभिप्राय

यदि सब देव परमेश्वर के नाम हैं, और परमेश्वर है निराकार, तो वेदवर्णित देवों के अंग-प्रत्यंगों का क्या अभिप्राय है? देव रथ पर चढ़ते हैं, इसका क्या अभिप्राय है? उनके अपने-अपने वाहन या सवारियां हैं, यह कैसे सम्भव है? और उनके पास अलग-अलग अपने-अपने शस्त्र हैं, इससे क्या अभिप्रेत है ? पहले अंगों को ही लेते हैं। परमेश्वर के अंगों की कल्पना आलंकारिक है। निस्सन्देह ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें मतभेद हो ही नहीं सकता कि वहां अंगों का वर्णन आलंकारिक है। देखिए–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्।। ऋ० १०.९०.१
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।

ऋ० १०.८१.३

उस परमेश्वर के हजार सिर हैं, हजार आंखें हैं, हजार पैर हैं। यदि सिर आदि यहां सचमुच के अंग अभिप्रेत हों तब तो वह ईश्वर काना और लंगड़ा सिद्ध होता है, क्योंकि हजार सिर हैं तो प्रत्येक सिर में दो-दो आंखों के हिसाब से कुल दो हजार आंखे होनी चाहिएं, और इसी नियम से पैर भी दो हजार होने चाहिएं। पर हैं हजार-हजार ही। तो मानना पड़ेगा कि यहां अंग आलंकारिक अर्थ रखते हैं। अभिप्राय यह है कि परमेश्वर में सिर का सामर्थ्य अर्थात् ज्ञान अनन्त है, आंखों का सामर्थ्य अर्थात् दर्शनशक्ति अनन्त है और पैरों का सामर्थ्य अर्थात् व्याप्त होने की शक्ति अनन्त है। दूसरे मंत्र में कहा है कि जब वह परमेश्वर द्यावापृथिवी को बना रहा होता है तब चारों तरफ उसकी आंखें होती हैं, चारों तरफ मुख होते हैं, चारों तरफ भुजाएं और चारों तरफ पैर होते हैं। ऐसे पुरुष की कल्पना कैसी अद्‌भुत मालूम होती है? क्या यह स्पष्ट ही आलंकारिक वर्णन नहीं है? कवि कहना यह चाहता है कि जैसे एक इंजीनियर को सब तरफ ध्यान रखना पड़ता है, वैसे ही विशाल ब्रह्माण्ड की रचना के समय परमेश्वर का ध्यान सब तरफ था, क्योंकि जरा भी ध्यान बंटते ही न जाने कहां गड़बड़ी हो जाती । यदि इन मंत्रों में अंगों का वर्णन आलंकारिक है, तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि अन्य स्थलों में आलंकारिक न हो।

और देखिए, वेद उन शिलाओं का वर्णन कर रहा है जिन पर सोम कूटा-पीसा जाता है। सोम को पीसने से शिलाएं हरी-हरी हो गयी हैं, पीसने से शब्द भी हो रहा है। कवि कल्पना करता है– **अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।** ऋ० १०.९४.२, मानो ये शिलाएं अपने हरे-हरे मुखों से किसी को बुला रही हैं। क्या आप इससे यह समझेंगे कि शिलाओं का सचमुच का मनुष्य के जैसा कोई मुख होता है। वेद एक कविता है, कविता की भाषा में ऐसा होता ही है।

दो-एक लौकिक उदाहरण लीजिए–''भूकम्प आया, लाखों मनुष्य, बड़े-बडे मकान, जंगल सब पृथिवी की गोद में समा गये'', क्या पृथिवी

की सचमुच की कोई गोद है? गोद का अभिप्राय है 'अन्दर'। 'हे पृथिवी माता, तू फट क्यों नहीं जाती, क्या तेरा हृदय पत्थर का बना हुआ है''? यहां जड़ पृथिवी का हृदय कल्पित कर लिया है। ''ज्वालामुखी फट कर अपने मुख से आग उगलने लगा'', यहां मुख का अभिप्राय है अग्रभाग। 'हे यज्ञाग्नि, तू अपने सुनहरे मुखों से घृत की आहुति का आस्वादन करता है'', यहां अग्नि के सुनहरे मुख हैं चमकती हुई ज्वालाएं। ''आंधी आयी, अपनी बाहुओं से सब कूड़ा-कर्कट समेट ले गयी'' क्या इस प्रयोग में किसी को यह शंका होती है कि आंधी कोई शरीरधारी है और उसके बाहुएं हैं? आशा है इतने से यह स्पष्ट हो गया होगा कि देवों के अंगों का वर्णन वेद में आलंकारिक है। नहीं तो,इसमें क्या युक्ति है कि वेद में ही, एक जैसे कवितामय वर्णनों में, किन्हीं स्थलों में अंग आलंकारिक मान लिये जाएं और दूसरी जगह यह आग्रह किया जाए कि ये सचमुच के अंग हैं।

यही बात देवों के रथ, वाहन आदि के विषय में है। नदी वेग से बहती जा रही है, वेद का कवि उसका इस रूप में वर्णन करता है कि नदी आशुगामी रथ को जोते हुए है,– **सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्**, ऋ० १०.६५.९। रथ का अवतरण कवि ने वेग को दिखाने के लिए किया है। अब या तो यह समझा जाए कि यहां पर भी यह आशय है कि नदी के पास कोई सचमुच का रथ है, और यह मानना उपहासास्पद होगा, नहीं तो फिर यह मानना चाहिए कि जैसे यहां रथ वेग को दर्शाता है, इसीप्रकार इन्द्रादि देवों के रथ भी उनकी शीघ्रगामिता को बताने के लिए हैं। 'हे इन्द्र अपने रथ पर चढ़ कर तू हमारे पास आ'', इसका यही अभिप्राय है कि तू वैसी ही शीघ्रता के साथ हमारे पास आ जा, जैसे कोई रथ पर चढ़कर जल्दी से आ पहुंचता है।

अब आते हैं देवों के वाहन। कोई व्यक्ति बहुत तेजी से चलने लगे तो कहते हैं, ''यह देखो, यह देखो, वह घोड़े पर सवार हो गया''। तो, इससे यह पता चला कि वस्तुतः घोड़ा आदि कोई सवारी न होने पर भी तीव्रगति को बताने के लिए आलंकारिक भाषा में किसी सवारी पर आरूढ़ होने का वर्णन हो सकता है। इसी प्रकार देवों के वाहन भी उनकी तीव्रगति को बताने के लिए हैं। यह बात भी देखने योग्य है कि देवों के जो वाहन हैं, उनका धात्वर्थ भी अधिकतर तीव्रता अर्थ का ही द्योतक है। इन्द्र के वाहन 'हरि' हैं। ''हरन्तीति हरयः'', जो सवार को

तेजी से ले जाएं वे हरि कहलायेंगे। आदित्य के वाहन 'हरित' हैं; हरित का भी वही अर्थ है जो हरि का है। पूषा के वाहन 'अजाः' है, इसका अभिप्राय यह नहीं हैं कि पूषा बकरियों की सवारी करता है; 'अजाः' का अर्थ है शीघ्रता से चलने वाले (देखें निरु० ४.२५), यहां धातु है गत्यर्थक 'अज'। तो, पूषा 'अजाश्व' है इसका अभिप्राय यह हुआ कि पोषक परमेश्वर शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार होकर चलता है, अर्थात् वह ऐसी शीघ्रता से गति करता है, जैसे कोई तेज घोड़े पर सवार होकर चले। अश्विनौ के वाहन 'रासभ' हैं; रासभ का अर्थ यहां गधे नहीं है। 'रासभ' वेगवाची 'रभस' के विपर्यय से बना है—**रभसेन युक्तो राभसः, राभस एव रासभः।** रभस का अर्थ वेग है, तो राभस का अर्थ होगा वेगयुक्त, इसलिए उसके विपर्यय से बनने वाले रासभ का अर्थ भी वेगयुक्त ही होगा। ऐसे अनेक शब्द संस्कृत में मिलते हैं जो इस प्रकार विपर्यय से बने हैं, जैसे तर्कु, सिकता। इस प्रकार 'अश्विनौ' रासभों पर सवार होकर आयें, इसका अन्ततः यही अर्थ निकला कि वे वेग के साथ आएं। सविता के वाहन 'श्यावाः' हैं, श्यावाः भी गत्यर्थक श्वि धातु से बना है, इसलिए इसका अर्थ भी 'गतिमान्' या 'तेजी से चलने वाले' ही होता है। वायु के वाहन हैं 'नियुत'। 'नियुत' स्पष्ट ही कोई प्राणी नहीं है, इसका अर्थ है सदा नियुक्त रहने वाले। तो 'वायु नियुत्वान् है' इसका अर्थ है कि वह सदा चलता रहता है।

अन्य जो वाहन शेष रहे उनका नाम प्रायः रंग के आधार पर है। अग्नि के वाहन 'रोहित' हैं, इसका अभिप्राय है कि अग्नि मानो रोहित वर्ण की ज्वालाओं पर सवार होता है। अग्नि का अर्थ परमेश्वर लें तब भी यही भाव होगा कि वह तेज की ज्वालाओं पर सवार होता है, अर्थात् बड़ा तेजस्वी है। उषा के वाहन हैं 'अरुण्यो गावः', अर्थात् अरुण रंग की किरणें; गावः का अर्थ यहां गौ पशु नहीं है। बृहस्पति के वाहन हैं 'विश्वरूप', अर्थात् नाना रूपों वाले। मरुतों के वाहन 'पृषतियां' हैं। मरुतों का अर्थ वीर योद्धा या सैनिक लें तो पृषती का अर्थ होगा वीर्यसिक्त या हृष्ट-पुष्ट घोड़ियां। मरुतों का अर्थ प्राण लें तो पृषती है सेचनशक्ति या पुष्टि। 'प्राण पृषती पर सवार होकर आते हैं' इसका आशय होगा कि वे पोषणशक्ति से युक्त होकर आते हैं। पृषती बना है 'पृषु सेचने' धातु से। मरुत् मानसून पवन हों, तो पृषती का अर्थ है नानावर्णा मेघमालाएं।

देवों के आयुध और कवच भी आलंकारिक ही समझने चाहिएं। आयुध से उनकी दण्ड देने की शक्ति सूचित की गयी है। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र का वध कर डालता है, इसका अभिप्राय यही है कि इन्द्र में जो दुष्टों को नष्ट कर डालने की शक्ति है उससे वह वृत्र को विनष्ट कर देता है। कवच सूचित करते हैं आत्म-रक्षा की शक्ति को। वरुण ने कवच पहना हुआ है, इसका अभिप्राय है कि जैसे कवचधारी सुरक्षित होता है वैसे ही वरुण सुरक्षित है, उसकी कोई हिंसा नहीं कर सकता। जहां वरुण को कवचधारी, **'बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम्'**, ऋ० १.२५.१३ कहा गया है, उसी सूक्त में उससे अगले ही मन्त्र में उसके कवचधारी होने का अभिप्राय इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया है, **'न यं दिप्सन्ति दिप्सवः'** अर्थात् बड़े-बड़े हिंसक लोग भी जिसकी हिंसा नहीं कर सकते।

इस प्रकार हमने देखा कि देवों के अंग, रथ, वाहन, आयुध, कवच सब आलंकारिक हैं। मनुष्य के लिये यही स्वाभाविक है कि वह ऐसी ही भाषा में परमेश्वर के गुणों को प्रकाशित करे, क्योंकि वह अपने पैमाने के अनुसार देखता है। उसे कहीं शीघ्र पहुंचना होता है तो मोटर, रेलगाड़ी, हवाई जहाज, रथ या घोड़े की अपेक्षा होती है। इसीलिए परमेश्वर की शीघ्रगामिता को बताने के लिये भी वह रथ, घोड़े आदि बीच में ले आता है। उसे किसी को दण्ड देना या मारना होता है, तो साधन अपेक्षित होता है, इसलिए परमेश्वर की दण्डशक्ति को बताने के लिये भी वह उसके साथ वज्र आदि का सम्बन्ध जोड़ देता है। उसे शत्रु से रक्षित होने के लिये कवच की आवश्कयता होती हैं, इसलिए परमेश्वर के सदा स्वयं रक्षित होने के गुण को बताने के लिये उसने यह कह दिया कि परमेश्वर कवच पहने हुए है। चाहे वेदों को मनुष्य ने नहीं बनाया है, पर बनाये तो वे मनुष्य के लिए ही गये हैं, इसलिए मनुष्य के लिये जैसी भाषा स्वाभाविक है, वैसी भाषा उनमें रखी गयी है।

देवों की संख्याएं गिनाने का अभिप्राय

एक शंका यह अवशिष्ट रह जाती है कि यदि वेद को एक ईश्वर अभिप्रेत है, तो फिर उसने देवों को संख्या में अनेक क्यों कहा है? देवों की संख्या ३३ बतायी गयी है, और कहीं इतनी अधिक कि वह तीन हजार तीन सौ उनतालीस तक पहुंच गयी है। इससे तो स्पष्ट यही

अभिप्राय निकलता प्रतीत होता है कि वेद बहुत से देवों या ईश्वरों को मानता है, यहां तक कि उनकी निश्चित संख्या तक बताता है। इस शंका के निराकरण के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वेद के देवता हैं क्या? और इस विषय पर हम विचार कर आये हैं। इसलिए उसके आधार पर इस शंका का उत्तर भी आसानी से दिया जा सकता है। जैसे एक देव की अनेक नामों से स्तुति हो सकती है, वैसे ही उन अनेक नामों की संख्या भी बतायी जा सकती है कि वे एक ईश्वर के वाची नाम इतने हैं। ये संख्याएं एक ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों की हैं, न कि भिन्न-भिन्न ईश्वरों की। मंत्र के अर्थ से भी यही निकलता प्रतीत होता है। **त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्,** ऋ० ३.९.९, तीन हजार तीन सौ उनतालीस देव अग्नि या परमेश्वर की पूजा कर रहे हैं, अर्थात् इतने नामों से उसकी पूजा हो रही है। और फिर "ईश्वर एक है" इस विषयक पूर्वोद्धृत अनेक प्रमाणों के वेद में होते हुए इसकी संगति भी कैसे लगेगी, यदि इस संख्या को ईश्वर की अनेकता का द्योतक मानने की भूल हम कर बैठें। अथवा दूसरा समाधान इसका यह है कि देव का अर्थ है दिव्य शक्तियां, क्योंकि हम देख चुके हैं कि देव वेद में अचेतन शक्तियों या पदार्थों या चेतन मनुष्य-देवों के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अभिप्राय यह होगा कि इतनी सारी शक्तियां परमेश्वर की पूजा कर रही हैं, क्योंकि वे परमेश्वर की ही विभूति को बताने वाली हैं। ३३ की संख्या के लिये जो यह वर्णन आता है कि उनमें ११ पृथिवी पर, ११ अन्तरिक्ष में और ११ द्यौ में हैं, इससे भी यही स्पष्ट है कि ये ३३ प्राकृतिक शक्तियां हैं। और प्राकृतिक शक्तियों के अनेक होने से ईश्वर के एक होने में कोई व्याघात नहीं आता। इस प्रकार हमने देखा कि देवों के विषय में बहुत्ववाची संख्या या तो परमेश्वरवाची नामों की अनेकता को बताती है या यह बताती है कि परमेश्वर-आश्रित अन्य छोटी शक्तियां किसी दृष्टि से इतनी हो सकती हैं। और, वर्गीकरण के दृष्टि-भेद से ये संख्यायें भिन्न -भिन्न हो सकती हैं। किसी दृष्टि से इन्हें ३३ में भी विभक्त कर सकते हैं, और किसी दृष्टि से अधिक या कम में भी।

इस प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् का एक प्रकरण स्मरण आता है। विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा, हे याज्ञवल्क्य, देव कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया तीन हजार तीन सौ छः। फिर पूछा तो उसने

उत्तर दिया, तेंतीस। फिर पूछा तो कहा, छः। फिर तीन, फिर दो, फिर अध्यर्ध और अन्त में वह एक पर पहुंच गया। इस प्रकार एक में दूसरे का अन्तर्भाव करने की दृष्टि के भेद से देवों की संख्या भिन्न-भिन्न कही जा सकती है। सबका राजा एक है जो सबसे ऊपर है, इस दृष्टि से एक ही देव है। भोग्य और भोक्ता यह विभाग करें, तो दो हैं। तीन लोकों का विभाग करें, तो तीन देव हैं। तीन लोकों के अधिपति उन लोकों से अलग करके गिनें, तो छः हो जाते हैं। और अधिक विस्तार में कहें तो ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति ये तेंतीस देव कहे जा सकते हैं। और अधिक विस्तार में जायें तो सृष्टि में अनेक देव हैं, जिसका प्रतीक है तीन हजार तीन सौ छः की संख्या। तो इस प्रकार देवों की अनेक संख्या के वर्णन से एकेश्वरवाद में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

पुराणों का साक्ष्य

आइए, जरा पुराणों पर भी दृष्टि डालें। यद्यपि पुराणों में बहुत से देवी-देवों की भरमार है, पर वे इससे इंकार नहीं करते कि सब देवता एक ही के भिन्न-भिन्न रूप हैं। पुराणों के जो मुख्य देव हैं उनका समावेश त्रिमूर्ति में हो जाता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, पितामह आदि ब्रह्मा के ही नामान्तर हैं। नारायण, कृष्ण, जनार्दन, वासुदेव, वामन, हरि आदि विष्णु में अन्तर्भूत हो जाते हैं। त्र्यम्बक, रुद्र, शम्भु आदि महेश के ही रूपान्तर हैं। तो इस प्रकार पुराणों के प्रधान देव तीन ही रह जाते हैं, जिन्हें स्वतन्त्र देव कहा जा सकता है–ब्रह्मा, विष्णु, महेश। पर नहीं, इन तीनों देवों को भी वहां स्वतन्त्र देव नहीं माना है, बल्कि स्पष्ट शब्दों में इनकी एकता प्रतिपादित की है। देखिए,

सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः।
स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः ।।
ब्रह्मत्वे सृजते चैव विष्णुत्वे पाति नित्यशः ।
संहर्ता स शिवो ज्ञेय एको देवस्त्रिधा मतः ।। वह्निपुराण

"भगवान् एक ही है; पर सृष्टि, स्थिति और प्रलय इन तीन क्रियाओं को करने से उसके ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये तीन नाम पड़ गये हैं। ब्रह्मा-रूप में वह सृष्टि की रचना करता है, विष्णु-रूप में जगत् का

पालन करता है, रुद्र होकर जगत् का संहार करता है; इस प्रकार एक ही परमात्मा तीन रूपों मे कल्पित कर लिया गया है।''

इसी भाव को कालिका पुराण में इन शब्दों में कहा गया है–

सृष्टिस्थित्यन्तकरणादेक एव महेश्वरः
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति संज्ञामाप पृथक् पृथक् ।।

कूर्म पुराण में विष्णु और रुद्र में अभेद बताते हुए कहा है ''विष्णु और महादेव एक ही है, इसमें संशय नहीं है। अज्ञान के वश होकर वेदनिष्ठ न होने के कारण जो विष्णु को महादेव से अलग मानते हैं, वे मनुष्य नरक में जाते हैं। वेदानुवर्ती रुद्र को तथा विष्णु को जो एक समझते हैं, वे मुक्ति के भागी होते हैं।''

सदैव देवो भगवान् महादेवो न संशयः।
मन्यन्ते ये जगद्योनिं विभिन्नं विष्णुमीश्वराद्।।
मोहादवेदनिष्ठाद्वा ते यान्ति नरकं नराः।
वेदानुवर्तिनं रुद्रं देवं नारायणं तथा।।
एकीभावेन पश्यन्ति मुक्तिभाजो भवन्ति ते ।।

कूर्म पुराण में ही आगे कहा है कि यद्यपि यह ठीक है कि विष्णु के भक्त उत्कृष्ट गति पाते हैं, पर इस परम गति को वे नहीं प्राप्त करेंगे जो विष्णु से तो प्रेम करते हैं, किन्तु शिव के प्रति द्वेष रखते हैं। विष्णु भगवान् कहते हैं कि जो अनन्य-भाव से मुझे भजता है, पर शिवजी की निन्दा करता है, वह नरक में पड़ता है।

परात् परतरं यान्ति नारायणपरा जनाः।
न ते तत्र गमिष्यन्ति ये द्विषन्ति महेश्वरम् ।।
यो मां समाश्रयेन्नित्यमेकान्तभावमास्थितः।
विनिन्दन् देवमीशानं स याति नरकायुतम्।।

वाराह पुराण में भी इसी आशय के श्लोक मिलते हैं। वहां शिव जी कहते हैं–

यो विष्णुः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा सोऽहमेव च।
वेदत्रयेऽपि यज्ञेऽस्मिन् पण्डितेष्वेष निश्चयः।।
यो भेदं कुरुतेऽस्माकं त्रयाणां द्विजसत्तम।
स पापकारी दुष्टात्मा दुर्गतिं समवाप्नुयात्।।

अर्थात् ''जो विष्णु है, वही ब्रह्मा है, और जो ब्रह्मा है वही मैं विष्णु हूं। वेदत्रयी का तथा पण्डितों का यही निश्चय है। जो हम तीनों में भेद करता है वह पापी, दुष्टात्मा दुर्गति को पाता है''। देखिए, भिन्न-भिन्न देवों में भेद करने वालों के लिए कैसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है और यह कहा गया है कि यह भेद करना वेदविरुद्ध है। इस सम्बन्ध में कालिदास आदि महाकवियों के **एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा** आदि साक्ष्य भी दिये जा सकते हैं, पर उन्हें हम छोड़ते हैं।

उपसंहार

इसप्रकार भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करने और वेद-वचनों की पूर्वापरसंगति को देखने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वेद निःसन्देह एकेश्वरवादी ही हैं। जिसने वेद के सब पहलुओं को और आगे-पीछे के सब प्रकार के वर्णनों को नहीं देखा है, उसे तो अवश्य यह सन्देह होगा कि शायद वेद बहुत से देवताओं पर विश्वास लाने को कहता है; पर जब हम वेद का सर्वांग-रूप में अध्ययन करते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदवर्णित अग्नि, इन्द्र, सोम, आदि देव एक ही ईश्वर के अनेक नाम हैं। और जब वे ईश्वर-भिन्न पदार्थो के बोधक होते हैं, तब वे पृथक् स्वतन्त्र देव नहीं होते, बल्कि एक चक्रवर्ती के नीचे काम करने वाले तदाश्रित ही होते हैं। इसलिए तब भी वेद का एकेश्वरवाद वैसा ही बना रहता है। तो, वेद को प्रमाण मानना और फिर भी अनेकेश्वरवादी या बहुदेवतावादी होना ये परस्पर विरोधी बातें हैं। वेद को प्रत्येक हिन्दू-समाज एक पवित्र पुस्तक और अन्तिम प्रमाण स्वीकार करता है। इसलिए उन लोगों को जो अन्ध-विश्वास में पड़ कर जड़-चेतन नाना देवी-देवों की पूजा के चक्र में पड़े हुए हैं, क्रियात्मक रूप में वेद के इस एकेश्वरवाद को अपनाना चाहिए और वेद का यह एकेश्वरवाद अधिकाधिक प्रकाश में लाया जाना चाहिए, क्योंकि इसे बिना समझे वेद के अर्थ भी यथार्थ रूप में नहीं समझे जा सकते।

पाद टिप्पणियां

१. उदाहरणार्थ देखिए, ऋग्वेद के निम्न वचन- मै अग्नि की पूजा करता हूं, **अग्निमीळे** १.१.१, हे वायु, तू आ, **वायो आयाहि** १.२.१.;

इन्द्र के गीत गाओ, **इन्द्रमभि प्रगायत** १.५.१; इन्द्र की स्तुति करो, **इन्द्रं स्तोत** ८.१६.१.; मै तो विष्णु की वीरताओं का वर्णन करता हू, **विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्** १.१५४.१.; इस मित्र देव को नमस्कार करना चाहिए, **अयं मित्रो नमस्यः** ३.५९.४; हम तो सविता के तेज का ध्यान करते हैं, **तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि** ३.६२.६०; रुद्र हमारी पुकार को सुने, **शृणोतु नो हवं रुद्रः** १.११४.११; हे वरुण, तू हमारी इस प्रार्थना को सुन, **इमं मे वरुण श्रुधी हवम्** १.२५.१९. ; तू, हमारी हे सोम! सबसे रक्षा कर, **त्वं नः सोम, विश्वतो रक्षा** १.९१.८.।

२. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। ऋ० १.२२.१७, यजु० ५.१५, यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। ऋ० १.१५४.२

३. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। ऋ० ७.५९.१२, यजु० ३.६०, अथर्व० १४.१७

४. रुद्रं पशुपतिश्च यः। अथर्व० ११.७.९; रुद्र के वर्णन में ऋ० १.११४.२, ३३ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

५. शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि। अथर्व० १३.४.४७

६. अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। ऋ० १.३२.५ आदि मंत्रों में इन्द्र-वृत्र का युद्ध स्थान-स्थान पर मिलता हैं। इन्द्र के लिये शतक्रतु सम्बोधन भी अनेकों स्थानों पर आया हैं, जैसे त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो। ऋ० १.५.८

७. द्रष्टव्यः ऋ० १०.८१,८२

८. इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः। ऋ० १०.१८.६

९. त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः। ऋ० १.३४.६

१०. द्रष्टव्य ऋ० ६.७३; २.२३.१६ आदि।

११. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे। ऋ० २.२३.१

१२. यास्कीय निघण्टु में इन्हें इस प्रकार परिगणित किया गया हैं-हरी इन्द्रस्य। रोहितोऽग्नेः। हरित आदित्यस्य। रासभौ अश्विनोः। अजाः पूष्णः। पृषत्यो मरुताम्। अरुण्यो गाव उषसाम्। श्यावाः सवितुः। विश्वरूपा बृहस्पतेः। नियुतो वायोः। निघं १.१५।

१३. द्रष्टव्यः ऋ० १.१३९.११; य० ७.१९।

१४ If we could ask Vasisth or Viswamitra or any of the old Aryan poets, whether they really thought that Sun, the golden ball which they saw was a man with legs and arms with a heart and lungs, they would no doubt laugh at us and tell us, that though we understand their language we did not understand their thoughts. Origin of Religion P. 281.

१५. सोम:पवते जनिता मतीनाम्—सोमआत्माप्येतस्मादेव, इन्द्रियाणां जनितेत्यर्थ:। अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूततम आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे। निरु० १४.१२

१६. को अग्निमीट्टे क आत्मानं पूजयति। निरु० १४.२७

१७. तत्को वृत्र:१ मेघ इति नैरुक्ता:। निरु० २.१७

१८. शची=कर्म। निघं० २.१

१९. तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वा: पुरुषा अजावय:। अथर्व० ११.२.९

वेदार्थ के ऐतिहासिक पक्ष पर चर्चा

वेदों में इतिहास नहीं, इस बात को हम प्रमाणित करने चले हैं। आइए, पहले आप को एक किस्सा सुनायें। एक बार की बात है, किसी स्थान पर वेद के ऐतिहासिक सम्प्रदाय वालों का एक सम्मेलन होने वाला था। दूर-दूर से ऐतिहासिक विद्वान् निमन्त्रित किये गये थे। सम्मेलन की कार्यवाही हो रही थी, संयोगवश हम भी वहां जा पहुंचे। बड़े-बड़े विद्वानों ने अपने-अपने निबन्ध पढ़े। किसी ने वेदों में प्राचीन आर्य जाति के ऋषिओं का इतिहास दिखाया, तो किसी ने राजाओं का इतिहास सुनाया। किसी ने आर्य और दस्युओं की लड़ाई का इतिहास प्रदर्शित किया, तो किसी ने नदी, नाले, पर्वत एवं जंगलों का इतिहास सुनाया। सब लोग बड़े ध्यान से सुन रहे थे और मन ही मन वक्ताओं की तारीफ कर रहे थे। कुछ लोग प्रकट में भी कह उठते थे–वाह वाह, क्या कहना है, देद को तो इन्होंने समझा है ! इधर हमारी यह हालत थी कि ज्यों-ज्यों हम विद्वानों के गवेषणापूर्ण निबन्ध सुनते जाते थे, त्यों-त्यों हमारे अन्दर यह इच्छा जागृत होती जाती थी कि हम भी कुछ बोलें। भगवान् को मनाने लगे., हे भगवान्,हमें भी बोलने का अवसर दिलाना, नहीं तो मन की मन में ही रह जाएगी। इतने में जब सब बोलने वालों की सूची पूरी हो गयी तब सभापति जी ने उठकर कहा कि यदि कोई और सज्जन बोलना चाहें तो आ सकते हैं। हम तो इस प्रतीक्षा में ही थे। चट उठ खड़े हुए और कहना शुरू किया–भाइओं, अभी तक आपने वेद में से भूतकाल के ही इतिहास सुने हैं, हम अपको वेद में से आधुनिक इतिहास सुनाना चाहते हैं। देखिए बिहार की भूकम्प-पीड़ित जनता बिहाररत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी से कह रही है–

त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन पाह्यसुर त्वमस्मान्।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः।। ऋ० १.१७.१

(राजेन्द्र) हे बाबू राजेन्द्रप्रसाद, (त्वम्) आप (ये च देवाः) तथा अन्य जो देवपुरुष महात्मा गान्धी, पं. जवाहरलाल आदि हैं, वे सब

मिल कर (नून्) भूकम्प-पीड़ित लोगों की (रक्ष) रक्षा कीजिए। (असु-र) हे दुःखिओं को जीवन देने वाले, (त्वम् अस्मान् पाहि) आप हमारा पालन कीजिए। (त्वं सत्पतिः) आप ही हमारे सच्चे मालिक हैं, (मघवा) आप बहुत धनवान् हैं, क्योंकि स्थान-स्थान से आपको बिहार की भूकम्प-पीड़ित जनता के लिये थैलियां भेजी गयी हैं, (नः तरुत्रः) आप ही हमें इस कष्ट से तराने वाले हैं, (त्वं सत्यः) आप सच्चे है, (वसवानः) लाखों नंगे भूकम्प-पीड़ितों का तन ढकने वाले हैं, और (सहोदाः) उन्हें बल देने वाले हैं।

मेरे इस इतिहास को सुनकर कुछ तो हंसने लगे, मानो हंसी में ही मेरी बात को उड़ा देना चाहते हों, कुछ मुझ पर बुरी तरह प्रकुपित होने लगे। सभापति जी भी कहने लगे–आप बैठ जाइए, बैठ जाइए, आगे बोलने की आप को इजाजत नहीं है। ऐतिहासिक लोग बोल उठे– यह आर्यसमाजी लगता है, हमारा विरोधी है; हमारे बने-बनाए इतिहास के महल को गिराना चाहता है, यह हमारी मजाक बनाने आया है, इसका बहिष्कार करो, इसे भगाओ यहां से आदि आदि। मैंने हाथ जोड़ कर कहा–भाइयो, मेरा क्या कसूर है? मैं तो आप के ही पक्ष की पुष्टि कर रहा हूं। मैंने तो आप ही की तरह वेद के एक छिपे हुए ऐतिहासिक स्थल को स्पष्ट किया है। वे सब के सब एक साथ बोल उठे– अरे मूर्ख, क्या तू नहीं जानता, वेद तो आज से सहस्रों वर्ष पुराने हैं, उनमें आज की घटनाओं का जिक्र कैसे हो सकता है? हम तो प्राचीन घटनाओं को वेद में दिखाते हैं, हमारी-तेरी बराबरी कैसी! तू अपनी व्याख्या को हमारी व्याख्याओं के सदृश बताकर हमारा भी उपहास करना चाहता है। जो ऋग्वेद का मंत्र तूने बोला है उसमें तो स्पष्ट ही 'राजेन्द्र' पद से राजा का ग्रहण है। प्रजाजन अपने राजा से कह रहे हैं कि आप हम सबका रक्षण और पालन कीजिए। यहां बाबू राजेन्द्रप्रसाद कहां से आ टपके?

मैंने कहा, अरे भाइयो, मेरी इस व्याख्या पर तो तुम हंसते हो, लेकिन असल में देखा जाए तो वेद की जितनी ऐतिहासिक व्याख्याएं हैं, वे सभी इसी कोटि की ठहरेंगी। तुम भी तो यह करते हो कि जहां-कहीं वेद में ऐतिहासिक-सा नाम देखा, झट उसकी ऐतिहासिक व्याख्या कर डाली। यह तो तुम कहते हो कि वेद बाबू राजेन्द्रप्रसाद से सहस्रों वर्ष पहले के हैं, इसलिए उनमें उनका वर्णन नहीं हो सकता, लेकिन इसी युक्ति को तुम अपनी ऐतिहासिक व्याख्याओं में भी लागू क्यों नहीं करते? वेद जैसे बाबू राजेन्द्रप्रसाद से सहस्रों वर्ष पहले के हैं, वैसे ही वे

ऋषि विश्वामित्र, अत्रि, जमदग्नि, भृगु, अंगिरा आदि से भी सहस्रों वर्ष पुराने हैं। इसलिए उनमें राजेन्द्र बाबू की तरह ही इन ऋषियों का भी वर्णन नहीं हो सकता। जैसे यहां नाम-साम्य के होते हुए भी 'राजेन्द्र' पद से राजेन्द्र बाबू से अतिरिक्त कोई और ही अर्थ अभिप्रेत हैं, वैसे ही जिन मंत्रों में विश्वामित्र आदि नाम आते हैं, वहां भी विश्वामित्र आदि पदों से उन-उन ऐतिहासिक ऋषि-मुनियों का ग्रहण अभिप्रेत नहीं, किन्तु दूसरा ही कुछ अर्थ अभिप्रेत है। आज क्योंकि दुर्भाग्यवश प्राचीन सब इतिहास ब्यौरेवार उपलब्ध नहीं है, इसलिए लोग भ्रमवश यह समझ बैठते हैं कि विश्वामित्र प्रभृति ऋषि वेदों से पहले के हैं और वेदों में उन्हीं का वर्णन है। कल्पना करिए, आज से बहुत अरसा ५०-६० शताब्दी या इससे भी अधिक बीत जाने पर बहुत-सी ऐतिहासिक परम्परा, जो आजकल उपलब्ध भी है, लुप्त हो जाती है, तिथिक्रमरहित कुछ मुख्य-मुख्य व्यक्तियों की घटनाएं कहानी के रूप में अवशिष्ट रह जाती हैं, उनमें राजेन्द्र बाबू की कहानी भी बची रहती है। अब देखिए, उस समय क्या अवस्था होगी? लोगों के सामने वेद भी होंगे, यह भी उन्हें मालूम होगा कि प्राचीन काल में बाबू राजेन्द्रप्रसाद नामक एक महापुरुष हो चुके हैं, किन्तु ऐतिहासिक परम्परा के लुप्त हो जाने से उन्हें यह सच्चाई नहीं मालूम होगी कि राजेन्द्र बाबू तो वेदों से सहस्रों वर्ष पीछे के हैं। इसलिए जो लोग वेदों में ऐतिहासिक सामग्री का अन्वेषण करने बैठेंगे तो क्या आश्चर्य कि ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र का वे वही अर्थ कर बैठें जो हमने किया है, अर्थात् वेद के 'राजेन्द्र' पद से वे राजेन्द्र बाबू का ही ग्रहण करने लगें! आज तो ऐतिहासिक लोग ही इस अर्थ को एक मजाक की वस्तु समझते हैं, लेकिन उस समय यदि कोई इस प्रकार के अर्थों का आविष्कार करेगा तो उसे विद्वान्, स्कॉलर आदि न जाने क्या-क्या पदवी दे दी जायेंगी। उस समय यदि कोई कहेगा कि अरे भाई, यहां तो राजेन्द्र पद से राजा का ग्रहण है, तो ऐतिहासिक विद्वन्मण्डली कट्टर, अन्धविश्वासी आदि विशेषणों में उसका उपहास करेगी, जैसा कि आजकल किया जाता है।

अस्तु, ऊपर का यह एक काल्पनिक किस्सा हमने इसलिए लिखा है जिससे स्पष्ट हो जाए कि वेद की ऐतिहासिक व्याख्याओं का महल कितनी कमजोर भित्ति पर बना हुआ है, यद्यपि देखने में यह बड़ा सुदृढ़ और आकर्षक प्रतीत होता है। यदि वेदार्थ में ऐतिहासिक व्याख्या के

मार्ग का अनुसरण बढ़ता गया तो धीरे-धीरे वेद की धज्जी-धज्जी उड़ जाएगी, उसमें कुछ भी तत्त्व की बात नहीं बचेगी, सब जगह इतिहास ही इतिहास दीखने लगेगा।

वेद के अनेक ऐसे स्थल हम उद्‌घृत क़र सकते हैं, जिनमें ऐतिहासिक नाम आये हैं, तो भी आज ऐतिहासिक लोग उनका इतिहासपरक अर्थ न करके दूसरा ही अर्थ करते हैं। लेकिन कौन कह सकता है कि आज उनका इतिहासपरक अर्थ नहीं किया जाता तो आगे भी नहीं किया जायेगा? अथर्ववेद का प्रसिद्ध मंत्र है–

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।

अथर्व० १०.२.३१

इसमें देहपुरी को अयोध्यापुरी के नाम से स्मरण किया गया है। मनुष्य का शरीर मानो एक देवपुरी है। इसमें आंख, नाक, कान, मन, बुद्धि आदि देव आकर बैठे हुए हैं। यह अयोध्या इसलिए है, क्योंकि इसे पराजित कर सकना आसान नहीं है। इसमें मूलाधार , स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार ये आठ चक्र बने हुए हैं। नौ इसमें दरवाजे हैं, दो चक्षुद्वार हैं, दो नासिकाद्वार, दो श्रोत्रद्वार, एक मुखद्वार, दो अधोद्वार । अन्यत्र भी शरीर को नौ द्वारों वाला कहा गया है, जैसे– **नवद्वारे पुरे देही** (गीता ५.१३)। इसमें एक ज्योति से जगमगाता हुआ हृदयकोश या हृदयमंदिर है, उसमें इस शरीरनगरी का राजा जीवात्मा निवास करता है। इतिहासप्रिय भाष्यकारों ने भी यहां अयोध्या का अर्थ शरीरनगरी ही लिया है। लेकिन बड़ी आसानी के साथ इस अयोध्या को रामचन्द्र जी की अयोध्या बनाया जा सकता है। राम की वह ऐतिहासिक अयोध्या ऐसी आदर्श नगरी थी मानो साक्षात् देवपुरी हो, इस लिये वह 'देवानां पूः' थी। उसमें आठ चक्र अर्थात् चक्राकार चौराहे और नौ मुख्यद्वार थे। यदि इतिहास में ऐसा न भी मिलता हो कि राम की अयोध्या में आठ चक्र और नौ दरवाजे थे, तो भी कुछ बिगड़ता नहीं। यह कहा जा सकता है कि रामायण में ऐसा उल्लेख नहीं है तो न सही, लेकिन अवश्य ही उस अयोध्या में ८ चक्र और ९ दरवाजे होंगे, क्योंकि वेद में ऐसा लिखा है। उस अयोध्या में एक 'हिरण्यय कोश' अर्थात् सुनहरा राजमहल बना हुआ था जो मानो स्वर्ग ही था। वह जगह-जगह पर हीरे, मणि, मोती आदि से दमक रहा था

और रात्रि में दीपकों की ज्योति से अपूर्व शोभायमान हो उठता था, इसलिये उसे 'ज्योतिषावृतः' कहा। उस महल में रामचन्द्र रहते थे। हमें धन्यवाद करना चाहिए ऐतिहासिक व्याख्याकारों का कि यहां उन्होंने यह ऐतिहासिक अर्थ नहीं लिया। पर यदि वे करने लगें तो कौन उन्हें रोक सकता है? सैकड़ों लोग उनके अनुयायी मिल जाएंगे जो बड़ी शान से कहेंगे कि यहां वास्तविक अर्थ तो राम की अयोध्या ही है, शरीरनगरी अर्थ तो खींचातानी हैं।

ऋ० १.३२.६ में 'महावीर' और ऋ० ३.४२.६ में 'धनञ्जय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये दोनों इन्द्र के विशेषण हैं। पर कौन कह सकता है कि ऐतिहासिकों की दृष्टि में भी ये सदा इन्द्र के विशेषण ही बने रहेंगे, वे इन्हें ठोकपीट कर जैनधर्म के प्रवर्तक महावीर तथा धनंजय अर्जुन नहीं बना लेंगे? क्या मालूम ऋ० ५.३२.११ में प्रयुक्त 'पांचजन्य' शब्द, जो इन्द्र का विशेषण है, ऐतिहासिक सम्प्रदाय में किसी समय भगवद्गीता का 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' वाला पांचजन्य शंख नहीं बन बैठेगा? किसे निश्चय है कि ऋग्वेद ५.३१.१ के अजातशत्रु इन्द्र किसी समय युधिष्ठिर नहीं हो जाएंगे। किसे खतरा नहीं है कि ऋ० ५.३४.६ का 'विभीषण इन्द्र' ऐतिहासिक परम्परा में आगे चल कर रावण का भाई विभीषण बन जाएगा और अथर्व० ४.६.१ का 'दशशीर्ष दशास्य ब्राह्मण' सूर्य का वाची न रह कर दस सिरों और दस मुखों वाले रावण का वाची हो जाएगा? क्या मालूम ऋ० १.१२६.४ में आये 'दशरथ' शब्द से कभी श्रीराम के पिता दशरथ को ग्रहण किया जाने लगे, और ऋ० १०.१०७ में 'भोज' नाम से जो दानी की स्तुति है, उसे ऐतिहासिक भोज राजा की स्तुति समझ लिया जाए। ऋ० ६.९.१ में जो 'कृष्ण' तथा 'अर्जुन' शब्द इकट्ठे आये हैं, उससे क्या मालूम यह समझा जाने लगे कि इसका संबन्ध महाभारत के कृष्ण-अर्जुन के साथ है और यजु०१६.४३ में जो 'पुलस्ति' शब्द आया है उसे शायद रावण के पितामह पुलस्त्य से मिला दिया जाए? ऋ० १.८०.७ में इन्द्र को कहा है कि तूने अपनी माया से मायावी मृग को मार डाला, इसका संबन्ध शायद कभी राम द्वारा मारीच मृग को मारने के साथ जुड़ जाए। ऋ० २.७.१ में अग्नि को 'भारत' कहा गया है, इससे संभव है कभी यह कल्पना कर ली जाए कि भरत राजा के किसी पुत्र का नाम अग्नि था, जिसकी स्तुति वेद में अग्नि नाम से की गयी है और उससे धन-दौलत आदि मांगी गयी है।

क्या खबर, आगे कभी ऐतिहासिकों की मति में अथर्व० ५.७.१० के 'हिरण्यकशिपु' प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु बन जाएं। और तो और, क्या मालूम कई शताब्दी गुजर जाने के बाद कोई ऐतिहासिक अनुसंधानकर्ता यही निबन्ध लिखकर डी० लिट्० की पदवी प्राप्त करे कि ऋग्वेद के श्रद्धासूक्त का संबन्ध स्वामी श्रद्धानन्द से है। तब बड़ी ईमानदारी और गंभीरता के साथ बखूबी यह युक्ति दी जा सकेगी कि यह समता अचानक ही नहीं हो सकती कि श्रद्धानन्द जी के सुपुत्र का नाम भी 'इन्द्र' हो और वेद में भी श्रद्धासूक्त से ठीक अगला ही सूक्त 'इन्द्र' का सूक्त हो। और भाई, ऐतिहासिकों की लीला का क्या मालूम, यदि बहुत शताब्दियों पीछे तक आज के आजाद-हिन्द-फौज के नेता सुभाषचन्द्र बोस की कहानी अमर बन गयी और बहुत काल गुजर जाने से संयोग्यवश इतिहास को यह कड़ी लुप्त हो गयी कि सुभाष बोस वेदों से बहुत-बहुत बाद के हैं, तब ऋ० ८.२३.२० में आये 'सुभास' पद से इन्हीं सुभाष बोस का ग्रहण किया जाने लगे, क्योंकि मंत्र में जो सुभास को 'शुक्रशोचि', 'विशामग्निः' और 'ईड्य' कहा गया है, यह नेता जी सुभाष बोस के लिये बिल्कुल फिट बैठ जाता है। 'शुक्रशोचि' का अर्थ है तेजस्वी शरीर वाला, 'ईड्य' का अर्थ है संमान के योग्य और निरुक्त तथा ब्राह्मणग्रन्थों से परिचय रखने वाले जानते ही हैं कि 'अग्नि' का अर्थ नेता होता है, इसलिये 'विशाम् अग्निः' का अर्थ हुआ 'लोगों का नेता'। आज तो यह सब व्याख्या निःसंदेह मज़ाक के रूप में ली जाएगी, किन्तु कई शताब्दियों बाद का ऐतिहासिक इसे भी उतनी ही गंभीरता के साथ स्थापित कर सकेगा जितनी गंभीरता से आज वह यह स्थापित करता है कि ऋग्वेद तो आर्य तथा दस्युओं के ऐतिहासिक युद्ध का लेखा मात्र है। क्या इस प्रकार के अनर्थकारी ऐतिहासिक सम्प्रदाय को आप वेदार्थ में प्रामाणिक मानने के लिए तैयार हैं?

कहा जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थ, रामायण, महाभारत और पुराणों की अनेक ऐतिहासिक कहानियां वेदों में मिलती हैं। वस्तुतः यह ठीक भी है। किन्तु विचारधारा के मूल में थोड़ी सी भूल काम कर रही है। यह तो एक सर्वमान्य सिद्धान्त है, जिसकी पुष्टि हमें इस लेख में करने की आवश्यकता नहीं कि अब तक जो भी प्राचीन से प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उसमें वेद सबसे पुराने हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों से भी वे निःसंदेह पुराने हैं। और ब्राह्मणग्रन्थ तो बने ही वेद के आशय

को स्पष्ट करने के लिए हैं; वे भी वेदों से उत्तरवर्ती ही हैं। इसलिये यह तो समझ में आता है कि वेद के कुछ प्रकरणों को रोचक बनाने के लिए तथा सर्वसाधारण में प्रचारित करने के लिए बाद के साहित्य पुराण आदि में उन्हें कथानक का रूप दे दिया गया हो, किन्तु इसके विपरीत यह नहीं माना जा सकता कि पुराणों की कहानियां वेद में आ गयी हैं। यह तो तभी हो सकता है कि यदि पहले यह सिद्ध किया जा सके कि पुराण आदि वेदों से पुराने हैं। पर इस बात को ऐतिहासिक लोग भी मानने को तैयार नहीं हैं। इसलिए हमें इसी दृष्टिकोण को लेकर चलना चाहिए कि जो कहानियां हैं वे वेदों से ब्राह्मणग्रन्थ, पुराण आदि परवर्ती साहित्य में गयी हैं, न कि पुराण आदि से वेदों में आयी हैं। और यदि इस बात को हम हृदयंगम कर लेंगें तो वेदार्थ करने में इस गलती से हम बचे रहेंगे कि जहां कहीं वेद में कोई ऋषि, राजा आदि का नाम प्रतीत हुआ, झट हम पुराणों पर जा पहुंचे और वहां की कहानी हमने लिख दी और मान लिया कि अमुक वेदमंत्र पुराण की अमुक कहानी को बताने के लिए रचा गया है। अरे भाई, वेद का अमुक मंत्र पुराण की अमुक कहानी को बताने के उद्देश्य से रचा गया है, यह तो बिल्कुल उल्टी बात हुई। बताना तो यह चाहिये कि अमुक वेदमंत्र का आशय यह है और इसको लेकर पुराण की अमुक कहानी रची गयी प्रतीत होती है। नीचे कुछ उदाहरण देकर हम इस बात को स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार वेद के संदर्भों को लेकर कथाएं रच ली गयी हैं।

दधीचि की हड्डियों से वृत्र को मारने की कथा

ऋग्वेद १.८४.१३ में दध्यङ् की हड्डियों से ९९ वृत्रों के मारे जाने का उल्लेख मिलता है। सामवेद तथा अथर्ववेद में भी यह मंत्र आया है।

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव।।

इसका सीधा-सादा अर्थ है, "अद्वितीय इन्द्र ने दध्यङ् की हड्डियों के द्वारा ९९ वृत्रों को मार डाला।" इसी मंत्र को लेकर बाद के साहित्य भागवत, महाभारत आदि में दधीचि की हड्डियों से वृत्र को मारने की कई प्रकार की आख्यायिकाएं बन गयी हैं। सायण ने इस मंत्र पर शाट्यायनी का यह इतिहास उद्धृत किया है– एक बड़े प्रतापी ऋषि दध्यङ् थे। जब तक वे जीवित रहे, असुरों को उपद्रव करने की हिम्मत

नहीं हुई। किन्तु उनके स्वर्ग चले जाने पर पृथिवी असुरों से छा गयी। इन्द्र से भी वे असुर पराजित नहीं हो सके। इन्द्र ने सोचा– चलो, दध्यङ् का कोई अंग ही मिल जाए तो भी काम चल सकता है। खोजने पर उनका सिर हाथ लग गया। उसी सिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा।

महाभारत और भागवत में इस विषय की जो आख्यायिकाएं मिलती हैं, उनका भाव इस प्रकार है– वृत्र नाम के एक दैत्यराज ने सारी त्रिलोकी में उपद्रव मचा रखा था। देवता भी उसके उपद्रवों से तंग आ गये थे। बहुत उपाय किये, फिर भी वह नहीं मरा। उसे मारने का और कोई उपाय न देख इन्द्रसहित सब देवता ब्रह्मा जी (या विष्णु जी) की शरण में गये। उन्होंने यह उपाय बताया कि दधीचि (या दधीच) नाम के एक तपस्वी ऋषि हैं, वे यदि अपने शरीर की हड्डियां दे दें तो उनसे वृत्र मर सकता है। तब देवों के प्रार्थना करने पर दधीचि ऋषि ने अपना शरीर त्याग दिया। देवों ने उनकी हड्डियां लेकर वज्र तैयार कराया। उसी वज्र से इन्द्र ने वृत्र को मारा।

उपर्युक्त दोनों कथाओं में हम देख सकते है कि पर्याप्त अन्तर है। एक में तो मंत्र के अनुसार दध्यङ् का दध्यङ् ही रहा है, किन्तु दूसरी में दध्यङ् का स्थान दधीचि या दधीच ने ले लिया है। पहली कथा के अनुसार तो दध्यङ् ऋषि का आयु पूरी होने के बाद स्वयं प्राणान्त हुआ था और भाग्यवश उनके सिर (अश्व-सिर) का ढाचा बचा हुआ था, उसी की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा। किन्तु दूसरी कथा में यह बात नहीं है, वहां यह है कि दधीचि जीवित थे, देवताओं ने जाकर उनसे प्रार्थना की कि आपकी हड्डियों की आवश्यकता है। देवों का काम चल जाए, इस हेतु दधीचि ने मरना स्वीकार कर लिया। दोनों कथाओं में यह अन्तर क्यों हो गया? बात यह है कि यह कोई ऐतिहासिक घटना है ही नहीं। वेदमंत्र को लेकर उस पर कल्पित कथाएं बना ली गयी है। मंत्र में तो इतना ही संकेत है कि "दध्यङ् की हड्डियों से वृत्र मरा है"। उसके आगे इसे पूरे कथानक का रूप देते समय कथाकार स्वतंत्र है, जिस रंग में चाहे उसे रंग दे। आज भी यदि एक ही प्लॉट या घटना पर दो कहानीकार कहानी लिखने बैठें तो दोनों अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार कुछ नये पात्रों को कल्पित करेंगे, कुछ घटना में हेर-फेर करेंगे, और दो सुन्दर कहानियाँ हमारे आगे प्रस्तुत हो जाएंगी। दोनों के मूल में घटना एक होते हुए भी दोनों पर्याप्त अंतर लिये हुए होंगी। यही बात

यहां भी है। यद्यपि दोनों आख्यायिकाओं का आधार एक ही मंत्र है, तो भी क्योंकि उनके रचयिता अलग-अलग हैं, इसलिए आख्यायिकाओं में परस्पर पर्याप्त अंतर हो गया है। अब हम मंत्र के भाव पर आते हैं।

आधिभौतिक भाव– सबसे पहली बात हमें यह समझ लेनी चाहिए कि मंत्र में यह कहीं नहीं लिखा कि मरे हुए दध्यङ् की हड्डियों से वृत्र मारा गया। यह तो कहानी रचने वालों की अपनी कल्पना है। मंत्र का दध्यङ् तो जीता-जागता शूरवीर है। यदि निर्जीव हड्डियों की ही आवश्यकता होती तो दध्यङ् की हड्डियों में ही क्या विशेषता थी जो उनकी हड्डियों से वज्र बनाया जाता। हड्डी-हड्डी तो सब एक सी। मान भी लें कि दध्यङ् की हड्डियां बड़ी मजबूत थीं, तो भी उनकी हड्डियों से भी अधिक मजबूत हड्डियां अन्य बहुत से प्राणियों की मिल सकती थीं। और हड्डी को छोड़ कर लोहे आदि का भी तो वज्र बन सकता था। इससे स्पष्ट है कि मृत दध्यङ् की हड्डियों से नहीं, बल्कि जीवित दध्यङ् की हड्डियों से वृत्र मरा है। किन्तु यह दध्यङ् है कौन? यह कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। निरुक्त की व्युत्पत्ति को ही लें तो–**प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा, प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा।** निरु० १२.३३, ऐसा शूरवीर सेनापति दध्यङ् है जिसे एकमात्र यही ध्यान है कि कैसे शत्रु को पराजित किया जाए, और साथ ही जिसकी तरफ सारे राष्ट्र का ध्यान लगा हुआ है कि यह बांका वीर अवश्य शत्रुओं के छक्के छुड़ा देगा। 'दध्यङ्' शब्द में एक और भाव यह भी है कि जो रणभूमि में डट कर संग्राम करने वाला है– **'दधत् अन्चतीति'।** उस वीर की हड्डियों में ताकत है, उसकी हड्डियां मुलायम-मुलायम गद्दों पर सोने की अभ्यस्त नहीं हैं, उन्हें तो पत्थर से जूझने में ही आनन्द आता है। इन्द्र है राजा। भला जब राजा के राज्य में ऐसी मजबूत हड्डियों वाला शूरवीर सेनापति होगा तब क्यों नहीं उसकी हड्डियों के बल से शत्रुरूपी वृत्र का संहार होगा? एक वृत्र क्या, यदि ९९ वृत्र भी मिलकर आ जाएंगे तो भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। ९९ की संख्या वेद में अनेक स्थानों पर आयी है। ठीक-ठीक गिनती में निन्यानवे शत्रु ही दध्यङ् की हड्डियों से मरते हैं, ऐसा आशय यहां नहीं हैं। हिन्दी में जब हम किसी वीर सिपाही की प्रशंसा में यह वाक्य बोलते हैं कि "एक क्या, उसने तो बीस का सफाया कर दिया", तो ठीक गिनती में बीस यह अभिप्राय नहीं होता, किन्तु बीस का अभिप्राय 'अनेक' होता है। १०० में से ९९ को, अर्थात् प्रायः सभी शत्रुओं को मार

डाला है, कोई ही इक्का-दुक्का बच पाया होगा, यह भाव है। तो सामान्यरूप से मंत्र के आशय को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं– ''हे लोगो देखो जो राजा स्वयं 'अप्रतिष्कुत' है अर्थात् ऐसा है कि शत्रु उसका आसानी से प्रतिकार नहीं कर सकते और जिसका सेनापति है दध्यङ् जैसा वीर, वह सदा ही शत्रुओं को मारने में सफल हुआ है।''

आधिदैविक भाव– यह तो हुआ मंत्र का आधिभौतिक अर्थ। आधिदैविक अर्थ में इन्द्र परमेश्वर है; 'दध्यङ्' सूर्य है। निरुक्तकार ने 'दध्यङ्' को पढ़ा भी द्युस्थानीय देवों में ही है। निरुक्त की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार सूर्य 'दध्यङ्' इसलिए है कि वह सदा अपने प्रकाशन के ध्यान में लगा रहता है, और सब प्राणियों का ध्यान भी उसकी ओर लगा रहता है। यदि 'दध्यङ्' सूर्य है तो उसकी हड्डियां होंगी सूर्य की किरणें। ९९ वृत्र हैं बादलों की अनेक टुकड़ियां। निरुक्तकार कहते हैं- **तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः** निरु० २.२७, अर्थात् ऐतिहासिक लोग जो यह कहते हैं कि एक असुर का नाम वृत्र है, जो त्वष्टा का लड़का था, वह गलत है, वृत्र तो बादल है। बादल के अतिरिक्त शत्रुओं या राक्षसों को भी वृत्र कहते हैं। अथर्ववेद में अनेक राक्षसवाची नामों से रोगों या रोग-कृमियों को पुकारा गया है। तो रोग या रोग-कृमि भी वृत्र हैं। इसप्रकार मंत्र का आधिदैविक अर्थ यह होगा कि इन्द्र परमेश्वर ने सूर्य की किरणों से बादल की टुकड़ियों को या अनेक रोग-कृमियों को मार डाला।

आध्यात्मिक भाव– आध्यात्मिक अर्थ में इन्द्र आत्मा है। 'दध्यङ्' है भगवान् के ध्यान में लगा हुआ या जिसमें सब इन्द्रिय-देवों का ध्यान लगा रहता है ऐसा 'मन'। मन की हड्डियां क्या होंगी? जब मनरूप दध्यङ् ऋषि स्वयं सूक्ष्म है, तो उसकी हड्डियां भी वैसी ही सूक्ष्म होनी चाहिएं। मन की सबल हड्डियां हैं उसकी उच्च मनोवृत्तियां, ९९ वृत्र हैं असंख्य पाप-वासनाएं। मनुष्य के अन्दर एक देवासुर-संग्राम चल रहा है। पाप-वासनाएं मनुष्य के आत्मा पर अपना प्रभुत्व कर लेना चाहती है। किन्तु आत्मा को यदि भगवद्भजन तथा सद्विचारों में लीन मनरूप दध्यङ् ऋषि मिल जाएं, तो उनकी उच्च मनोवृत्तिरूपी हड्डियों से वह अवश्य ही पापवासनारूप सैंकड़ों वृत्रों का संहार कर सकता है। यही इस मंत्र का आध्यात्मिक आशय है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य के शरीर में वाणी 'दध्यङ्' ऋषि है– **वाग् वै दध्यङ् आथर्वणः** श०६.४.२.३। वाणी की हड्डियों का अभिप्राय है 'वाग्वज्र'। जो मनुष्य 'अप्रतिष्कुत' है अर्थात् जिसकी युक्ति-परम्पराएं ऐसी जबर्दस्त हैं कि उनका प्रतिकार करना कठिन हो जाता है, वह वीर मनुष्य अपनी वाणी की हड्डियों से, अपने वाग्वज्र से, असत्य का पक्ष लेने वाले बड़े से बड़े असुर-दल को परास्त कर सकेगा। ऋषि दयानन्द इसी कोटि के मनुष्य थे। इसलिए उनकी वाणी की हड्डियों की मार के आगे कोई भी प्रतिपक्षी नहीं टिक सका; जो असत्य का पक्ष लेकर शास्त्रार्थ करने आया वही उनके वाग्वज्र से पराजित होकर लौटा। इसीप्रकार प्रत्येक मनुष्य 'अप्रतिष्कुत इन्द्र' बन कर अपने वाग्वज्र से प्रतिपक्षियों को परास्त कर सकता है, यह भी मंत्र का भाव हो सकता है।

क्रिया भूतकाल की क्यों?

आप कह सकते है यदि वेद को इतिहास बताना अभिप्रेत नहीं था तो उसने क्रिया भूतकाल की क्यों रखी? मैं पूछता हूं जब आप हिन्दी में यह वाक्य बोलते हैं कि ''बहादुर ने ही विजय पायी है'', तब क्या आपका अभिप्राय किसी इतिहास को बताने का होता है? 'विजय पायी है' इस भूत की क्रिया से आप इस सामान्य नियम को ही बताना चाहते हैं कि दुनियां में जो बहादुर होता है वही विजय पाता है। और यह सभी कालों के लिये सत्य है। इसप्रकार भूत क्रिया से एक सार्वकालिक नियम को बताने की परिपाटी भाषाओं में देखी जाती है। यही शैली वेद में भी है। इसी को 'नित्य इतिहास' नाम से कहा जाता है। इसलिए ''इन्द्र ने दध्यङ् की हड्डियों से ९९ वृत्रों को मारा है'' इस प्रकार के प्रयोग से वेद यही बताना चाहता है कि हे लोगो, सदा इस नियम को ध्यान में रखो कि जिस राजा का सेनापति दध्यङ् गुण वाला है वही वृत्रों पर विजय पाता है। आप कहेंगे, यहां तो 'जघान' यह लिट् का प्रयोग है और लिट् अनद्यतन परोक्षभूत में आता है। इसका उत्तर आपको वेद से ही मिल जाएगा। वेद तो आज हुई घटना के साथ भी लिट् का प्रयोग करता है, **अद्या ममार स ह्यः समान,** ऋ० १०.५५.५, कल जो जी रहा था वह आज मरा पड़ा है। इससे परिणाम निकलता है कि वेद में यह नियम नहीं है कि लिट् परोक्ष भूत में ही प्रयुक्त हो। पाणिनि मुनि ने तो इसके

लिये सूत्र भी बना दिया है- **छन्दसि लिट्** (पा० ३.२.१०५) अर्थात् वेद में लिट् सामान्य भूत में ही प्रयुक्त होता है। इतना ही नहीं, **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः** (पा०३.४.६), अर्थात् वेद में भूतवाची लुङ्, लङ् और लिट् लकार भूत से अतिरिक्त वर्तमान आदि अर्थों के भी द्योतक होते हैं।

वेदों में जहां-कहीं भी हम किसी भूतवाची लकार का प्रयोग देखते हैं वहां झट हम परोक्षभूत का अर्थ कर लेते हैं। यहीं गलती कर बैठते हैं। यह गलती होते ही मंत्र इतिहास को बताता हुआ प्रतीत होने लगता है। अर्थ हमें परोक्षभूत का न करके, अद्यतनभूत या वर्तमानसूचक भूत या नियमसूचक भूत का करना चाहिए। जैसे उपर्युक्त मंत्र में 'जघान' का अर्थ 'मारा था' यह न करके 'मारा है' ऐसा नियमसूचक अर्थ करना चाहिए। ऐसे ही **शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बध्दः** ऋ० १.२४.१३, इसका अर्थ तीन खूंटों में बंधे हुए शुनःशेप ने वरुण को पुकारा था यह न करके 'पुकारा है' ऐसा वर्तमानसूचक अर्थ करना चाहिए। और यह अर्थ करते ही स्वतः भान होने लगेगा कि शुनःशेप कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकता। इसप्रकार इस नियम को ध्यान में रखने से वेद के अनेक ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले वर्णन बिना किसी खींचातानी के बिल्कुल सामान्य प्रतीत होने लगेंगे।

देवापि और शन्तनु की कहानी

इन्द्र तथा दधीचि की कथा का अभिप्राय दिखाकर अब हम वेद की एक और कहानी पर आते हैं, वह है देवापि और शन्तनु की कहानी। ऋ० १०.९८.७ में वृष्टियज्ञ का वर्णन है। राजा शन्तनु ने देवापि को पुरोहित बना कर वृष्टियज्ञ कराया है और उससे राज्य में वर्षा हो गयी है। देखिए, मंत्र क्या कहता है–

यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतःकृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्।।

ऋ० १०.९८.७

राजा शन्तनु यज्ञ कराने के लिए देवापि को पुरोहित बनाते हैं। वह देवापि 'राज्य में वर्षा हो' ऐसा मन से ध्यान करता है। देवापि देवश्रुत है। वह वर्षा की याचना करता हुआ यज्ञ कर रहा है। उसके मंत्रपाठ आदि में यदि कोई त्रुटि संभावित हो तो बृहस्पति नामक ब्रह्मा उस त्रुटि-निवारण के लिए उपस्थित है।

अब देखिए, ऐतिहासिक सम्प्रदाय की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वेद में जहां-कहीं कोई नाम आया झट उसे खींचतान कर इतिहास के साथ मिला दिया। यदि इनका बस चले तो वे वेद के सूर्य को राजा सूर्य बना दें, वेद के वायु को राजा वायु बना दें, वेद के अश्व को राजा अश्वपति के साथ मिला दें। पर करें क्या, उनके दुर्भाग्य से ये शब्द सूरज, हवा, घोड़े आदि भौतिक अर्थों में ऐसे प्रसिद्ध हैं कि चाहें तो भी वे इन्हें तोड़-मरोड़ नहीं सकते। जहां भी अर्थ कुछ लुप्त सा हो गया है, वहां उन्होंने अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। अश्विनौ को आखिर उन्होंने दो घुड़सवार राजा बना ही डाला, जिसका संकेत **पुण्यकृतौ राजानौ इत्यैतिहासिकाः।** निरु० १२.१ इन शब्दों में निरुक्तकार ने किया है। यहां जिस प्रसंग को हम ले रहे हैं वहां भी ऐतिहासिक लोग नहीं चूके। उन्होंने यह इतिहास कल्पित कर लिया है—

'देवापि और शन्तनु नाम के दो कुरुवंशी भाई थे। शन्तनु उनमें छोटा था। नियमानुसार राज्य बड़े भाई देवापि को मिलना चाहिय था। किन्तु शन्तनु छोटा भाई होते हुए भी स्वयं राजा बन बैठा। यह देखकर देवापि तप करने वन में चला गया। शन्तनु ने बड़े भाई का हक छीन कर अधर्म किया था, इसलिये १२ वर्ष तक उसके राज्य में वृष्टि नहीं हुई। प्रजा भूखी मरने लगी। अब वह चिन्तित हुआ। ब्राह्मणों ने उससे कहा, तूने अधर्म किया है, इसलिये वर्षा नहीं होती। तब वह बड़े भाई को मनाने पहुंचा। देवापि ने कहा, अब राज्य तो मैं नहीं लूंगा, तुम वृष्टियज्ञ करो, मैं तुम्हारा पुरोहित बन जाऊंगा। ऐसा ही किया गया, तब राज्य में वर्षा हो गयी।''

यदि यह कहानी वेद के वर्णन को ही अधिक रोचक बनाने के उद्देश्य से गढ़ी गयी हो, तब तो ठीक है। किन्तु यदि आशय यह हो कि सचमुच ऐसी कोई ऐतिहासिक घटना हुई थी जिसे वेद बताता है, तो वह एक भ्रान्ति ही है। देवापि और शन्तनु के कुरुवंशी भाई होने, छोटे के राजा बन बैठने, १२ वर्ष वृष्टि न होने आदि का यहां वेद में कोई उल्लेख नहीं है। यह सब तो कथानक बनाने वालों की अपनी कल्पना है। वेद के शन्तनु और देवापि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है, किन्तु गुणवाची नाम हैं। यदि इसमें किसी की आपत्ति हो तो हम कहेंगे कि जहां वेद में गोपति या भूपति शब्द आता है वहां उसे गुणवाची नाम अर्थात् 'पृथिवी का मालिक राजा' क्यों समझते हो, ऐसा क्यों नहीं मानते कि गोपति या

भूपति किसी राजा-विशेष के नाम हैं? यदि यह कहो कि गोपति या भूपति नाम का कोई राजा इतिहास में मिलता नहीं, तो हम कहेंगे कि जब वेद को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया तब इसकी क्या आवश्यकता है कि किसी दूसरी ऐतिहासिक पुस्तक में भी उसका उल्लेख मिले। और, दूसरे यह कि इतिहास क्या जितने हुए हैं सभी का मिलता है? क्या अनेक बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा, महर्षि आदि इतिहास में लुप्त नहीं हो गये हैं? वैसे ही गोपति, भूपति भी लुप्त हो गये होंगे, जिनका सौभाग्य से वेद में नाम बचा रह गया है। असल बात तो यह है कि 'शन्तनु' और 'देवापि' का अर्थ भी यदि आज गोपति, भूपति की तरह प्रसिद्ध रहा होता, तो कोई यह कहने का साहस न करता कि शन्तनु और देवापि ऐतिहासिक नाम हैं। अस्तु, यास्क ने शन्तनु का अर्थ किया है– **शन्तनुः =शन्तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा,** निरु० २.१२। 'शम्' और 'तनु' इन दो शब्दों से मिल कर यह बना है। जो राजा ऐसा प्रयत्न करता है कि मेरे राज्य में सबको तनुसुख प्राप्त हो, सब शरीर नीरोग, प्रसन्न, सुखी रहें और उसीप्रकार प्रजा भी जिसके लिए यह चाहती है कि हमारा राजा शरीर से स्वस्थ, सुखी होता हुआ युग-युग जीता रहे, वह राजा शन्तनु कहलाता है, या यों कहना चाहिये कि 'शन्तनु' नाम से राजा का यह गुण सूचित होता है। उसके राज्य में यदि कभी दैवयोग से अनावृष्टि हो जाए, तब उसे चाहिए कि 'देवापि' गुण वाले व्यक्ति को पुरोहित बना कर वृष्टियज्ञ कराये। **'देवानाप्नोतीति देवापिः'**, वह उच्च विद्वान् देवापि है जिसने देव को अर्थात् भगवान् को या दिव्यगुणों को प्राप्त कर रखा है। पौराहित्य-कर्म का अधिकार प्रत्येक को नहीं होता, देवापि गुण वाले से ही यज्ञ कराना चाहिये यह सूचित करने के लिए ही जान-बूझ कर वेद ने पुरोहित को देवापि नाम से स्मरण किया है। मंत्र में ही इसका साक्ष्य मिल जाता है, क्योंकि देवापि के साथ उसका विशेषण 'देवश्रुत' पढ़ा हुआ है, जो कि देवापि के अर्थ को खोल देता है। वेद की यह शैली हमें अनेक स्थानों पर देखने को मिलती है कि वह किसी गूढ़ शब्द को मन्त्र में ही उसके सदृश एक और शब्द रख कर खोल देता है। 'देव' का अर्थ बादल भी हो सकता है, जो बादल को प्राप्त कर सकता है, अर्थात् जिसमें यह सामर्थ्य है कि बादल को बरसा कर नीचे जमीन पर ले आये वह वृष्टियज्ञ में निपुण विद्वान् भी देवापि कहलायेगा। हमने देखा कि वेद के शन्तनु और देवापि भी दध्यङ् की तरह ही ऐतिहासिक नहीं हैं। हम यह नहीं कहते कि शन्तनु नाम का

कोई व्यक्ति इतिहास में हुआ ही नहीं। वह हुआ होगा, जब वह बालक होगा तब उसके माता-पिता ने वेद से शन्तनु नाम को उसके लिये चुन लिया होगा, जैसे आज-कल हम रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर राम, लक्ष्मण, अर्जुन, भीम आदि नाम रख लेते हैं। नाम-सादृश्य को देखकर इतिहासकारों ने उसी ऐतिहासिक शन्तनु के साथ वेद की कहानी को भी जोड़ दिया, मानो वह उसी के साथ घटी हो।

मित्रावरुण और उर्वशी से वसिष्ठ की उत्पत्ति

एक और आख्यान को लीजिए। वेद में वसिष्ठ के जन्म के संबन्ध में लिखा है–

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ-उर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ।।

ऋ० ७.३३.११

'हे वसिष्ठ, तू मित्र और वरुण का लड़का है, हे ब्रह्मन्, तू उर्वशी के मन से पैदा हुआ है।'' किन्तु क्या ये पुराणों के वे वसिष्ठ ऋषि हैं, जिनके जन्म के बारे में लिखा है कि उर्वशी नामक अप्सरा को देखकर मित्र-वरुण का वीर्य स्खलित हो गया, वह घड़े में जाकर गिरा, उससे वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए। क्या यह संभव है? वेद के वसिष्ठ ऋषि तो कोई और ही हैं। पूरे मंत्र के अर्थ पर दृष्टिपात कीजिए–

(वसिष्ठ, उत मैत्रावरुणः असि) हे वसिष्ठ, तू मित्र और वरुण का लड़का है, (ब्रह्मन्, उर्वश्याः मनसः अधिजातः) हे ब्रह्मन्, तू उर्वशी की मनःकामना से पैदा हुआ है। (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्य नियम के अनुसार (द्रप्सं स्कन्नं त्वा) बूंद के रूप में गिरे हुए तुझको (विश्वे देवाः पुष्करे अददन्त) सब देवों ने तालाब में पहुंचा दिया है।

वेद का यह वसिष्ठ वर्षा की बूंद नहीं, तो और क्या है? अथर्व-वेद में स्पष्ट ही वर्षा-जल को मित्र-वरुण का लड़का कहा गया है–''**न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति**'' अथर्व० ५.१९.१५। अन्यत्र भी मित्र और वरुण वर्षा के अधिपति माने गये हैं–**मित्रावरुणौ वृष्ट्यधिपती,** अथर्व० ५.२४.५। इसलिए मित्र-वरुण से पैदा हुआ यह वसिष्ठ वर्षाजल ही है। ये मित्र-वरुण दो वायुएं हैं, जो वर्षा में सहायक होती हैं। उर्वशी क्या

है? उर्वशी है 'बिजली', यह ऋ० ५.४१.१९ से स्पष्ट है। जब मित्र-वरुण या ठण्डी-गरम हवाओं का मेल होता है और आकाश में बिजली चमकती है तब वर्षा होती है। इस प्रकार वर्षाजल उर्वशी का पुत्र होता है और मन्त्र के वर्णन के अनुसार बूंद रूप में बरस कर वह तालाब आदि में चला जाता है।

आप कहेंगे, तुम हो बड़े होशियार । वेद में भी तो लिखा है– **कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्,** मित्र-वरुण ने घड़े में वीर्य-सेचन किया, **ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्,** उससे वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए। इसे आप चुपके से टाल ही गये। नहीं, टाल नहीं गये, उस मंत्र को भी ले लीजिए–

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ।।

ऋ० ७.३३.१३

यहां पर भी वसिष्ठ वर्षा की बूंद ही है। रेतस् शब्द निघण्टु के अनुसार जलवाची है। 'कुम्भ' साधारण कुम्हार का बना हुआ छोटा सा घड़ा नहीं है, बल्कि महान् कुम्भकार परमेश्वर से रचा हुआ भूतल-रूप बृहत् कुम्भ है। अब मन्त्र का अर्थ देखिए–

(सत्रे ह जातौ) आकाश में पैदा हुए, (इषितौ) ईश्वरीय नियमों से प्रेरित किये हुए मित्र-वरुण वायुओं ने (समानम्) एक साथ मिलकर (कुम्भे रेतः सिषिचतुः) भूतल-रूप कुम्भ में जल को सिंचित किया अर्थात् भूमि पर जल बरसाया। (ततः मध्यात्) उस बरसे हुए जल में से (मानः) कुछ जल-परिमाण (उदियाय) वाष्प बनकर आकाश में चला गया, (ततः) उससे (वसिष्ठम् ऋषि जातम् आहुः) वसिष्ठ ऋषि को पैदा हुआ बताते हैं।

यहां इस प्राकृतिक नियम को दर्शाया गया है कि मित्र-वरुण हवाएं चलने से जो पानी पृथिवी पर बरसता है, उसमें से बहुत सा अंश सूर्यताप द्वारा वाष्प बनकर फिर आकाश में चला जाता है और बादल बन जाता है। वह बादल फिर बूंद-रूप में बरसकर वसिष्ठ कहलाता है। इन्हीं मन्त्रों को लेकर बृहद्देवता ग्रन्थ में इस आशय की कहानी रच दी गयी है कि उर्वशी के दर्शन से मित्र-वरुण का रेतः स्खलित होकर घड़े में गिरने से वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए थे। संभव है वह लिखी गयी हो वेद के वर्णन को रोचक बनाने की दृष्टि से, किन्तु अब तो वह भ्रान्ति पैदा करने

का ही कारण बन रही है। सायण ने बृहद्देवता की कहानी को उद्धृत करके ही संतोष कर लिया है। बस, मन्त्र की व्याख्या हो गयी। सायण भी संतुष्ट, पाठक भी संतुष्ट कि बस, सच्चा-झूठा जैसा भी यह किस्सा है, उसी को लेकर मन्त्र रचा गया है, यद्यपि बात है उल्टी अर्थात् मन्त्र को लेकर किस्सा रचा गया है।

मन्त्रों पर कथाएं आज भी रची जा सकती हैं

जैसे बृहद्देवता या पुराण आदि में मन्त्रों को लेकर कथाएं रच ली गयी हैं, वैसे कथाएं आज भी अनेक, अनेक क्या प्रायः सभी, मन्त्रों पर रची जा सकती हैं। नमूना चाहें तो देखिए। ऋग्वेद का पहला ही मंत्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ।।

इसका ऋषि है मधुच्छन्दा। बनाइए कहानी—मधुच्छन्दा को कोई यज्ञ करना था। उसके लिये वे पुरोहित खोजने लगे। कोई अच्छा पुरोहित उन्हें नहीं मिला। किसी ने उन्हें बताया कि 'अग्नि' नाम के एक बड़े भारी विद्वान् 'पृथिवी' नाम की नगरी में वास करते हैं, पर वे दक्षिणा बहुत लेते हैं। मधुच्छन्दा उन्ही के पास जा पहुंचे और अपना विचार उनसे कह दिया कि मैं आपको पुरोहित वरण करना चाहता हूं। अग्नि ने उत्तर दिया कि हम तुम्हारा पौरोहित्य तो स्वीकार कर लेंगे, पर दक्षिणा में तुम्हें लक्ष स्वर्णमुद्राओं के बराबर रत्न देने होंगे। मधुच्छन्दा ने उसकी शर्त स्वीकार कर ली और उन्हें पुरोहित बना कर यज्ञ कराया। इस मन्त्र में वह उन्हीं 'अग्नि' की स्तुति कर रहा है—"मैं अग्नि देव की पूजा करता हूं, जिन्होंने मेरे यज्ञ का पुरोहित होना स्वीकार कर लिया है, जो होता नामक ऋत्विज् बन गये हैं, जो दक्षिणा में सब पुरोहितों से अधिक रत्नों को लेने वाले हैं।" क्या कोई ऐतिहासिक यह कहेगा कि यह एक ऐतिहासिक कहानी है और इसी इतिहास को लेकर ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र रचा गया है? एक और मन्त्र पर आइए। अथर्व० ४.६ का पहला मन्त्र यह है—

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम्।।

असल में तो यहां सूर्य की विषनाशक शक्ति का वर्णन है। पर उसे छोड़िए। इसप्रकार मन्त्र का अर्थ करिए–"प्राचीन काल में दस सिरों वाला और दस मुखों वाला एक श्रेष्ठ ब्राह्मण पैदा हुआ था। उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने सोम-रस पी लिया और इस प्रकार विष को निष्प्रभाव कर दिया।" यह दस सिर और दस मुखों वाला ब्राह्मण तो आप बिना पूछे ही कह उठेंगे कि रावण है। तो इस पर हम एक कहानी बनायेंगे।

"एक बार रावण कुछ राक्षसों-समेत वन में विहार करने निकला। मार्ग में अचानक उसे एक बड़े जहरीले सांप ने काट लिया। तुरन्त सारे शरीर में विष फैल गया। बड़े-बड़े वैद्य बुलाये गये, विषनाशक जड़ी-बूटियां मंगायी गयीं। पर सब उपाय निष्फल रहे। देवता भी रावण के भय से कांपते थे। इसलिये जब उन्होंने सुना तब शीघ्र ही चिकित्सा के लिये प्रसिद्ध वैद्य अश्वी देवों को भेजा। अश्वी देवता अपने साथ सोम का अमृतकलश लेते आये थे। उन्होंने रावण को सोम-रस पिला दिया। उसे पीते ही विष का प्रभाव दूर हो गया।"

अब हम ऐतिहासिक सम्प्रदाय वालों से पूछते हैं कि क्या वे यह मानेंगे कि इन कथाओं को सूचित करने वाले ये वेदमन्त्र हैं? उत्तर हमें पहले से ही मालूम है, वे सिर हिलाकर कहेंगे, नहीं भाई, यह कैसे माना जा सकता है, ये कहानियां तो तुमने बाद में बना ली हैं। अच्छा, अब एक काम करो, ऐसे सौ-दो-सौ मन्त्रों पर आख्यायिकाएं बनाकर संस्कृत में भोज-पत्रों पर या जीर्ण-शीर्ण कागजों पर ऐसी स्याही से और ऐसे अक्षरों में लिख लो कि वे पुराने जमाने की लिखी प्रतीत हों। उन्हें होशियारी के साथ पेटी में बंद करके किसी ऐसे स्थान के समीप गाड़ दो जहां ऐतिहासिक खुदाई हो रही हो। जब पेटी निकलेगी, तब वह ऐतिहासिक खोज की एक बहुमूल्य वस्तु समझी जाएगी। उसे देखकर ऐतिहासिक सम्प्रदाय वाले तो नाच उठेंगे कि आहा, बहुत से वेदमंत्रों का मूल स्रोत पता लग गया। बात क्या हो गयी? अभी तो आप कहते थे कि ये कहानियां तो तुमने बाद में बना ली हैं, इसलिए अमान्य हैं, और अभी देखते-देखते वे अमान्य से मान्य कैसे हो गयीं? क्षण भर पहले तो वे हमारी बनाई हुयी थीं और अब वे वेद का मूलस्रोत बन गयीं। धन्य है ऐतिहासिक पक्ष की माया! जिस ऐतिहासिक पक्ष का आधार ऐसा निस्सार हो वह भी क्या कभी वेदार्थ में प्रामाणिक माना जा सकता है? इन हमारी कहानियों में तथा बृहद्देवता, पुराण आदि की कहानियों में

कुछ भी अन्तर नहीं है। वे भी इसीप्रकार वेदमन्त्रों को लेकर बनायी गयी हैं, न कि वेदमन्त्रों की मूल हैं। अन्तर केवल इतना ही है के हम आज बना रहे हैं, उन्होंने कुछ समय पहले बना रखी हैं, हैं दोनों ही वेद से लाखों-करोड़ों बरस पीछे की।

आप देखकर हैरान होंगे कि कैसे साधारण मन्त्रों पर, जिनमें आपको स्वप्न में भी ख्याल नहीं हो सकता कि यहां कोई इतिहास की बात है, कहानियां बन गयी हैं। ऋ० ७.१०४ का १६ वां मन्त्र है–

यो माऽयातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ।।

कोई पुण्यात्मा मनुष्य कह रहा है कि यदि कोई पापी मुझपर यह लांछन लगाता है कि मैं राक्षस हूं, और इसके विपरीत अपने सम्बन्ध में वह यह घोषणा करता है कि मैं निष्पाप व पवित्र हूं, तो उस लम्पट मनुष्य को भगवान् दण्डित करे। पर बृहद्देवताकार ने यहां भी इतिहास बना डाला है। इस सूक्त का ऋषि वसिष्ठ है, इसलिए वह कहता है कि एक बार महात्मा वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मार कर एक जिघांसु राक्षस वसिष्ठ का रूप धर कर आया और वसिष्ठ से कहने लगा–तुम राक्षस हो, वसिष्ठ तो देखो मैं हूं इस पर वसिष्ठ ने यह ऋचा बनायी है। आप ही बताइए, यदि इसप्रकार वेद में इतिहासों को खोजा जाने लगे, तो भला किस मन्त्र से इतिहास नहीं निकल सकता? इसीलिए हम कहते हैं कि वेदार्थ की यह शैली ही गलत है।

वेद में प्रयुक्त ऋषियों के नाम

अच्छा, अब ऋषियों पर आइए, वेदमन्त्रों में अनेक ऐतिहासिक ऋषियों के नाम प्रयुक्त हुए हैं। अथर्व० १८.११ के मन्त्र १५,१६ में ही कण्व, कक्षीवान्, पुरुमीढ, अगस्त्य, श्यावाश्व, सोभरी, विश्वामित्र, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वामदेव, वसिष्ठ, भरद्वाज, गोतम इतने ऋषियों के नाम आ गये हैं। इन्हें देखकर यह भ्रम होने लगता है कि वेद को इन-इन नामों से शायद ऐतिहासिक ऋषि ही अभिप्रेत हैं। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। तो फिर वेद के ये ऋषि कौन हैं? कहीं तो ये यौगिक या योगरुढ़ अर्थों के वाची हैं, कहीं शारीरिक इन्द्रियों के वाची तथा कहीं सूर्य-रश्मियों के वाची हैं। ऋ० १.४५.३ को देखिए–

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ।।

प्रस्कण्व प्रार्थना कर रहा है कि 'हे जातवेदस् अग्नि, जैसे तू प्रियमेघ, अत्रि, विरूप तथा अंगिरस् की पुकार को सुनता है वैसे ही मेरी पुकार को भी सुन।'' इसीप्रकार ऋ० १०.१५० में यह मन्त्र आया है–

अग्निरत्रिं भरद्वाजं गविष्ठिरं प्रावन्नः कण्वं त्रसदस्युमाहवे।
अग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहितः ।।

यहां प्रार्थना करने वाला वसिष्ठ है–''अग्नि ने पुकारे जाने पर समय-समय पर अत्रि, भरद्वाज, गविष्ठिर, कण्व एवं त्रसदस्यु की रक्षा की है। इसलिए मैं वसिष्ठ भी रक्षार्थ पुकार रहा हूं।''

ऐतिहासिक विद्वान् कहेंगे कि कण्व, प्रस्कण्व, प्रियमेध, अत्रि, विरूप, अंगिरा, भरद्वाज, गविष्ठिर, त्रसदस्यु ये सब यहां ऐतिहासिक ऋषि अभिप्रेत हैं। किन्तु देखिए, निरुक्तकार क्या कहते हैं– **प्रियमेघः प्रिया अस्य मेघा। प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः। अंगारेषु अंगिराः। (अत्रिः) न त्रय इति। भरणाद् भरद्वाजः। विरूपो नानारूपः।** निरु० ३.१७। प्रियमेघ वह है जिसे बुद्धि प्यारी है। कण्व का पुत्र प्रस्कण्व है, और कण्व निघं० ३.१५ में मेधावी-वाची नामों में पठित है। इसलिए प्रस्कण्व का अर्थ हुआ मेधावी का पुत्र। अंगिरा वह है जो इतना तपस्वी है कि मानों अंगारों के बीच बैठा हुआ है। त्रिविध ताप से मुक्त व्यक्ति अत्रि है। वह मनुष्य भरद्वाज है जिसमें बल भरा पड़ा है। विरूप है नाना रूपों वाला। अर्थात्, ये सब नाम, जो कि ऐतिहासिक ऋषियों के प्रतीत होते हैं, वास्तव में गुणवाची यौगिक या योगरूढ नाम हैं। इसके अनुसार पहले मन्त्र का भाव यह होगा कि–'हे परमेश्वर जैसे तू मेधाप्रिय व्यक्ति की, सन्तापरहित व्यक्ति की, नाना शुभ रूपों वाले की और तपस्वी की पुकार को सुनता है, वैसे ही मेरी पुकार को भी सुन, क्योंकि आखिर मैं भी तो बुद्धिमान् का बेटा हूं।'' दूसरे मन्त्र में, गविष्ठिर, त्रसदस्यु, वसिष्ठ ये नाम नये आये हैं। इन्हे भी यौगिक या योगरूढ ही समझना चाहिए। ऋषि दयानन्द के अनुसार ''**यो गवि सुशिक्षितायां वाचि तिष्ठति स गविष्ठिरः** (द० भा०, ऋ० ५.१.१२), **त्रस्यन्ति दस्यवो यस्मात् स त्रसदस्युः** (द० भा०, ऋ० ४.३८.१), **अतिशयेन वासयिता वसिष्ठः** (द० भा०, यजु० १३.१५), **अतिशयेन वसुः वसिष्ठः** (द० भा०,

ऋ० ७.४२.६), **अतिशयेन विद्यासु कृतवासः वसिष्ठः** (द० भा०, ऋ० ७.२६.५), **अतिशयेन ब्रह्मचर्ये कृतवासो वसिष्ठः** (द० भा०, ऋ०७.३३.३)। यदि वेद में ऋषियों के नाम यौगिक नहीं हैं तो हम पूछते हैं कि **आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब**, ऋ० १.१०.११, यहां इन्द्र को कौशिक क्यों कहा गया है? कौशिक तो कुशिक का पुत्र विश्वामित्र है, इन्द्र कौशिक कैसे हो गया? सायण की तरह अनुक्रमणिका का हवाला देकर यह कह देने मात्र से काम नहीं चल सकता कि इन्द्र ही विश्वामित्र के रूप में कुशिक के घर में जन्मा था, इसलिए इन्द्र को वेद में कौशिक कह दिया गया है। यह तो जैसे-तैसे अपनी बात को रखने के लिये एक बहाना-मात्र है।

यह तो हुआ व्यक्तिवाची नामों का नमूना। इसके अतिरिक्त ऋषियों के नाम वेद में इन्द्रियों के वाची भी होते हैं। वेद में लिखा है–**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे** यजु० ३४.५५, शरीर के अन्दर सात ऋषि बैठे हुए हैं। शतपथ के अनुसार इन सातों ऋषियों के नाम गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, और अत्रि हैं। पर ये ऋषि यदि ऐतिहासिक ऋषि हों तो शरीर में आकर कैसे बैठ सकते हैं? दूर जाने की आवश्यकता नहीं, वेद ने स्वयं ही इस पहेली को खोल दिया है। **कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।** अथर्व० १०.२.६, दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आंखें और एक मुख ये ही शरीर के सात ऋषि हैं। इसीप्रकार यजुर्वेद के १३ वें अध्याय में कई ऋषियों का शारीरिक इन्द्रियों से सम्बन्ध दर्शाया गया है। उस वर्णन के अनुसार प्राण वसिष्ठ है, मन भरद्वाज है, चक्षु जमदग्नि है, कान विश्वामित्र है, वाणी विश्वकर्मा है। देखिए–

वसिष्ठ ऋषिः ...प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः।
भरद्वाज ऋषिः ...मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः।
जमदग्निऋषिः ...चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः।
विश्वमित्र ऋषिः ...श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः।
विश्वकर्मा ऋषिः ... वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः।

यजु० १३.५४-८५

इसप्रकार स्वयं वेद के ही अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है कि ऋषिपरक नाम इन्द्रियों के वाची भी होते हैं। इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर इन्हे इन्द्रियों का वाची प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए शतपथ के निम्न वाक्यों पर दृष्टि डालिए–**प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। मनौ वै भरद्वाज ऋषिः। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। वाग् वै विश्वकर्मर्षिः** (श० ८.१.-२-२)। **प्राणो वा अंगिराः** (श० ६.५.२.३-४)। छन्दोग्य उपनिषद् में एक प्रकरण में आया है– ''**यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति** (छा० उ. ५.१. २) जो वसिष्ठ को जान लेता है वह स्वयं भी अपने सम्बन्धी जनों के बीच में 'वसिष्ठ' हो जाता है। आप कहेंगे, वाह, यह क्या कठिन बात है, वसिष्ठ को तो हम भी जानते हैं, वे, एक ऋषि हुए हैं, जो इतिहास में प्रसिद्ध हैं। पर उपनिषद् कहती है– नहीं, यदि उस ऐतिहासिक वसिष्ठ को तुम वसिष्ठ समझे हो तो कुछ भी नहीं समझे, वसिष्ठ तो वाणी का नाम है, **वाग् वाव वसिष्ठः।** इस तरह हमने देखा कि ऋषियों के इन्द्रियवाची होने का जो बीज वेद में विद्यमान है, उसे ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों ने भी पुष्ट किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखने से अनेक वेदमन्त्रों का अर्थ बड़ा सुन्दर घटित हो जाता है। एक मन्त्र है–

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्।। यजु० ३.६२

यहां स्वयं वेद के तथा शतपथ के आधार से जगदग्नि आंख है, कश्यप प्राण है। मनुष्य प्रार्थना कर रहा है कि जो बाल्य, यौवन तथा स्थविरत्व की त्रिविध आयु अथवा तीन सौ साल की आयु बड़े-बड़े देवपुरुषों को प्राप्त हुआ करती है, वह मुझे भी प्राप्त हो। पर ऐसी दीर्घायु मुझे नहीं चाहिए, जिसमें इन्द्रियां शिथिल हो चुकी हों, आंखों से सूझता न हो, कानों से सुनायी न देता हो, जीवनशक्ति का ह्रास हो चुका हो। मुझे दीर्घायु मिले तो साथ ही मेरी आंख की शक्ति को और प्राणशक्ति को भी दीर्घायु मिले। अब यदि यहां जमदग्नि का अर्थ जमदग्नि ऋषि तथा कश्यप का अर्थ कश्यप ऋषि करें तो क्या अर्थ में वैसा स्वारस्य रहता है, यह पाठक स्वयं विचार लेवें।

कहीं-कहीं वेद में ऋषियों के नाम सूर्य-किरणों के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए **सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे** यजु० ३४.५५ तथा '**तत्रासत ऋषयः सप्त साकम्,** अथर्व० १०.२६.९, इन मन्त्रों के

अधिदैवत अर्थ निरुक्तकार ने सूर्यपरक ही दिखाये हैं। सूर्य में भी मानव-शरीर की भांति सात ऋषि वास करते हैं। सूर्य के सात ऋषि हैं सात सूर्य-रश्मियां। अथर्ववेद में एक मन्त्र आया है—

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्वज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा संपिनष्म्यहं क्रिमीन्।।

अथर्व० २.३२.३

इस सूक्त का देवता आदित्य ही है। सूक्त प्रारम्भ भी यहीं से होता है—**उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु,** उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों का विनाश करे। उपर्युक्त मन्त्र में मनुष्य कह रहा है कि मैं अत्रि, कण्व, जमदग्नि की तरह और अगस्त्य के बल से रोग-कृमियों को विनष्ट कर देता हूं। अब यदि इस मंत्र में अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य को ऐतिहासिक ऋषि मानें, तो मन्त्र का देवता सूर्य कैसे हो सकता है? सूर्य की तो कुछ चर्चा मन्त्र में आयी ही नहीं, दूसरे यह कि कृमियों को मारने के लिए ऋषियों से उपमा देना घटता भी नहीं, क्योंकि प्राचीन ऋषि कृमियों को मारने में तो प्रसिद्ध थे नहीं। उपमान तो उसी को बनाया जाता है जो उस कार्य में प्रवीण और प्रसिद्ध हो। असल में अत्रि, कण्व, जमदग्नि यहां सूर्य-किरणें हैं और अगस्त्य सूर्य है। सूर्य-किरणों की तरह मैं रोग के कीटाणुओं को विनष्ट करता हूं, यह उपमा जंचती है, क्योंकि सचमुच ही कृमियों के संहार में सूर्य का मुकाबला करने वाला दूसरा नहीं है। आशा है ऋषिविषयक इस विवेचन से पाठकों को वेद में ऋषियों के नाम किन अर्थों में आये हैं इसका कुछ आभास मिला होगा।

उपसंहार

वेद के ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले कुछ स्थलों को खोलने का हमने यत्न किया है। किन्तु ऐसे प्रसंग इतने अधिक हैं कि इस छोटे से लेख में सभी पर विचार कर सकना असंभव है। कहा जाता है कि इक्ष्वाकु, दिवोदास, सुदास, नहुष, ययाति, यदु, तुर्वश, पुरु, द्रुह्यु, आयु, स्वनय, भावयव्य, असमाति प्रभृति अनेक राजाओं के युद्ध आदि का इतिहास वेद में मिलता है। ऋ० ७.१८ में सुदास् पैजवन की युद्धविजय का तथा उसके दान का वर्णन है; ऋ० १०.३३ में त्रसदस्यु के पुत्र कुरुश्रवण की स्तुति है, ऋ० ८.४६ में कनीतपुत्र पृथुश्रवा के दान की स्तुति है।

ऐतिहासिक विद्वान् कहते हैं कि ये इतिहास में राजा हुए थे। इनका राजा होना तो हम भी मानते हैं, किंतु ये ऐतिहासिक राजा नहीं हैं; राजा के गुणवाची नाम हैं, जिनसे यह द्योतित होता है कि राजा को कैसा होना चाहिए। सुदास् पैजवन को ही लीजिए। राजा को प्रशस्त दानी तथा स्पर्धनीय वेग वाला शूरवीर होना चाहिए, यह इस नाम से सूचित होता है। यास्काचार्य कहते हैं—**सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवः**, निरु० २.२४, अर्थात् राजा को सुदास् इसलिए कहते हैं कि उत्तम-उत्तम दान, करता है। पैजवन का अर्थ है पिजवन का पुत्र। वेद की यह शैली है कि जिसे किसी का पुत्र कहा जाता है, उसमें उस गुण की अतिशयिता बताना अभिप्रेत होता है। हिन्दी में भी तो कहते हैं, 'शाबाश, बहादुर के बेटे'! यहां बहादुर के बेटे का आशय 'कमाल की बहादुरी वाला' यही होता है। इसीप्रकार यहां पिजवन के पुत्र का अर्थ 'अतिशय पिजवन' होगा। पर 'पिजवन' क्या वस्तु है? 'जव' का अर्थ तो 'वेग' प्रसिद्ध ही है, 'पि' स्पर्धा अर्थ में है, जैसे 'पि-दधाति' में 'पि' बन्द करने अर्थ में है। तो 'पिजवन' वह है जिसका वेग स्पर्धनीय है। पैजवन है इसका पुत्र, अर्थात् जिसमें यह वेग का गुण बहुत ही कमाल का है। तो 'सुदास् पैजवन' नाम से राजा के दो गुण सूचित हुए। और, यह देखने लायक बात है कि इस नाम से जो गुण सूचित होते हैं उन्हीं की ऋ० ७.१८ में स्तुति भी की है, अर्थात् एक तो दान की तथा दूसरे उसकी वीरता या युद्ध करने के सामर्थ्य की। इसीप्रकार कुरुश्रवण तथा पृथुश्रवा भी राजा के गुणवाची नाम ही हैं। **कुरवः कर्तारः स्तोमानां, तान् शृणोतीति कुरुश्रवणः**, जो प्रार्थना करने वालों की प्रार्थना सुनता है, वह राजा कुरुश्रवण है। 'पृथुश्रवाः' वह है जिसकी विस्तृत कीर्ति चारों तरफ फैली हुई है **पृथु श्रवो यस्य स पृथुश्रवाः**। जो इन नामों को ऐतिहासिक नाम मानने का आग्रह करते हैं उनसे हम पूछते हैं कि ऋ० १०.८७ में 'रक्षोहा अग्नि' की भी तो स्तुति है, वहां राक्षसों को मारने वाला अग्नि नामक कोई ऐतिहासिक राजा अर्थ क्यों नहीं करते? जिसका योगार्थ अप्रसिद्ध है उसे तो झट से ऐतिहासिक नाम मान बैठना और जहां योगार्थ या योगरुढ़ अर्थ प्रसिद्ध है वहां वह अर्थ कर लेना यह एक प्रवंचना नहीं तो और क्या है?

सायण ने तो वेदमन्त्रों को खींचतान कर ऐतिहासिक बनाने में कमाल ही कर दिया है। यह आश्चर्य है कि अपने प्रारम्भिक उपोद्घात में तो उसने मीमांसा के सूत्रों का हवाला देते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, इसलिए उनमें इतिहास नहीं हो सकता, किंतु भाष्य करते हुए मानो वह अपनी पूर्व की हुई इस स्थापना को भूल गया है और जहां भी उससे बन पड़ा है वहां मन्त्रों में इतिहास दिखाने से नहीं चूका है। कवि, देवक, चयमान, मन्यमान जैसे प्रसिद्ध पदों तक को उसने व्यक्तियों की संज्ञाएं मान लिया है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि कहीं-कहीं सायण ने दोनों अर्थ दे दिये हैं कि इसका यह इतिहास-परक अर्थ भी हो सकता है और यह यौगिक अर्थ भी हो सकता है। उदाहरणार्थ ऋ० २.१३.११ में 'जातुष्ठिर' पद का भाष्य करते हुए सायण कहता है कि या तो इसे किसी व्यक्ति का नाम समझ लें या इसका अर्थ है सदा स्थिर रहने वाला। इससे प्रतीत होता है कि सायण ने जो ऐतिहासिक अर्थ दिये हैं उनके बारे में अनेक स्थानों पर उसे स्वयं निश्चय नहीं था, उसने वे इतिहास-परक अर्थ अटकलपच्चू से ही लिख दिये हैं। यदि उसे बहकाने के लिये पुराण आदि में लिखी कहानियां उसके सामने न होतीं तो शायद वह अपनी पूर्व की हुई प्रतिज्ञा को स्मरण रखता और कहीं भी ऐतिहासिक अर्थ न दिखाता।

इतिहास का भ्रम न हो इसके लिये वेद को पढ़ते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वेद के अनेक स्थान ऐसे भी हैं जहां किसी एक बात को रोचक ढंग से समझाने के लिये कथा या संवाद का रूप दे दिया है। कथाओं या संवादों के द्वारा शिक्षा देने की शैली आज भी एक बड़ी रोचक और प्रिय शैली समझी जाती है। उपनिषदों में इसी शैली को बरता गया है। इसी प्रकार वेद के भी अनेक वर्णन कथात्मक या संवादात्मक हैं। उन्हें सच्चा इतिहास समझ लेना भूल होगी। उदाहरणार्थ, वेद ने यह बताना चाहा है कि भाई-बहिन आदि निकट सम्बन्धियों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होने चाहिएं, तो उसने यम-यमी का एक रोचक संवाद (ऋ० १०.१०) रच दिया है। बहिन से भाई प्रस्ताव करती है कि तू मुझ से विवाह कर ले। भाई कहता है, हे बहिन, यह तो सत्पुरुषों की रीति नहीं है, यह तो पाप है। यह संवाद किसी इतिहास को बताने के लिए नहीं, किन्तु शिक्षा देने के लिए है। इसीप्रकार वेद में नदियों और विश्वामित्र का संवाद (ऋ० ३.३३),

सरमा-पणि-संवाद (ऋ० १०.१०८), अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (ऋ० १.१७९), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (ऋ० १०.९५) आदि कृत्रिम संवादों से भिन्न-भिन्न शिक्षाएं दी गयी हैं। इनमें आख्यानात्मक वर्णन को, नामों को और भूतकाल की क्रिया को देखकर इतिहास के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

वेद में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, विपाट्, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता आदि अनेक नदियों के नाम भी आये हैं, जिनको अपने इस लेख में हम स्थान नहीं दे सके हैं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ये सब नाम भी भारत की भौगोलिक नदियों के वाची नहीं हैं। कई जगह नदीवाची नामों के साथ ऐसे विशेषण या अन्य संकेत दिये हुए मिलेंगे जो भौगोलिक नदियों में घट ही नहीं सकते। कई जगह पूरे मन्त्र का ही अर्थ भौगोलिक पक्ष में घटित नहीं हो सकेगा। जैसे, उस मन्त्र (यजु० ३४.११) का क्या होगा, जिसमें यह कहा गया है कि समान स्रोत वाली पांच नदियां सरस्वती में जाकर गिरती हैं और सरस्वती आगे चलकर फिर पांच में फट जाती है। कई जगह ऐसा मालूम होगा कि नदियों का तो कुछ प्रकरण ही नहीं है, नदियां कहां से आ टपकीं। ये सब प्रमाण इस बात को पकड़वाने में सहायक होंगे कि वेद की नदियां भौगोलिक नहीं हैं। वैदिक नदियां भौगोलिक नदियों से अतिरिक्त हैं यह रहस्य वेद की 'सरस्वती' से भी स्पष्टतः खुल जाता है। यद्यपि अन्य नदीवाची नाम स्पष्टार्थ वाले नहीं रहे हैं तो भी सौभाग्य से 'सरस्वती' ऐसी बची हुई है, जो नदी होने के स्थान पर एक देवी ही अधिक प्रसिद्ध है। यह वेद की इडा, सरस्वती, मही इन तीन प्रसिद्ध देवियों में से एक देवी है। यह विद्या की देवी है। वेद में जो सरस्वती के सूक्त हैं वे सरस्वती नदी की ओर निश्चय ही नहीं लग सकते। वेद की सरस्वती तो हमारे अन्दर ज्ञान (केतु) को उद्बुद्ध करने वाली है, वह कुरुक्षेत्र की सरस्वती नदी नहीं हो सकती। और, नदीवाची शब्दों में सरस्वती शब्द यदि नदी को नहीं बताता, तो उसके समकक्ष गंगा, यमुना आदि अन्य शब्द भी नदी-परक नहीं होने चाहिएं; क्योंकि यह मानने के लिये हमारे पास कोई कारण नहीं है कि सरस्वती तो नदी न रहे, किन्तु उसके साथ की अन्य नदियां नदियां ही बनी रहें।

अस्तु, लेख को हम और लम्बा नहीं करना चाहते। अन्त में इतना ही कहना चाहते हैं कि पहले से जमे हुए पौराणिक संस्कारों को अपने अन्दर

से निकाल कर हमें स्वतन्त्र रूप से वेद के आशय को खोलने का यत्न करना चाहिए। तब हम इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि वेद के ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले वर्णन वस्तुतः ऐतिहासिक नहीं हैं, किन्तु उनमें एक बड़ी चमत्कारपूर्ण शैली से भिन्न-भिन्न शिक्षाओं तथा विचारों को रखा गया है।

पाद-टिप्पणी

१. यह लेख उस समय लिखा गया था जब बिहार में भूकम्प आ चुका था तथा राजेन्द्र बाबू ने भूकम्प-पीड़ितों की भरसक सहायता की थी। इसी शैली से वेद में स्वामी श्रद्धानन्द, इन्द्र विद्यावाचस्पति, नेताजी सुभाष बोस आदि का भी इतिहास दर्शाया जा सकता है।

वेदों में पुनरुक्ति की समस्या

वेदिक संहिताओं का अध्यनन करते हुए कई अन्य समस्याओं के समान पुनरुक्ति की समस्या भी हमारे संमुख आती है। जब एक मंत्र को एक ही वेद में हम एक से अधिक बार आया हुआ देखते हैं या उस मन्त्र को अन्य वेदों में भी पाते हैं तब स्वभावतः हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा क्यों है, और कई इसे पुनरुक्ति दोष समझने लगते हैं।

वैदिक पुनरुक्तियों के प्रकार

वेदों में पुनरुक्ति के कई प्रकार हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं।

१. कहीं-कहीं संपूर्ण सूक्त पुनरुक्त हुआ है। जैसे ऋग्वेद १०.१० यम-यमी-सूक्त कहलाता है। यह संपूर्ण सूक्त अथर्व० १८.१ में पुनरुक्त है। ऋग्वेद १०.१५४ पांच मन्त्रों का भाववृत्त-सूक्त है, यह स्वल्प परिवर्तन के साथ अथर्व० १८.२ में भी आया है। ऋग्वेद का सूक्त १०.८५ सोम-सूर्या-सूक्त या विवाह-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है, यह संपूर्ण सूक्त थोड़े से क्रमादि के भेद के साथ अथर्व० १४.१ में भी आया है। ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त १०.९० कुछ परिवर्तन के साथ यजुर्वेद १०.३१ तथा अथर्ववेद १९.६ में भी है, और इसके कुछ मन्त्र सामवेद में भी पूर्वार्चिक के आरण्य पर्व में हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई सूक्त परिगणित किये जा सकते हैं।

२. कहीं-कहीं सम्पूर्ण सूक्त नहीं, किन्तु दो, तीन या अधिक मन्त्र उसी क्रम से उसी वेद में या अन्य वेदों में पुनरुक्त हुए हैं। जैसे, ऋग्वेद ४.३१ के पहले तीन मन्त्र निम्नलिखित हैं–

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता।।
कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु।।
अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतिभिः।।

ये तीनों मन्त्र ठीक इसी क्रम से यजुर्वेद में अध्याय २७ मन्त्र ३९-४१, अध्याय ३६ मन्त्र ४-६ इन दोनों स्थानों पर, सामवेद में उत्तरार्चिक , प्रथम प्रपाठक के तृतीय खण्ड में और अथर्ववेद में काण्ड २०, सूक्त १२४, मन्त्र १-३ में पुनरावृत्त हुए हैं।

३. कहीं अकेला मन्त्र पुनरुक्त होता है। जैसे, **तत् सवितुर्वरेण्यम्** आदि मन्त्र, जो गायत्री-मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है, ऋग्वेद तथा सामवेद में एक-एक बार और यजुर्वेद में तीन बार आया है– ऋ० ३.६२.१०, यजु० ३.३५; २२.९; ३०.२, साम० उ० प्र० ६, खण्ड ६, मंत्र ३। यदि यजु० ३६.३ को भी गिन लें तो यजुर्वेद में चार बार हो जाता है, यद्यपि वहां इसके आरंभ में **भूर्भुवः स्वः** अधिक पठित है। ऐसे पुनरुक्त मन्त्रों की संख्या वेदों में प्रचुर है।

४. कहीं पूरा मन्त्र पुनरुक्त न होकर उसका कुछ अंश पुनरुक्त होता है। यह अंश तीन चरण, दो चरण, एक चरण, एक चरण से कम और एक दो या तीन चरणों से कुछ अधिक भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद प्रथम मण्डल, सूक्त २९ का प्रथम मन्त्र यह है–

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि।
आ तू इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ।।

इस मंत्र का उत्तरार्ध इस सूक्त के सातों मंत्रों में समान रूप से पाया जाता है। इसी मण्डल के ९७वें सूक्त में प्रत्येक मन्त्र में **अप नः शोशुचदघम्** की पुनरावृत्ति हुई है। दशम मण्डल के सूक्त १३४ में सात में से ६ मंत्रों के अन्त में **देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनद्** यह वाक्य समान रूप से पुनरुक्त हुआ है। अथर्ववेद काण्ड १६ सूक्त १ के ८म पर्याय **जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकम्** आदि के सभी मन्त्र एक से हैं, केवल एक-एक शब्द का अन्तर है। ऐसी समस्यापूर्ति की शैली वेदों में अनेक स्थानों पर है। देखने में यह भी पुनरक्ति ही प्रतीत होती है।

५. एक ही भाव अनेक बार पुनरुक्त हुआ है, भले ही भाषा भिन्न हो। जैसे इन्द्र वृत्रों का संहारक, ऐश्वर्यशाली, बहुत दानी और सोम-रस पीने वाला है; अग्नि देवों का दूत, ज्योतिष्मान्, हवि का भक्षण करने वाला एवं दाश्वान् का हित करने वाला है; उषा द्युलोक की पुत्री, ज्योतिष्मती तथा अन्धकार को उच्छिन्न करने वाली है इत्यादि भाव वेदों में बार-बार आते हैं। यह कहा जा सकता है कि एक भाव को एक ही बार कहना पर्याप्त था।

किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त पुनरुक्तियां सदोष नहीं हैं।

वैदिक पुनरुक्ति पर प्राचीन विचार

वैदिक पुनरुक्ति पर आज ही आलोचकों का ध्यान गया हो, ऐसी बात नहीं है। पुराने समय में भी इस पर शंकाएं उठती रही हैं। यास्कीय निरुक्त में एक महत्वपूर्ण प्रकरण १०म अध्याय के १६वें खण्ड में आया है। निरुक्तकार का अपना मत है कि वेदों में पुनरुक्ति-दोष सर्वथा नहीं है। जहां पुनरुक्ति दोष-रूप में प्रतीत भी होती है, वहां अभिप्राय में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होती है। उक्त प्रकरण में निरुक्त में वैदिक पुनरुक्ति के विषय में तीन मत दिये हैं।

१. कतिपय आलोचकों का यह विचार था कि वेद में पुनरुक्ति दोष केवल वहां माना जाना चाहिए जहां एक ही मन्त्र में समानार्थक पद हों–**तद्यत् समान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्येकम्।** जैसे,

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु।।

ऋ० ४.५७.२

यहां क्षेत्रपति पर्जन्य को यह कहा गया है कि तुम हमें रस-धार प्रदान करो, जो मधुमान् तथा मधुश्चुत् हो। मधुमान् का अर्थ है मधुमय, तथा मधुश्चुत् का अर्थ मधुस्रावी है। आलोचक का कथन है कि जो मधुमय होगा वह मधुस्रावी होगा ही, अतः एक ही ऋचा में दो समानार्थक पद आने से यहां पुनरुक्ति-दोष है। परन्तु यास्काचार्य इससे सहमत नहीं हैं। उनके विचारानुसार इन दोनों पदों के अर्थों में बहुत अन्तर है। यह अनिवार्य नहीं है कि जो मधुमान् हो वह मधुस्रावी भी अवश्य हो। हम पर्जन्य से ऐसी जल-धार की याचना करते हैं, जो स्वयं मधुर एवं शुद्ध हो तथा जिन वनस्पति आदि में पहुंचे उन्हें भी अपने मधु-रस से भरने वाली हो।

२. दूसरे कुछ विचारक ऐसे थे जो यह मानते थे कि एक ही ऋचा में भी पुनरुक्ति दोष तब होगा जब एक पाद में समानार्थक पद आयें, सर्वत्र नहीं– **यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भभति तज्जामि भवतीत्यपरम्।** उदाहरणार्थ **हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्,** ऋ० २.३५.१०

इत्यादि मन्त्र में अग्नि को हिरण्यरूप तथा हिरण्यसंदृक् कहा गया है। ये दोनों पद समानार्थक हैं तथा एक ही पाद में हैं। पर निरुक्तकार इसे भी पुनरुक्ति-दोष नहीं मानते। उनके मत में इन दोनों शब्दों के अभिप्राय में बहुत अन्तर है । यह आवश्यक नहीं है कि जो सुनहरे रूप वाला हो वह सुनहरा दिखायी भी दे। जैसे, अंगारे की आग सुनहरे रूप वाली तो होती है, किन्तु राख से ढके रहने पर वह सुनहरी दिखायी नहीं देती। ज्वालाओं वाला अग्नि दोनों प्रकार का है, हिरण्यरूप भी है और हिरण्यसंदृक् भी।

३. तीसरा स्वाभिमत पक्ष दिखाते हुए निरुक्तकार कहते हैं– **यथा कथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्,** अर्थात् तृतीय मत यह है कि पुनरुक्त में अभिप्राय की कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होती है; पुनरुक्ति-दोष वेद में कहीं नहीं है। उदाहरण के लिए उन्होंने निम्न मन्त्र दिया है-

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव।।

ऋ० १०.१६६.५

यहां कोई राजा अपने सिर उठाने वाले शत्रुओं को संबोधन कर कह रहा है कि- 'मैंने तुम्हारे मूर्धा पर आक्रमण कर दिया है। तुम्हारे योग-क्षेम को छीन कर मैं सर्वश्रेष्ठ हो जाऊंगा। मैंने तुम्हारी बोलती बंद कर दी है। यदि तुम बोलना चाहते हो तो मेरे नीचे रह कर बोलो, जैसे मेंढ़क जल में रहकर बोलते हैं।' यहां मेंढक की जो उपमा दी है उसमें पुनरुक्ति प्रतीत होती है। प्रथम कहा **मण्डूकाः इव उदकात्** फिर कहा **मण्डूकाः उदकात् इव** परन्तु वस्तुतः दोनों उपमान-वाक्यों में अपनी-अपनी विशेषता है। प्रथम वाक्य में 'मण्डूकाः' पर बल है, क्योंकि उपमावाची शब्द 'इव' उसके साथ है अभिप्राय यह है कि मेरे नीचे रहते हुए तुम वैसे ही प्रसन्नता-पूर्वक बोल सकते हो, जैसे मेंढ़क हर्ष से बोलते हैं। द्वितीय वाक्य में 'उदकात्' पर बल है, अर्थात् जैसे मेंढ़क पानी में से ही बोलते हैं, वैसे ही जब तक तुम मेरे अनुशासन में रहोगे तभी तक तुम्हें बोलने का अधिकार है।

इस प्रकार निरुक्तकार के मत में वेद में जहां भी पुनरुक्ति सदोष प्रतीत होती है, वहां कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होती है। कहीं भी पुनरुक्ति निरर्थक नहीं होती ।

निरुक्त १०.४० में एक अन्य वेदमन्त्र 'इन्दु' शब्द के उदाहरण-रूप में दिया गया है, जिसमें कुछ शब्द पुनरुक्त हैं– **हव्यो न य इषवान् मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति।... अव स्रवेदघशंसोऽवतरम् अव क्षुद्रमिव स्रवेत्।** ऋ० १.१२९.६। यहां 'मन्म रेजति' तथा 'अवस्रवेत्' पुनरुक्त हैं। पहले 'इषवान् मन्म रेजति' कहा, फिर विशेषण बदलकर 'रक्षोहा मन्म रेजति' कह दिया। आलोचक कह सकता है कि इसके स्थान पर 'इषवान् रक्षोहा मन्म रेजति' से ही कार्य-निर्वाह हो सकता था, उस अवस्था में पुनरुक्ति भी नहीं होती। इसी प्रकार 'अवस्रवेदघशंसोऽवतरम् अव क्षुद्रमिव' इतना कहना पर्याप्त था। 'अवस्रवेत्' की पुनरुक्ति क्यों की गयी? इसका उत्तर देते हुए निरुक्तकार कहते हैं– **अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथा अहो दर्शनीया, अहो दर्शनीया इति,** अर्थात् कहीं-कहीं पुनरुक्ति से अर्थ में बड़ा चमत्कार आ जाता है। जैसे किसी वस्तु के विषय में 'अहो दर्शनीय है, अहो दर्शनीय है!' ऐसा दो बार कहने से जितनी अधिक उसकी दर्शनीयता प्रकट हो जाती है, उतनी एक बार कहने से नहीं होती। ऐसा ही प्रस्तुत मन्त्र में है। "उस भव्य इन्दु (चन्द्रवत् आह्लादक प्रभु) की मैं स्तुति करता हूं, जो हमारे विचारों को झकझोर देता है, हां राक्षसी भावों का विनाशक वह हमारे विचारों को झकझोर देता है। पाप-प्रशंसक भाव हमारे पास से दूर उड़ जाए, हां हल्की वस्तु के समान दूर उड़ जाए" इस प्रकार की पुनरुक्त भाषा में कितना अर्भभूयस्त्व हो जाता है, यह सभी अनुभव कर सकते हैं।

'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' इस एक वाक्य में अनेक वैदिक पुनरुक्तियों का समाधान यास्काचार्य ने दर्शा दिया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदमन्त्र व्याकरण के वे सूत्र नहीं हैं, जिनमें एकमात्रा-लाघव भी पुत्रोत्सव के समान माना जाता है। वेदमन्त्र तो वह काव्य है जो हृदय को चमत्कृत कर स्फुरणा उत्पन्न करता है। काव्य में भी हम समस्या-पूर्तियां करते हैं, जहां प्रत्येक पद्य का अंतिम चरण एक ही होता है। यह शैली भावोद्बोधक मानी जाती है। वेदों में जहां भी यह शैली है वहां हमें उसका आनन्द लेना चाहिए, न कि उसमें पुनरुक्तिदोष की उद्भावना करनी चाहिए। लौकिक कवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' काव्य में अनेक पद्यों के अन्त में जब **'जय जगदीश हरे'** या **'जय जय देव हरे'** आता है, तब हम पुनरुक्ति दोष की शंका नहीं करते; किन्तु वैदिक काव्य में यदि किसी सूक्त में प्रत्येक मन्त्र के अन्त में **'अप नः शोशुचदघम्'** आता है, तो हमें दोष की शंका होने लगती है।

वेद में जहां एक बात कई बार कही गयी है, उसका समाधान भी यास्क की **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** इस उक्ति से हो जाता है। वेद का गायक जब किसी बात को पाठक के मन में बद्धमूल करना चाहता है तब उसे कहीं उसी भाषा में, कहीं भिन्न भाषा में बार-बार कहता है। यह हृदय को प्रभावित करने की एक शैली है।

भाष्यकारों के कुछ समाधान

सायण प्रभृति भाष्यकारों ने भी वैदिक पुनरुक्ति के स्थान-स्थान पर समाधान प्रस्तुत किये हैं। यहां ऋग्वेद के सायण-भाष्य से कुछ स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं।

ऋ० २.११.५-**गुहा हितं गुह्यं गूळहमप्स्वपीवृतं मायिनं क्षियन्तम् । 'हे शूर इन्द्र, गुहा गुहायां हितं निहितम् अत एव गुह्यम् अप्रकाश्यं, गूळहं गूढम्, अपीवृतं तिरोहितम्। अत्रैकस्मिंस्तिरोधानरूपेऽर्थे पुनरुक्तयस्तिरोधानभूयस्त्वप्रतिपादनपराः। अभ्यासे हि भूयानर्थो भवति। यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति।'** अर्थात् 'गुहा हितम्' आदि मन्त्र में गुहा हितम् गुह्यम्, गूढम् और अपीवृतम् ये चारों शब्द 'छिपा हुआ' इस अर्थ के वाचक हैं। तथापि क्योंकि यह पुनरुक्ति 'अत्यधिक छिपे हुए' के भाव को प्रतिपादित करती हैं, अतः दोष नहीं है।

ऋ० ७.१०.१– **उषो न जारः पृथु पाजो अश्रेद् दविद्युतद् दीद्यच्छोशुचानः। दविद्युतत्, दीद्यत्, शोशुचानः इति त्रयोऽपि शब्दा यद्यपि दीप्तिकर्माणः, तथापि दीप्तेः भूयस्त्वज्ञापनाय प्रयुक्ता इति न पुनरुक्तिः, अत्यन्तं दीप्यमान इत्यर्थः।** अर्थात् उक्त मंत्र में दविद्युतत्, दीद्यत् और शोशुचानः ये तीनों शब्द यद्यपि दीप्तिवाचक हैं, तथापि दीप्ति के आधिक्य को ज्ञापित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं, अतः पुनरुक्तिदोष नहीं है।

ऋ० ७.६६.१६– **तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्। पुनःश्रुतिरादरार्था।** अर्थात् यहां 'शरदः शतम्' की पुनरुक्ति अदारार्थ होने से दोष नहीं है।

ऋ० ८.६६.१५– **अपेदेष ध्वस्मायति स्वयं घैषो अपायति। एष ध्वस्मा धवंसको राक्षसादिः अपायति अपगच्छत्येवेन्द्रसामर्थ्यात्। स्वयं घ स्वयमेव एषः अपायति। पुनरुक्तिर्दार्ढ्यार्था।** अर्थात् यहां 'अपायति' की पुनरुक्ति दृढता लाने के लिए है।

ऋ० १०.२२.१२– **वयंवय त आसां सुम्ने स्याम वज्रिवः। वयं वयं ऋत्विग्यजमानाः। द्विवचनमतित्वराप्रदर्शनार्थम्।** अर्थात् यहां 'वयं वयं' इसप्रकार दो बार कथन अत्यधिक त्वरा (शीघ्रता) प्रदर्शित करने के हेतु से है।

ऋ० १०.२२.१५– **पिब पिबेदिन्द्र शूर सोमम्। पिब पिब इति वीप्सा अतित्वराप्रदर्शनार्थम्। हे शूर इन्द्र त्वमभिषुतं सोमं शीघ्रं पिब। यागकालातिपातो यावन्न भवति तावच्छीघ्रं सोमं पिबेत्यर्थः।** अर्थात् यहां 'पिब, पिब' यह द्विरुक्ति अति त्वरा के प्रदर्शनार्थ है। अभिप्राय यह है कि हे शूरवीर इन्द्र, आप अभिषुत किये गये सोमरस को शीघ्र पी लें।

ऋ० १०.३०.५– **याभिः सोमो मोदते हर्षते च। मोदते मुदितो भवति, हर्षते च। पुनरुक्तिरादरार्था। अत्यन्तं हृष्यतीत्यर्थः।** अर्थात् यहां 'मोदते' और 'हर्षते' ये दोनों पद हर्षार्थक होने से यह पुनरुक्ति आदरार्थ है।

ऋ० १०.१०५.११- **शतं वा यदसुर्य प्रति त्वा सुमित्र इत्थास्तौद् दुर्मित्र इत्थास्तौत्। आवो यद् दस्युहत्ये कुत्सपुत्रं.. प्रावो यद् दस्युहत्ये कुत्सवत्सम्।। पुनरुक्तिरादरार्था।.. इत्थास्तौदिति द्विरुक्तिः स्तुतिसमाप्त्यर्था।** अर्थात् प्रस्तुत मन्त्र में पुनरुक्ति आदर के द्योतनार्थ है। 'इत्थास्तौत्' की पुनरुक्ति स्तुति-समाप्ति के सूचनार्थ है।

इसीप्रकार महीधर आदि भाष्यकारों ने भी समाधान दर्शाये हैं। प्रायः सबने **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** इस यास्कोक्ति का ही सहारा लिया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में अष्टमाध्याय के प्रथम पाद , सूत्र १-१५ में कुछ विशेष अवस्थाओं में पुनरुक्ति का विधान किया गया है। अनेक वैदिक पुनरुक्तियां उससे अनुमोदित हो जाती हैं। कुछ पुनरुक्तियां दोष न होकर लाटानुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकारों के अंतर्गत हो जाती हैं।

प्रसंगभेद में पुनरुक्ति दोष नहीं

अपने छात्रों को मैं भवभूति का उत्तररामचरित पढ़ा रहा था। षष्ठ अंक में एक श्लोक आने पर कई छात्र एक-साथ बोल उठे कि यह श्लोक तो इसी नाटक में पहले भी आ चुका है। वह श्लोक यह था–

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत् तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः।।

यह षष्ठ अंक का पंचम श्लोक है। द्वितीय अंक का उन्नीसवां श्लोक भी यही है। श्लोक का सामान्य अर्थ यह है कि 'जो जिसका प्रिय जन होता है वह उसकी अमूल्य संपत्ति होता है; वह कुछ भी न करे तो भी सुख प्रदान करता हुआ दुःखों को दूर करता है।' दोनों स्थानों पर शब्द भी समान हैं, अर्थ भी समान हैं। छात्रों ने कहा कि यह तो पुनरुक्ति-दोष है। मैंने समाधान करते हुए कहा कि दोनों स्थानों के प्रसंग भिन्न हैं। द्वितीय अंक में राम के वनवास-काल की सीता की बातों को याद करते हुए यह कहा गया है, और षष्ठ अंक में विद्याधर विद्याधरी के लिये यह कह रहा है।

चर्चा कुछ देर और चलती रही एवं यह तथ्य भी सामने आया कि भवभूति के कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जो उसके तीनों नाटकों में या दो नाटकों में समानरूप से पाये जाते हैं। परन्तु सर्वत्र प्रसंग भिन्न है। उदाहरणार्थ निम्न श्लोक उत्तररामचरित तथा महावीरचरित दोनों में मिलता है–

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति।
संकटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता।।

उ० १.८, म० ४.३३

उत्तररामचरित में राम के राज्याभिषेक में जनक भी आये हैं। उत्सव समाप्त करके जनक अपनी पुरी को चले गये हैं। उनके वियोग में सीता उदास हो रही है। उसे सान्त्वना देते हुए राम कहते हैं कि तुम्हारे पिता जनक को इसलिए चले जाना पड़ा है, क्योंकि उन्हें यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना होता है। महावीरचरित में यह वचन विश्वामित्र का है। विश्वामित्र राम से विदा लेते हुए कह रहे हैं कि मेरी तुम्हें छोड़ने की इच्छा तो नहीं होती, किन्तु क्या करूं, यज्ञादि अनुष्ठानों की अवश्यकर्तव्यता मुझे तुमसे अलग कर रही है। यहां भी शब्द और अर्थ दोनों समान होने पर भी प्रसंगभेद के कारण पुनरुक्तिदोष नहीं है।

अब चर्चा भवभूति से हटकर वेदों पर आ पहुंची। वेदों में भी अनेक मंत्र पुनरुक्त हुए हैं। कई मंत्र एक ही वेद में एक से अधिक बार आये हैं। और कई मंत्र ऐसे भी हैं जो दो, तीन या चारों वेदों में समान हैं। जो समाधान कालिदास, भवभूति आदि के पुनरुक्त श्लोकों के विषय में हो सकता है, वह वेदों के पुनरुक्त मंत्रों के संबंध में भी हो सकता है। इस विषय को उदाहरण से समझ लेना ठीक होगा। एक वेदमंत्र यह है–

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ।।

वेदों में यह मंत्र इन-इन स्थानों पर आया है—ऋग्वेद १०.९.१, यजुर्वेद ११.५० तथा ३६.१४, सामवेद उ०, प्रपा० ९ उत्तरार्ध, मंत्र २२, अथर्ववेद १.५.१। उक्त सभी स्थानों में प्रसंगभेद से यह मंत्र उपयुक्त बैठ जाता है। प्रथम ऋग्वेद का प्रसंग लीजिए। ऋग्वेद के दशम मंडल में पहले सात सूक्त अग्निविषयक हैं। आठवें सूक्त में भी पहले ६ मंत्र अग्नि के हैं, तथा मंत्र ७ से ९ तक इन्द्र के हैं। फिर नवम सूक्त 'आपः' विषयक है, जिसका प्रस्तुत 'आपो हि ष्ठाः' आदि प्रथम मंत्र है। यहां 'अग्नि-इन्द्र-आपः' यह क्रम है। भौतिक दृष्टि से देखें तो प्रथम अग्नि में यज्ञ करने से जलवाष्प ऊपर जाकर बादल बनते हैं, जिनकी वेद में वृत्र संज्ञा है। फिर इन वृत्रों तथा इन्द्र (विद्युत् या सूर्य) का युद्ध होता है, तथा इन्द्र वृत्रों का वध कर उन्हें नीचे गिरा देता है। तब 'आपः' अर्थात् वर्षाजल हमें प्राप्त होते हैं। इन वर्षा-जलों का समुचित उपयोग कर हमें स्वास्थ्य, बल एवं तेज की प्राप्ति होती है।

यजुर्वेद में उक्त मंत्र दो बार आया है। प्रथम ११ वें अध्याय का ५० वां मंत्र है। ४९ वें मंत्र में अग्नि को संबोधन कर कहा है कि अपने विस्तीर्ण बल के साथ देदीप्यमान होता हुआ तू व्याधियों को दूर कर। उसके साथ ही प्रस्तुत ५० वें मंत्र में इसी कार्य के लिए जलों को स्मरण करते हुए कहा है कि तुम हमें बल, प्राण और महान् दृष्टिशक्ति प्रदान करो। ३६वें अध्याय में फिर यही मंत्र आया है। यह सुख-शान्ति की प्रार्थना का अध्याय है, जिसमें विभिन्न वस्तुओं से सुख-शान्ति की याचना की गयी है। यहां भी यह मंत्र संगत हो जाता है, क्योंकि इसमें जलों से सुख-शान्ति की प्रार्थना है। सामवेद में जहां यह मंत्र आया है वहां क्रमशः इन्द्र, आपः तथा वात के त्रिक (तीन-तीन मंत्र) हैं। यहां प्रसंगभेद के साथ-साथ अर्थभेद भी है, क्योंकि भक्ति-परक व्याख्या में यहां 'आपः' का अर्थ आनन्दरसमयी जगन्माता होता है। अथर्ववेद में यह मंत्र चिकित्सा के प्रकरण में है। इससे पूर्व के मंत्रों में शर, मुंज आदि ओषधियों द्वारा चिकित्सा का वर्णन है। इस मंत्र से सूचित किया है कि हम स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए जल-चिकित्सा भी करें। इस प्रकार एक ही मंत्र प्रसंगभेद से अनेक स्थानों पर आता है तो यह पुनरुक्ति-दोष नहीं है। इसी विधि से एक से अधिक मंत्र या सम्पूर्ण सूक्त भी अनेक स्थानों

पर पठित हो सकते हैं। वस्तुतः अभी हमने 'आपो हि ष्ठा मयोभुवः' का जो उदाहरण दिया है, वह भी अकेला मंत्र नहीं, अपितु संकेतित सभी स्थलों में इकट्ठे तीन-तीन मंत्र पुनरुक्त हुए हैं- 'आपो हि ष्ठा' 'यो वः शिवतमो रसः' और 'तस्मा अरं गमाम वो'। इस लेख के प्रारंभ में उद्‌घृत पुनरुक्ति के उदाहरणों में से अधिकांश का समाधान इसी प्रसंगभेद से हो जाता है।

अर्थभेद में पुनरुक्ति दोष नहीं

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने अर्थ भिन्न होने पर, या अर्थ एक भी हो तो तात्पर्य भिन्न होने पर पुनरुक्ति को दोष नहीं माना है। इस विषय में आचार्य महिमभट्ट-प्रणीत व्यक्तिविवेक के निम्न वचन द्रष्टव्य हैं—

न ह्यर्थभेदे शब्दसाम्येऽपि कश्चिद् दोषः। यथा
'हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति ।
द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति' इति।
तदभेदे तु दुष्टतैव, अन्यत्र तात्पर्यभेदात्। तच्च
भूषणमेव न दूषणम्। द्वितीय विमर्श, पौनरुक्त्यप्रकरण

अर्थात् शब्द समान होने पर भी यदि अर्थ में भेद है तो पुनरुक्ति सदोष नहीं होती। उदाहरणार्थ उपर्युक्त श्लोक में 'हसति' तथा 'नृत्यति' पद पुनरुक्त हुए हैं, तो भी दोष नहीं है, क्योंकि 'स्वामिनि हसति हसति, स्वामिनि प्रनृत्यति नृत्यति' —स्वामी के हंसने पर हंसता है, नृत्य करने पर नृत्य करता है— ऐसी भिन्नार्थक योजना है। प्रथम हसति और नृत्यति शब्द क्रमशः हसत् और नृत्यत् शब्दों के सप्तमी विभक्ति के एकवचनान्त रूप हैं और द्वितीय हसति तथा नृत्यति क्रियापद हैं। जब अर्थ भिन्न नहीं होगा, तभी पुनरुक्ति में दोष होगा। साथ ही कभी-कभी अर्थ भिन्न न होने पर भी दोष नहीं होता। ऐसा तब होता है जब अर्थ एक होते हुए भी तात्पर्य भिन्न हो। केवल इतना ही नहीं कि दोष नहीं होता, प्रत्युत उसे तो लाटानुप्रास नामक अलंकार मानते हैं। जैसे—

वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसंकाशकाशाः
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदीहंस हंसाः।

यहां 'काशाः, काशाभाः', 'श्रीनदीहंस हंसाः' में काश और हंस शब्द पुनरुक्त हुए हैं तथा इनका अर्थ भी एक ही है, तो भी तात्पर्य भिन्न

होने से पुनरुक्तिदोष नहीं, प्रत्युत अलंकार है। यही बात वेद के संबंध में भी है। उदाहरणार्थ **'श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः।** ऋ० १.१२२.६ यहां 'श्रोतु' शब्द तीन बार आवृत्त हुआ है, तो भी अन्वयभेद या तात्पर्यभेद होने के कारण पुनरुक्तिदोष नहीं है। वाक्यार्थ यह है कि (श्रोतुरातिः) विश्रुत दान वाला (सुश्रोतुः) उत्तम श्रोता परमेश्वर (श्रोतु) हमारी प्रार्थना को सुने।

कई मंत्र शब्दशः समान होते हुए भी अर्थ भिन्न रखने के कारण पुनरुक्ति-दोष के अंतर्गत नहीं होते। उदाहरणार्थ निम्न मंत्र को लीजिए।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान् क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः।।

यह मंत्र वेदों में चार बार आया है। एक बार ऋग्वेद १०.८७.१९ में, एक बार सामवेद (पूर्वार्चिक, आग्नेय पर्व अ० १,खं० ८, मं० ८) में, और दो बार अथर्ववेद ५.२९.११ तथा ८.३.१८ में। ऋग्वेद में यह राष्ट्र के सेनानी को लक्ष्य करके कहा गया है– 'हे राष्ट्र के अग्निस्वरूप सेनानी, तुम सदा ही राक्षसों को नष्ट करते हो। युद्धों में राक्षस शत्रु तुम्हें जीत नहीं पाते। अतः अब भी तुम उन मांसभक्षी शत्रुओं को दग्ध कर दो। तुम्हारी चमचमाती तलवार से कोई छूटने न पाये।'' सामवेद में अग्निस्वरूप प्रभु को संबोधन कर कहा गया है– 'हे तेजस्वी प्रभु, आप सदा ही उन राक्षसी भावों का संहार करते हैं, जो हमें यातना पहुंचाते हैं। हमारे अन्दर चलने वाले देवासुर-संग्रामों में वे राक्षसी भाव आपको जीत नहीं पाते। इस वेला में भी हे प्रभु, आप उन्हें दग्ध कर दीजिए। आपकी दिव्य संहारक शक्ति के संमुख वे टिकने न पायें।'' अथर्ववेद के प्रथम स्थल में रोगकृमियों के विनाश का प्रकरण है, अतः वहां अग्नि से यज्ञाग्नि गृहीत होता है, जिसमें ओषधियों के होम करने से रोगोत्पादक कृमि विनष्ट हो जाते हैं। द्वितीय स्थल में दीर्घायुष्य के प्रकरण में अग्नि रोगों का संहार करने वाला वैद्य है। इस प्रकार चारों स्थलों में यह मंत्र शब्दसाम्य रखते हुए भी प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अर्थों को देता है। यह ठीक है कि प्रत्येक स्थल पर दूसरे अर्थ भी ध्वनित होते हैं, पर वे समासोक्ति अलंकार द्वारा होते हैं। मुख्यार्थ प्राकरणिक ही होता है।

एक और उदाहरण देखिए। निम्न मंत्र अथर्ववेद में दो बार आया है–

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमाभासि रोचन।।

अथर्व० १३.२(२).१९ ; २०.४७.२६

प्रथम स्थल में प्रकरण अध्यात्म का है। अतः वहां सूर्य से अज्ञानान्धकारनिवारक परमेश्वर गृहीत होता है। उसे संबोधन कर कहा है कि आप संकटों से तारने वाले, विश्वद्रष्टा तथा ज्योति को उत्पन्न करने वाले हैं और सकल विश्व को प्रकाशित करते हैं। द्वितीय स्थल में भौतिक सूर्य गृहीत होता है, क्योंकि वहां स्पष्ट ही इस मंत्र से पूर्व कह दिया है कि परमेश्वर ने दीर्घ प्रकाश के लिए आकाश में सूर्य को उत्पन्न किया है- '**इन्द्रो दीघार्य चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि** (२०.४७.६)' । अतः सूर्यपरक अर्थ करेंगे कि ''हे सूर्य, तू रोगादि से तारने वाला, सब वस्तुओं का दर्शन कराने वाला तथा प्रकाश देने वाला है, और तू ही अपने अधीन मंगल, बुध, पृथिवी, चन्द्रादि सब ग्रहोपग्रहों को चमकाता है।'' इस प्रकार भिन्न अर्थ होने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं होगा।

निष्कर्ष

वेदों में पुनरुक्त स्थलों पर विचार करते हुए हम निम्न परिणामों पर पहुंचते हैं।

१. वेदों में शब्द-पुनरुक्ति तथा अर्थ-पुनरुक्ति पर्याप्त होते हुए भी पुनरुक्ति-दोष कहीं नहीं है। ऐसा ही यास्क आदि प्राचीन वेदज्ञों तथा सायण-प्रभृति भाष्यकारों ने भी स्वीकार किया है।

२. विभिन्न प्रसंगों में जहां संपूर्ण सूक्त, कुछ मंत्र या अकेले-अकेले मंत्र पुनरुक्त हुए हैं, वहां प्रसंग-भेद के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं है; क्योंकि उन सभी प्रसंगों में वे मंत्र अपना सौन्दर्य रखते हैं।

३. कई स्थलों में मंत्रसाम्य होते हुए भी प्रकरणानुसार अर्थ भिन्न हो जाता है। अर्थभेद में काव्यशास्त्रियों ने भी पुनरुक्ति-दोष नहीं माना है। अतः वहां दोष नहीं है।

४. समस्यापूर्ति, जहां प्रत्येक पद्य के अंत में एक ही वाक्य आता है, दोष नहीं मानी जाती। प्रत्युत यह एक चित्ताकर्षक काव्यशैली है। अतः वेद के भी ऐसे प्रसंग पुनरुक्ति-दोष से युक्त नहीं ठहरते।

५. उपदेश में एक बात को प्रकारान्तर से पुनः-पुनः कहना दोष नहीं होता। वेदमंत्र भी परमेश्वर के उपदेश हैं। अतः वेदों में भी यदि यह शैली रखी गयी है, तो वह पुनरुक्ति-दोष नहीं है। इससे पाठक के मन में वह विचार बद्धमूल हो जाता है। ऐसे स्थलों में पुनरुक्ति का प्रयोजन दार्ढ्य (बल देना) होता है।

६. भय, शोक, असूया, हर्ष, विस्मय, अनुकम्पा, त्वरा, उत्साह आदि के प्रदर्शनार्थ पुनरुक्ति शास्त्रसंमत है। उसे दोष नहीं माना जाता। आचार्य भामह एवं दण्डी ने निम्न शब्दों में इसका प्रतिपादन किया है।

भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद् विदुः।।

काव्यालंकार ४.१४

अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्क्रिया ।।

काव्यादर्श ३.१३७

वेद की भी कई पुनरुक्तियां इन अर्थों में आने से दोष नहीं, प्रत्युत अलंकार हैं।

७. कई मंत्रों में एक-दो पद बार-बार आते हैं। यह हृदय के भावोद्रेक को प्रकट करने की एक शैली है। इसे पुनरुक्ति-दोष नहीं मानना चाहिये। उदाहरणार्थ-

ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु।
ममत्तु येन वरिवश्चकर्थ ममत्तु येन निरिणासि शत्रून्।।

ऋ० १०.११६.३

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा।।

अथर्व० ६.१९.१

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि।।

अथर्व० ६.४०.३

८. लोक में भी याचना में पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जाता। ऐसा ही वेद में समझना चाहिए। भक्त भगवान् के आगे झोली पसार कह रहा है-

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्याभर।
भूरि घेदिन्द्र दित्ससि।।

ऋ० ४.३२.२०

'हे प्रभो, आप बहुत दानी हैं। हमें बहुत दीजिए। हां कम नहीं, बहुत दीजिए। सचमुच आप बड़े दानाभिलाषी हैं।' तर्क से देखें तो जब 'भूरिदा' कह दिया, तब 'भूरि दित्ससि' कहना व्यर्थ है। इसी प्रकार जब 'भूरि देहि नः' कह दिया, तब 'मा दभ्रं भूरि आभर' कहने की क्या आवश्यकता? पर वस्तुतः याचक और दानी के बीच या भक्त और भगवान् के बीच तर्क नहीं चलता। उपर्युक्त प्रार्थना में अपना विशेष सौन्दर्य है। इससे भक्त की भगवान् के प्रति आस्था, याचना के पूर्ण होने का विश्वास तथा बहुत अधिक पाने की आतुरता प्रकट होती है। अतः पुनरुक्ति-दोष की शंका नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत ऐसे स्थलों को अलंकार समझना चाहिये।

९. हिन्दी का एक उद्‌बोधनगीत है

वीर तुम बढ़े चलो, धीर तुम बढ़े चलो।
बढ़े चलो, बढ़े चलो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

कितनी जान है इस गीत में। क्या यहां 'बढ़े चलो' की पुनरुक्ति किसी को दोष प्रतीत होती है। इसकी तुलना में निम्न वैदिक गीत देखिए–

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।।
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।।
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।।

अथर्व० २.११.१,४,५

यहां भी 'असि' तथा 'आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम' की पुनरुक्ति में दोष की उद्‌भावना न कर इसमें जो रस और चारुता है उसका आस्वादन करना उचित है।

१०. कोई व्यक्ति आत्मप्रकाश की प्राप्ति के लिये यत्नशील है। उसे उस प्रकाश की उपलब्धि हो जाती है। अनुपम उल्लास में उसके मुख से निम्न उद्‌गार निःसृत होते हैं–

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म।

अथर्व० १६.९.३

'पा लिया है प्रकाश; आहा, हमने प्रकाश को पा लिया है। हम आत्म-सूर्य की ज्योति से संयुक्त हो गये हैं।' यहां जो भी सफलता का संतोष और उल्लास व्यक्त हो रहा है, वह पुनरुक्ति के कारण ही है। एवं पुनरुक्ति यहां दूषण न होकर भूषण है।

इस पद्धति से यदि हम वैदिक पुनरुक्तियों पर विचार करें तो हमें निरुक्तकार की '**अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यते**' यह उक्ति सर्वत्र चरितार्थ होती हुई प्रतीत होने लगेगी।

वैदिक अंगिरस ऋषि

वैदिक साहित्य में अंगिरस ऋषियों की चर्चा कई स्थलों पर आयी है। वैदिक संहिताओं में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यास्कीय निरुक्त में अंगिरस का संबन्ध अंगारों से बताया गया है[१], जो तप का प्रतीक है। ऐसे ऋषि कोटि के व्यक्ति अंगिरस् कहलाते हैं, जो मानों अंगारों पर बैठे तपस्या कर रहे हैं। अंगार शब्द से ही अंगिरस् बना है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यह कहा है कि जो अंगारे थे, वे ही अंगिरस् हो गये[२]। शतपथ ब्राह्मण में भी यही निष्पत्ति दी है, जहां कहा है कि अंगारों से अंगिरस् ऋषि उत्पन्न होते हैं[३]। तप से अंगिरसों का संबन्ध तैत्तिरीय और काठक संहिताओं से भी ज्ञात होता है। वहां कहा है कि कि 'तुम भृगु अंगिरसों जैसा तप करो'।[४] वेदों में अग्नि को भी अंगिरस् ऋषि कहा गया है[५]। इससे भी सिद्ध होता है कि तेजस्वी और तपस्वी को ही अंगिरस् कहते हैं। अग्नि को अंगिरस्तम[६] भी कहा गया है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि वेद में प्रयुक्त एकवचनान्त या बहुवचनान्त अंगिरस् शब्द किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का वाची नहीं है, अपितु गुणवाची नाम है। वैदिक इंडेक्स के लेखक मैकडानल और कीथ भी ऋग्वेद में प्रयुक्त अंगिरसों की ऐतिहासिकता से इन्कार करते हैं[७]। यहां तक कि उनका कथन है कि निम्नलिखित प्रकार के मंत्रों में भी अंगिरस् कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है, जबकि सायण[८] उसे ऐतिहासिक व्यक्ति मानते प्रतीत होते हैं—

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ।।

ऋ० १.४५.३

हे महान् व्रत वाले जातवेदस् अग्नि, तू जैसे प्रियमेध, अत्रि, विरूप और अंगिरस् के आह्वान को सुनता है, वैसे ही मुझ प्रस्कण्व के आह्वान को भी सुन।[९]

'अगिरस्' की निष्पत्ति गत्यर्थक अगि धातु से भी की जाती है[१०]। गतिमान् होने से अग्नि अंगिरस् कहलाता है। इसीप्रकार गतिमय जीवन वाला, कर्मण्य, ऋषि कोटि का व्यक्ति अंगिरस है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान,

गमन और प्राप्ति। अतः अंगिरस् वह है जो उत्कृष्ट ज्ञानी, तदनुसार कर्म करने वाला और सेवा के लिए दीन-दुःखियों के पास पहुंचने वाला है[११]।

गोपथ ब्राह्मण में अंगिरस की व्युत्पत्ति अंग-रस से की गयी है। वहां जो वर्णन किया है, उससे यह ध्वनि निकलती है कि जो व्यक्ति किसी सत्कार्य के लिए इतना घोर परिश्रम करता है कि उसके अंग-अंग से स्वेद-रस (पसीना) निकलने लगता है, वह अंगिरस् कहलाता है।[१२] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शरीर में प्राण अंगिरस् ऋषि है[१३]। अतः जिसका प्राण बलवान् है उस मनुष्य को भी अंगिरस् कहते हैं।

अंगिरस् का परिचय देते हुए ऋग्वेद में कहा है[१४]—

विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ।।

ऋ० १०.६२.५

अंगिरस् ऋषि सर्वसाधारण की अपेक्षा विशिष्ट स्वरूप वाले (वि-रूप) होते हैं। साधारण जन अल्पदर्शी होते हैं, तो वे दूरदर्शी; साधारण जन स्वार्थ-परायण होते हैं, तो वे निःस्वार्थ सेवक; साधारण जन विघ्न-बाधाओं से डरने वाले होते हैं, तो वे निर्भय। "वि-रूप" का अर्थ 'विविध रूपों वाले' होता है। जनता के संमुख उनके अनेक स्वरूप आते हैं। कभी वे अविद्यान्धकार का उन्मूलन करने का व्रत लेकर सूर्य के समान विद्या का प्रकाश फैलाते हैं। कभी वे समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए क़टिबद्ध दिखायी देते हैं। कभी महामारियों, विपत्तियों और दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों का सहारा बनकर सामने आते हैं। कभी पराधीन देश को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए नेतृत्व करते दृष्टिगोचर होते हैं। कभी अधर्म पर धर्म की विजय का जयघोष करते हुए विचरते हैं। अंगिरस् ऋषियों का दूसरा गुण है कि वे 'गम्भीरवेपस्' होते हैं। निरुक्त के अनुसार 'वेपस्' का अर्थ है प्रज्ञा और कर्म। उनकी प्रज्ञा गंभीर होती है और उनके कर्म भी गंभीर होते हैं। उनका तीसरा गुण है कि वे अग्नि से जन्म लेते हैं, अग्नि के सुपुत्र होते हैं। प्रथम जन्म होता है माता-पिता से, द्वितीय जन्म होता है आचार्य से और तृतीय जन्म होता है अग्नि से। वानप्रस्थ और संन्यासी अग्नि से जन्म ग्रहण करते हैं।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ।।

यजु० २२.२४

''वानप्रस्थ को उचित है कि 'मैं अग्नि में होम कर, दीक्षित होकर, व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊँ' ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे।''[१५]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।।

मनु० ६.३८

''प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत, शिखादि चिह्नों को छोड़; आहवनीयादि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकल कर संन्यासी हो जावे[१६]।'' ये अग्नि के पुत्र वानप्रस्थ और संन्यस्त जीवन व्यतीत करने वाले परोपकारी जन ही अंगिरस ऋषि हैं ।

ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते।।

ऋ० १०.६२.६

''जो विशिष्ट रूप और विविध रूप वाले अंगिरा ऋषि यज्ञाग्नि से जन्म लेते हैं, और देदीप्यमान सूर्याग्नि से जन्म लेते हैं, उनमें जो नवग्व और दशग्व होता है, वह सर्वोत्तम अंगिरा ऋषि कहलाता है। वह अन्य देवजनों के साथ मिलकर लोकोपकार के लिए अपना तन-मन-धन सब दान कर देता है।''

निरुक्त के अनुसार नवग्व वह है जिसके जीवन की गति अन्यों की अपेक्षा नवीन है अथवा नवनीत जैसी स्नेहमयी है[१७]। स्वामी दयानन्द इसकी व्याख्या करते हैं कि नवग्व वे हैं जिन्होंने नवीन शिक्षाएं और विद्याएं प्राप्त की हुई हैं तथा अन्यों में उनका प्रचार करते हैं[१८]। गौ का अर्थ इन्द्रिय भी होता है, अतः जिनकी पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा अन्तःकरणचतुष्ट मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सबल हैं, वे भी नवग्व कहलाते हैं। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व इन नवों चित्त-विक्षेपरूप अन्तरायों[१९]को जिन्होंने जीत लिया है वे भी नवग्व हैं। जिन्होंने अदिति प्रकृति तथा उसके आठ पुत्रों [२०] सप्तग्रहों और सूर्य का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया हुआ है ऐसे उच्चकोटि के दार्शनिक और सृष्टिविद्यावित् ज्ञानीजन भी नवग्व हैं।

दशग्व शब्द निरुक्त में व्याख्यात नहीं हुआ है। दसों इन्द्रियों पर और दसों प्राणों पर विजय प्राप्त करने वाले[२१], दसों इन्द्रियों से कार्यसिद्धि प्राप्त करने वाले[२२], पांचों यमों तथा पांचों नियमों का पालन करने वाले, और अष्टसिद्धि, विवेक एवं कैवल्य पा लेने वाले वीतराग ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी जन दशग्व कहलाते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०७ में एक कथानक[२३]आता है कि इन्द्र की गौओं को पणि नामक असुर चुरा ले जाते हैं और उन गौओं को वे नदी पार ले जाकर पर्वत की गुफा में छिपा देते हैं। इन्द्र सरमा को दूती बनाकर भेजता है। सरमा पणियों से गौओं को छोड़ देने के लिए कहती है और उन्हें भय दिखाती है कि यदि नहीं छोड़ोगे तो सोमपान से तीक्ष्णीकृत अयास्य और नवग्वा अंगिरस् ऋषि आयेंगे तथा वे तुम्हारे गौओं के सुदृढ़ बाड़े को तोड़ कर गौओं को मुक्त करा लेंगे[२४]। पणि सरमा को प्रलोभन देना चाहते हैं और कहते हैं कि –'आ, हम तुझे बहिन बना लेते हैं, तू इन्द्र के पास लौट कर मत जा, हम तुझे भी कुछ गौएं दे देंगे।' पर वह प्रलोभन में नहीं आती। वह कहती है–"मैं भाईपना, बहिनपना कुछ नहीं जानती। इसे इन्द्र जाने और उसके घोर अंगिरस् जानें[२५]। अन्त में परिणाम क्या होता है यह उस सूक्त में नहीं बताया। वह वेद के अन्य अनेक मंत्रों से ज्ञात हो जाता है। इन्द्र के सहयोग से वीर अंगिरस् ऋषि गौओं को मुक्त करा लाते हैं–

इन्द्रेण युजा निःसृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम् ।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ।।

ऋ० १०.६२.७

"राष्ट्रयज्ञ के ऋत्विज् मेधावी वे अंगिरस् ऋषिगण राष्ट्रयज्ञ के ब्रह्मा राजा (इन्द्र) को सहायक पाकर पणियों द्वारा कैद किये हुए गौओं और अश्वों के समूह को छुड़ा लाते हैं तथा अष्टकर्णी गौएं जनता को प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार देवजनों में वे कीर्ति को प्राप्त करते हैं[२६]।"

जब राष्ट्र गो-हीन और अश्व-हीन हो जाता है, शत्रुओं द्वारा उसकी संपत्ति अपहृत कर ली जाती है, तब अंगिरस् ऋषि ही उस संपत्ति को वापिस लाते हैं। उदाहरणार्थ, अपने ही देश को लें। यहां किसी समय दुधार गौएं होती थीं, घी-दूध-दही की इस देश में नदियां बहती थीं। आज अच्छी नस्ल की गौएं दुर्लभ हैं। किसी समय हवा से बातें करने वाले, सधे हुए, उत्कृष्ट कोटि के घोड़े होते थे। आज वैसे घोड़े भी दुर्लभ हैं। देश के अंगिरस् ऋषियों के गोरक्षा

और पशुरक्षा के अभियान से ही देश अपनी पुरानी स्थिति को पा सकता है। किन्तु देश के इन्द्र अर्थात् राजा या सरकार का साहाय्य मिलना भी आवश्यक है।

पर वेद के गौ और अश्व केवल गाय और घोड़ों के ही वाची नहीं हैं। गौ का अर्थ है गव्य पदार्थ घी, दूध, दही आदि, जो कि समग्र भोज्य संपत्ति का प्रतीक है; अश्व उपलक्षण है इतर उपयोग में आने वाली वस्तुओं का। गौ के अर्थ वाणी, भूमि, ज्ञानकिरण आदि भी होते हैं। शत्रु ने हम पर अधिकार करके हमारी वाणी की स्वतंत्रता को हर लिया है, या वेदवाणियां अन्धकारावृत हो गयी हैं, या शत्रु ने हमारी भूमियों को हस्तगत करके सीमा पर अपनी रक्षक-सेना नियुक्त कर दी है, जिससे उन्हें पुनः पाना कठिन हो गया है, अथवा ज्ञानकिरणें अज्ञानरूप पर्वत की गुफाओं में बन्द हो गयी हैं; इन सभी स्थितियों में राष्ट्र के अंगिरस् ऋषि आगे आते हैं और उनका उद्धार करते हैं। अश्व बल का भी प्रतीक है। जब राष्ट्र का बल छिन जाता है, राष्ट्रवासी निर्बल हो जाते हैं, तब भी अंगिरस् ऋषि उठ कर निर्बलों में बल का संचार करते हैं। अश्व शरीर की इन्द्रियों का भी नाम है[२७]। जैसे घोड़े घुड़साल में रहते हैं, वैसे ही इन्द्रियां शरीर में अवस्थित हैं। कभी-कभी इन इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को कामक्रोधादि रिपु घेर कर अपनी पर्वतगुफा में बन्द कर लेते हैं, जिससे ये सत्कर्मों में प्रवृत नहीं हो पातीं। अंगिरस ऋषि सदुपदेश द्वारा मानवों की इन इन्द्रियों को भी उन्मुक्त करा देते हैं।

अंगिरस् ऋषि जिन गौओं का उद्धार करते हैं, वे अष्टकर्णी गौएं हैं। साधारण गौओं के तो दो ही कान होते हैं, पर ये आठ कानों वाली हैं।[२८] वेदवाक् रूपी गौ अष्टकर्णी होती है, क्योंकि उसके गायत्री, अनुष्टुम् आदि कई छन्दों में प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। सामान्य वाणी भी अष्टकर्णी होती है, क्योंकि सुबन्त शब्दों की संबोधन को मिलाकर आठ कड़ियां हो जाती हैं। अन्यत्र वाणी को अष्टापदी कहा भी है[२९]। भूमि रूपी गौ भी अष्टकर्णी है, क्योंकि वह आठ दिशाओं में विस्तीर्ण होती है। विद्या रूपी गौ भी अष्टकर्णी है, क्योंकि वह चार वेदों और चार उपवेदों में व्याप्त है। अंगिरस् ऋषियों की कीर्ति इन गौओं का उद्धार करने के कारण चारों ओर फैल जाती है।

ऋग्वेद के १०म मण्डल का ६२वाँ सूक्त, जिसके तीन मंत्रों की अभी व्याख्या की गयी है, वैदिक अंगिरस् ऋषियों के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करने वाला एक सुन्दर सूक्त है। इसका ऋषि है **नाभा नेदिष्ठ।** इस सूक्त तथा इससे पूर्ववर्ती ६१वें सूक्त दोनों पर ऐतरेय ब्राह्मण[१०] में निम्नलिखित कथानक आता है–"मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ आचार्यकुल में ब्रह्मचर्यवास कर रहा था। उसके पीछे उसके भाइयों ने दायभाग का बंटवारा कर लिया, उसे कुछ नहीं दिया। नाभानेदिष्ठ को जब यह पता लगा, उसने आकर पिता से कहा कि मुझे दायभाग से वंचित क्यों रखा? पिता ने कहा कि यह भाग तुझे न सही न मिला; अंगिरस् ऋषि स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञ कर रहे हैं, उन्होंने षष्ठाहःपर्यन्त तो यज्ञ कर लिया है, आगे भूल गये हैं, तू जाकर उन्हें इन दोनों सूक्तों का शंसन करवा दे; वे स्वर्ग जाते हुए तुझे सहस्र गौएं दे जायेंगे। पिता से प्रेरित नाभानेदिष्ठ ने ऐसा ही किया तथा एक सहस्र गौएं पा लीं। इतने में ही किसी कृष्णशवासी पुरुष का रूप धारण किये हुए रुद्र ने आकर कहा कि इन गौओं को तू कहां ले जा रहा है? यह तो यज्ञशेष होने से रुद्र का भाग होता है, अतः मेरा है। जब नाभानेदिष्ठ ने कहा कि यह भाग तो स्वयं अंगिरसों ने मुझे दिया है, तब वह पुरुष बोला कि तू अपने पिता से ही जाकर पूछ ले, वे ही इसका निर्णय कर देंगे। पिता ने भी कहा कि यह भाग तो रुद्र का ही है। पुत्र ने आकर पिता का निर्णय पुरुष को सुना दिया। उसके सत्य कथन से प्रसन्न होकर उस पुरुष ने वे एक सहस्र गौएं उसे ही दे दीं।

वस्तुतः अंगिरस्-गण गौएं प्रदान करते हैं, इस मंत्रोक्त तथ्य को लेकर ही यह कथा रची गयी है। ६१वें सूक्त के १८वें मंत्र में नाभानेदिष्ठ पूरा नाम आया है। ६२वें सूक्त के ४र्थ मंत्र में केवल नाभा नाम है। भा का अर्थ दीप्ति है, 'अभा' का अर्थ हुआ 'दीप्ति का अभाव,' 'न अभा नाभा' इस विग्रह से नाभा का अर्थ हुआ दीप्ति के अभाव का अभाव अर्थात् अतिशयदीप्तियुक्तता, उसके नेदिष्ठ अर्थात् अति समीप जो होना चाहता है वह नाभानेदिष्ठ है। ऐसा मनुष्य अंगिरसों की स्तुति कर रहा है तथा उनसे प्रार्थना कर रहा है कि तुम मानव-जाति का उद्धार करो। सूक्त के प्रथम चार मंत्र यहां दिये जा रहे हैं।

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमाशत।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।१।।

"जो यज्ञ और दक्षिणा से संयुक्त हुए हैं, जिन्होंने इन्द्र का सख्य और अमृतत्व प्राप्त कर लिया है, ऐसे तुमको हे अंगिरसो, कल्याण प्राप्त हों। हे उत्कृष्ट मेधा वालो, तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो[३१]।"

अंगिरस् ऋषि यज्ञ से संयुक्त होते हैं। यज्ञ शब्द यज धातु से बनता है, जिसके तीन अर्थ हैं– देवपूजा, संगतिकरण और दान। देवाधिदेव परमात्मा की पूजा करना प्रथम यज्ञ है। छोटे-बड़े सबलोगों से जाकर मिलना, उनके दुःख-दर्द को, उनकी समस्याओं को सुनना और उसके प्रतीकार के लिए संगठन बनाना दूसरे प्रकार का यज्ञ है। दुःखियों के कष्टों के निवारणार्थ अथवा किसी महान् कार्य के लिए अपने तन-मन-धन को समर्पित कर देना तीसरा यज्ञ है। अंगिरस् ऋषि इन तीनों प्रकार के यज्ञों को करते हैं। अत एव महान् कार्य में सहायता के लिए उन्हें दूसरों से दक्षिणा, धनादि का दान भी प्राप्त होता है। वे सम्राटों के सम्राट् राजराजेश्वर प्रभु की मित्रता को प्राप्त कर लेते हैं, इसीलिए अमृतत्व अर्थात् जीवन्मुक्ति की स्थिति को पहुंच जाते हैं। मानव उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं कि तुम्हें भद्र प्राप्त हो, और अपने लिए यह याचना कर रहे हैं कि मानव-जाति को अवलम्ब दो।

य उदाजन् पितरो गोमयं वसु-ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।२।।

"जिन्होंने पिता बन कर हमें गो-धन प्राप्त कराया, जिन्होंने वर्ष भर निरन्तर संघर्ष करके अपने सत्य के अस्त्र से पाप-अन्याय-अत्याचार के वलासुर को छिन्न-भिन्न कर दिया, ऐसे हे अंगिरस् ऋषियो, तुम्हें दीर्घायुष्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो, तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो[३२]।"

य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिवि-अप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।३।।

"जिन्होंने सत्य का ऐसा प्रचार किया कि राष्ट्र-गगन के मध्याकाश में सूर्य उद्गत हो गया; जिन्होंने मातृभूमि को ज्ञान, सर्वतोमुख उत्कर्ष आदि से प्रथित कर दिया, ऐसे हे अंगिरस् ऋषियो, तुम्हें हम प्रजाओं से सुप्रजावान् होने का सौभाग्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो, तुम मानव-जाति को अपना आश्रय दो[३३]।"

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन ।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ।।४।।

"यह नाभानेदिष्ठ तुम्हारे गृहद्वार पर आकर रमणीय वचन बोल रहा है। हे परमात्मदेव के सच्चे पुत्र ऋषियो, उस वचन को सुनो। हे अंगिरस् ऋषियो, तुम्हें सुब्रह्मण्य प्राप्त हो। हे उत्कृष्ट मेधा वालो, मानव-जाति को अपना आश्रय दो[३४]।" सभी राष्ट्रों में सदा अंगिरस् ऋषियों की पुकार होती है। आज भी विश्व अंगिरस् ऋषियों को पुकार रहा है, और कह रहा है– **प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः।**

पाद-टिप्पणियां

१. अंगारेष्वंगिराः। निरु० ३.१७

२. ये अंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्। ऐ० ३.३४

३. अंगारेभ्योऽङ्गिरसः। श० .४.५.१.८

४. भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्यवम्। तै० १.१.७.२, काठ० १.७

५. त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिः। ऋ० १.३१.१

६. त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः। ऋ० १.३१.२

७. The Angirases appear in the Rigveda as semimythical beings, and no really historical character can be assigend even to those passages (Rv.1.45.3; 139.9; 3.31.7 etc; Chandogya Upanisad 1.2.10) which recognise a father of the race, Angiras–Vedic Index.

८. प्रियमेध-अत्रि-विरूप-अङ्गिरोनामकाः, एतेषामाह्वानं यथा शृणोषि तदत्–सायण ।

९. द्रष्टव्य निरुक्त की व्याख्या जहां प्रियमेध आदि को गुणवाची नाम माना है–प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा। यथैतेषाम् ऋषीणाम् एवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्–कण्व कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम्। अंगारेष्वं-गिराः ... अत्रैव तृतीयम् ऋच्छतेत्यूचुः तस्माद् अत्रिः, न त्रय इति। ... विरूपो नानारूपः । महिव्रतो महाव्रतः । निरु० ३.१७

१०. अङ्गतिर्गत्यर्थः। अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति अङ्गिराः। रसप्रत्ययो मत्व-र्थीयः। यजु० ३.३, महीधरभाष्य ।

११. द्रष्टव्यः उणादि ४.२३७ पर दयानन्दभाष्य। अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा सः अङ्गिराः।... असि प्रत्ययस्य इरुडागमः।

१२. तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्ग-रसोऽभवत्। तं वा एतम् अङ्गरसं सन्तम् अंगिरा इत्याचक्षते परोक्षेण । गो०पू०१.७

१३. प्राणो वा अंगिराः। श० ६.१.२.२८
१४. द्रष्टव्य इस मन्त्र की यास्ककृत व्याख्या—'बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीर-कर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा, ते अङ्गिरसः पुत्रास्ते अग्नेरधिजज्ञिर इत्यग्निजन्म। निरु० ११.१७
१५. स०,प्र०,समु०५, वानप्रस्थप्रकरण।
१६. वही, संन्यासप्रकरण।
१७ अंगिरसो नः पितरो नवग्वाः० ऋ० १०.१४.६ अंगिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा। निरु० ११.१९
१८. नवग्वाः नवीनशिक्षाविद्याप्राप्ताः प्रापयितारश्च। ऋग्भाष्य १.३३.६
१९. नव अन्तरायों के लिए द्रष्टव्यः योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र ३०। तत्र प्रति-पादितान् अन्तरायान् गच्छन्ति आक्रामन्ति ते नवग्वाः।
२०. अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि। देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्।। ऋ० १०.७२.८
२१. दश गाव इन्द्रियाणि जितानि यैस्ते। दयानन्द, ऋग्भाष्य ५.२९.१२
२२. ये दशभिरिन्द्रियैःसिद्धिं गच्छन्ति ते। वही २.३४.१२
२३. इस कथानक की विविध दृष्टियों से विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्यः लेखक का शोध-प्रबन्ध ''वेदों की वर्णशैलियां'' श्रद्धानन्द शोधसंस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, १९६६, पृ० १९२-२०२।
२४. एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अंगिरसो नवग्वाः। त एतमूर्वं वि भजन्त गोनाम्।। ऋ० १०.१०७.८
२५. नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः। ऋ० १०.१०८.१०
२६. वाघतः राष्ट्रयज्ञस्य ऋत्विजः मेधाविनो वा, वाघतः इति ऋत्विङ्नामसु मेधाविनामसु च पठितम् निघं० ३.१८; ३.१५, इन्द्रेण राष्ट्राध्यक्षेण युजा सहायेन गोमन्तं गावो धेनवो वेदवाचो भूमयः किरणा वा तद्युक्तं, अश्विनम् अश्वास्तुरंगाः शारीरबलानि इन्द्रियाणि वा तद्युक्तं पणिभिरवरुद्धं व्रजं समूहं निःसृजन्त तत्सकाशान्निरगमयन्। मे मह्यं राष्ट्रवासिने सहस्रं सहस्रसंख्योपेता अष्टकर्ण्यः प्रतिपादम् अष्टाक्षरयुक्ता गायत्र्यादिवेदवाचः, प्रथमादिसम्बोधनान्ताष्टस्वरूपोपेताः सामान्यवाचो वा, अष्टदिक्षु व्याप्ता भूमीर्वा, चतुर्वेदचतुरुपवेदविभक्ता विद्या वा ददतः प्रयच्छन्तः

अंगिरसः तेजस्विनो ऋषयः देवेषु विद्वत्सु श्रवः श्रवणीयं यशः (निरु० ११.९) अक्रत अकृषत इति भावः।

२७. इन्द्रियाणि हयानाहुः। कठ उप० ३.४

२८. गाय के पक्ष में सायण ने अष्टकर्ण्यः का अर्थ 'बड़े कानों वाली' किया है—अष्ट इति अशू व्याप्तौ निष्ठायां रूपम्। विस्तृतकर्णाः। उपलक्षणमेतत्, व्याप्तसर्वावयवाः— सायण। संभवतः बड़े कानों वाली गौएं अच्छी नस्ल की मानी जाती हों। रॉथ इसका अर्थ 'छिदे कानों वाली' करते हैं। ग्रासमैन का कथन है कि जिनके कानों पर ८ का चिह्न दाग दिया गया है वह अष्टकर्णी हैं। द्रष्टव्यः वैदिक इण्डेक्स।

२९. वाचमष्टापदीमहम्। ऋ०८.७६.१२

३०. ऐ० ब्रा० ५.१४; तुलनीय तै० सं० ३.१.९.४।

३१. हे अंगिरसः तेजस्विनः प्राणवन्तोऽश्रान्तपरिश्रमपरायणा ऋषयः, ये यूयं यज्ञेन यज्ञः देवस्य परमात्मनः पूजा, सर्वैः सह संगतिकरणं, स्वेच्छया परोपकाराय सर्वस्वदानं च तेन, यज्ञ देवपूजासंगतिकरण-दानेषु, दक्षिणया महतांपरोपकारकार्याणां सम्पादनाय जनेभ्यः प्राप्तेन दानेन च समक्ताः संगताः, किं च इन्द्रस्य परमेश्वरस्य राज्ञो वा सख्यं मैत्रीम्, अमृतत्वं जीवन्मुक्तत्वं च आनश आन-शिध्वे प्राप्ताः स्थ, तेभ्यः तथाविधेभ्यः वः युष्मभ्यं भद्रं कल्याणम् अस्तु। हे सुमेधसः उत्कृष्टप्रज्ञोपेताः अंगिरसः, यूयं मानवं मानव-जातिं प्रतिगृभ्णीत प्रतिगृह्णीत, स्वाश्रयं प्रदातुं स्वीकुरुध्वम्। ग्रह धातोः हृग्रहोर्भश्छन्दसीति भत्वम्।

३२. हे अंगिरसः, ये भवन्तः पितरः पालनकर्तारो भूत्वा गोमयं गावः धेनवः, भूमयः, वाचः, इन्द्रियाणि, ज्ञानरश्मयो वा तन्मयं वसु धनम् उदाजन् प्रापयन्, परिवत्सरे समग्रसंवत्सराभ्यन्तरे संघर्ष-रताः सन्तः वलम् सत्कर्मन्यायादेरावरकं पापान्यायकदाचारा-दिरूपम् असुरम् ऋतेन सत्यस्यायुधेन अभिन्दन् अच्छिन्दन्, तादृ-शेभ्यो वो भवद्भ्यः दीर्घायुत्वं दीर्घजीवित्वम् अस्तु। हे सुमेधसः, यूयं मानवं प्रतिगृभ्णीत।

३३. ये भवन्तः ऋतेन सत्यप्रचारेण दिवि राष्ट्रगगने सूर्यम् आरोहयन्, सूर्ये गगनारूढे सति यादृशः प्रकाशो जायते तादृशं सत्यन्यायादेः प्रकाशं राष्ट्रे समजनयन्नित्यर्थः, मातरं पृथिवीं 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (अथर्व० १२.१.१२)' इत्याथर्वणोक्तेः राष्ट्रभूमिं वि

अप्रथयन् विशेषेण प्रख्यातकीर्तिकामकुर्वन् तादृशेभ्यो वः सुप्रजा-स्त्वम् सुप्रजावत्त्वम् अस्तु। हे सुमेधसः, मानवं प्रतिगृभ्णीत।

३४. अयं नाभा नाभानेदिष्ठः नाभा कान्त्यभावाभावः प्रचुरकान्तिर्मम नेदिष्ठा समीपतमा स्यादिति यः कामयते स नाभानेदिष्ठः, तस्यैव संक्षिप्तं रूपं नाभा इति। स वः युष्माकं गृहे समागतः सन् वल्गु चारु वचः वदति व्याहरति। हे देवपुत्राः देवस्य परमात्मनः सत्पुत्रा ऋषयः, तद् वचः यूयं शृणोतन शृणुत, ''तप्तनप्तनथनाश्च'' इति तनबादेशः। तेभ्यो वः युष्मभ्यं हे अङ्गिरसः, सुब्रह्मण्यम् शोभनं ब्रह्मवर्चसम् अस्तु। हे सुमेधसः, मानवं प्रतिगृभ्णीत।

वेदों में व्यत्यय का प्रश्न

भाषाविज्ञों ने प्रत्येक भाषा के स्वकीय व्याकरण-सम्बन्धी नियम निर्धारित किये हैं। व्याकरणों में इतर भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा का व्याकरण अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण कहा जा सकता है। संस्कृत भाषा के दो भाग हैं, एक वैदिक, दूसरा लौकिक। वैदिक व्याकरण के नियमों का प्रातिशाख्यों में विशद विवेचन हुआ है। लौकिक संस्कृत का व्याकरण मुख्यतः पाणिनि की अष्टाध्यायी है। पाणिनि मुनि ने संस्कृत भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करते हुए लौकिक तथा वैदिक भाषा पर तुलनात्मक विचार भी किया है और वैदिक भाषा में जहां लौकिक भाषा से अन्तर है उसका पर्यवेक्षण कर वैदिक सूत्रों द्वारा उसे स्पष्ट किया है। परन्तु पाणिनि का उद्देश्य वैदिक नियमों को विस्तार से तथा सूक्ष्मता से प्रदर्शित करना नहीं था, उन्होंने इंगितमात्र किया है। अत एव अनेक स्थलों में वे विस्तार में न जाकर 'बहुलं छन्दसि' आदि सूत्रों द्वारा लौकिक से वैदिक भाषा के अन्तर का निर्देशमात्र कर देते हैं।

वैदिक संस्कृत का लौकिक संस्कृत से भेद दर्शाते हुए पाणिनि ने एक सूत्र 'व्यत्ययो बहुलम्'[१] लिखा है। इसका अभिप्राय है कि वेद में बहुलतः[२] लौकिक नियमों का व्यत्यय अर्थात् व्यतिक्रम या उल्लंघन हो जाता है। पाणिनि के इस व्यत्यय के सिद्धान्त को लेकर वेदभाष्यकारों ने वेद के प्रति बहुत अन्याय किया है। उन्होंने यह मान लिया प्रतीत होता है कि व्यत्यय के इस नियम को जहां चाहे वहां प्रयुक्त कर इच्छानुसार योजना की जा सकती है। उन्होंने कहीं सर्वथा अनावश्यक होते हुए भी व्यत्यय कर लिया है, कहीं प्रथम व्यत्यय मान कर फिर दूसरा विकल्प दे दिया है, जिसमें बिना व्यत्यय के ही कार्यनिर्वाह हो जाता है, जो इस बात का ज्ञापक है कि वस्तुतः वहां व्यत्यय की आवश्यकता नहीं है। तीसरे वे स्थल हैं जहां पाणिनि के अनुसार व्यत्यय कहना ठीक हो सकता है। वस्तुतः 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र पाणिनि ने संक्षेप से कार्य सिद्ध करने की दृष्टि से रचा है। यदि पाणिनि लौकिक व्याकरण के समान वैदिक व्याकरण को भी सांगोपांग विस्तरशः प्रतिपादित करना चाहते तो प्रत्येक स्थल पर सूक्ष्मतः विचार कर नियम निर्धारित करते ।

पाणिनि ने लोक से भिन्न वेद के जो विशिष्ट नियम पाये गये उनमें से कुछ के लिये तो पृथक् सूत्र रच दिये, जो सूत्र सिद्धान्तकौमुदी की वैदिक प्रक्रिया में संकलित हैं तथा संख्या में २६० हैं, शेष नियमों के लिये उन्होंने 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र निर्मित कर दिया। वैदिक व्याकरण में व्यत्यय शब्द का प्रयोग हम लौकिक संस्कृत की दृष्टि से करते हैं। वेद में जहां लोक के किसी नियम के विपरीत प्रयोग पाया गया वहां व्यत्यय कह देते हैं। यदि वैदिक दृष्टिकोण से लौकिक संस्कृत पर विचार करें तो लोक में पद-पद पर व्यत्यय कहा जा सकता है। वस्तुतः व्यत्ययों के पीछे भी वैदिक भाषा का कोई नियम कार्य करता है, जिसका वैदिक व्याकरण को पूर्ण बनाने की दृष्टि से निरीक्षण किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र की व्याख्या में निम्न कारिका लिखी है–

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ।।

महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमञ्जरी, सिद्धान्तकौमुदी आदि में उद्धृत इसके उदाहरणों पर हम यहां विचार करते हैं।

१. सुप्-व्यत्यय। ''युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया[3], दक्षिणायामिति प्राप्ते (म० भा०)।'' अर्थात् 'दक्षिणायां धुरि' प्राप्त था, उसके स्थान पर ऋग्वेद में 'दक्षिणायाः धुरि' प्रयुक्त किया गया है। एवं यहां व्यत्यय से सप्तमी के स्थान पर षष्ठी हुई है। विशेषण-विशेष्य में इस प्रकार की अव्यवस्था चिन्त्य है। वस्तुतः यहां 'दक्षिणायाः' पद 'धुरि' का विशेषण है ही नहीं, अर्थ है 'दक्षिणा के धुरे में,' न कि 'दक्षिण धुरे में।' सायण ने भी विशेषण नहीं माना तथा अर्थ किया है-''माता..द्यौः दक्षिणायाः अभिमतपूरणसमर्थायाः पृथिव्याः धुरि निर्वहणे युक्ता आसीत् वर्षणाय समर्थाभूदित्यर्थः।'' एवं यहां व्यत्यय नहीं है। सुप्-व्यत्यय के जो इतर उदाहरण भाष्यकारों द्वारा वेदों में बताये जाते हैं उनका भी अध्ययन कर यथायोग्य परिणाम निकाले जा सकते हैं।

२. तिङ्-व्यत्यय। ''चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति,[4] तक्षन्तीति प्राप्ते (म० भा०)।'' यहां 'ये तक्षन्ति' के स्थान पर 'ये तक्षति' प्रयुक्त हुआ है। अतः महाभाष्यकार के अनुसार तिङ्व्यत्यय है। ऐसी रचना सचमुच विचारणीय कोटि में आती है। यदि लोक में कोई ऐसा प्रयोग करे तो वह हास्यास्पद समझा जाएगा। तो फिर वेद ऐसा प्रयोग क्यों करता है? प्रतीत यह होता है

कि वेद में तक्ष धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'तक्षति' तथा 'तक्षन्ति' दोनों रूप बनते हैं। साधनप्रकार यह होगा कि वेद में तक्ष धातु की विकल्प से अभ्यस्त संज्ञा मानी जाए। अभ्यस्त संज्ञा होने पर 'अदभ्यस्तात्' से झ् को अदादेश होकर 'तक्षति' रूप निष्पन्न होगा, अन्यत्र 'झोऽन्तः' से झ को अन्तादेश होकर 'तक्षन्ति'[८] रूप। तक्ष धातु की वैकल्पिक अभ्यस्त संज्ञा में प्रमाण है वेद में लङ् लकार में अतक्षन् तथा अतक्षुः दोनों[९] रूपों का पाया जाना। 'अतक्षुः' रूप अभ्यस्त संज्ञा होने पर ही बन सकता है, क्योंकि उसी अवस्था में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से झि को जुसादेश होना संभव है। तक्ष धातु की अभ्यस्त संज्ञा करने का एक उपाय यह हो सकता है कि वैदिक तक्ष धातु केवल भ्वादिगण में ही नहीं, अपितु अदादिगण में भी मानी जाए तथा 'जक्षित्यादयः षट्' के प्रकरण में पठित कर इसे अभ्यस्त मान कर लट् के झि पर होने पर जक्ष धातु के 'जक्षति' के समान इसका 'तक्षति' रूप निष्पन्न किया जाए[९]। अथवा अदादिगण में न मानें तो केवल भ्वादिगण में रखते हुए भी विशेष सूत्र बनाकर इसकी वैकल्पिक अभ्यस्त संज्ञा की जा सकती है, जैसे इसका 'तक्ष्णोति' रूप भी प्रचलित देख कर पाणिनि ने भ्वादिगण में ही रखते हुए श्नु करने के लिए 'तनूकरणे तक्षः' विशेष सूत्र निर्मित किया है।

३. उपग्रह-व्यत्यय। इसका अभिप्राय है परस्मैपद तथा आत्मनेपद का व्यत्यय। ''उपग्रहः परस्मैपदात्मनेपदे। ब्रह्मचारिणमिच्छते[६], इच्छतीति प्राप्ते। प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति[९], युध्यते इति प्राप्ते (सि० कौ०)।'' वस्तुतः यहां यह स्वीकार करना चाहिए कि यद्यपि लोक में इष धातु परस्मैपदी तथा युध धातु आत्मनेपदी है, तो भी वेद में ये उभयपदी हैं[१०]। लोक में जो धातु परस्मैपदी है वह वेद में आत्मनेपदी या उभयपदी और लोक में जो आत्मननेपदी हैं वह वेद में परस्मैपदी या उभयपदी हो सकती है। वेदों में अन्य ऐसी कौन-कौन सी धातुएं हैं ,इसका अनुसंधान होना आवश्यक है।

४. लिंग-व्यत्यय। ''मधोस्तृप्ता इवासते[११], मधुन इति प्राप्ते (सि०-कौ०)।'' यद्यपि लोक में अमृतक्षीरादिवाची मधु शब्द नित्य नपुंसकलिंग[१२] है, किन्तु वेद में नपुंसकलिंग तथा पुंलिंग दोनों में प्रयुक्त होता है[१३]। अन्य कौन से शब्द ऐसे हैं जिनका लोक तथा वेद में इस प्रकार का लिंगभेद है यह अनुसंधान का विषय है।

५. पुरुष-व्यत्यय। ''अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः[१४], वियूयादिति प्राप्ते (म० भा०)।'' 'वियूयाः' यह वि पूर्वक 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' धातु के आशीर्लिङ्

का मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। 'त्वं वियूयाः' हो सकता है, पर 'स वियूयाः' नहीं, इसके स्थान पर 'स वियूयात्' होना चाहिये। इसके समकक्ष अन्य भी अनेक प्रयोग वेद में पुरुष-व्यत्यय के उपलब्ध होते हैं। यथा-

क. भूयात् के स्थान पर भूयाः, **इयं धीर्भूया अवसानमेषाम्।** ऋ०१.१८५.८ ।

ख. श्रूयात् के स्थान पर श्रूयाः, **श्रूया अग्निश्चित्रभानुर्हवं मे।** ऋ०२.१०.२

ग. अव्यात् के स्थान पर अव्याः, **नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।** ऋ०२.३८.१० ।

घ. वृज्यात् के स्थान पर वृज्याः, **परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः।** ऋ०६.२८.७

इस प्रकार के पुरुष-व्यत्यय के सब प्रयोगों को एकत्र कर उनके आधार से किसी नियम पर पहुंचा जा सकता है। जैसे यह संभव है कि वेद में प्रथम पुरुष के एकवचन में 'वियूयात्' और 'वियूयाः' दोनों रूप बनते हों। यदि ऐसा है तो फिर सूक्ष्म निरीक्षण से यह नियम भी आविष्कृत करना होगा कि किन-किन या किस प्रकार की धातुओं में तथा किन लकारों में ऐसा होता है। यथा, उपर्युक्त उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि आशीर्लिङ् में ऐसा होता है।

६. **काल-व्यत्यय।** "श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन [५], आधाता यष्टेत्येवं प्राप्ते (म० भा०)।" आधास्यमान तथा यक्ष्यमाण शब्द क्रमशः धा तथा यज् धातु से लृट् को शानच् करके संपन्न हुए हैं। परन्तु लृट् तो शुद्ध भविष्यत् काल में आता है, यहां तो अनद्यतन भविष्य है, जिसमें 'अनद्यतने लुट्' के अनुसार लुट् का प्रयोग होकर आधाता तथा यष्टा प्रयोग होने उचित हैं। ऐसा महाभाष्यकार का आशय है। परन्तु लृट् के प्रयोग में अद्यतन-अनद्यतन के भेद का नियम लौकिक संस्कृत में भी लुप्तप्राय हो गया है, दोनों में लृट् प्रयुक्त हो जाता है। वैदिक साहित्य में भी ऐसा ही रहा होगा।

यद्यपि पतंजलि ने कालव्यत्यय में यह लृट् का उदाहरण दिया है, परन्तु वस्तुतः वेदों का सायणभाष्य काल-व्यत्यय से भरा पड़ा है। सायण के सम्मुख लकारार्थ का कोई नियम ही प्रतीत नहीं होता। लुङ्,लङ्, लिट् के संबन्ध में तो पाणिनि ने स्वयं 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' [६] सूत्र निर्मित कर यह छूट दे दी है कि भूतवाची ये लकार वेद में सभी कालों में प्रयुक्त हो सकते हैं, पर सायण

इतर लकारों को भी सभी कालों में प्रयुक्त मान कर अर्थ करते हैं[१७], किन्तु वस्तुतः इस कालव्यत्यय का प्रयोग वेद में बहुत विवेकपूर्वक किया जाना चाहिए। शब्दार्थ में जहां तक संभव हो जो लकार है उसी का अर्थ गृहीत किया जाना उचित है। लुङ्, लङ् तथा लिट् को भी भूत से अतिरिक्त में वहीं मानना चाहिये जहां वैसा किया जाना अनिवार्य प्रतीत होता हो। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो सायणभाष्य के अधिकांश कालव्यत्यय व्यत्यय नहीं रहेंगे।

७. **हल्-व्यत्यय।** ''तमसो गा अदुक्षत्[१८], अधुक्षदिति प्राप्ते (सि०-कौ०)।'' 'दुह प्रपूरणे' धातु के लुङ् में 'एकाचो बशो भष्०' से बश् को भष् (द् को ध्) हो जाता है। वेद में यह भष्भाव वैकल्पिक है, क्योंकि अदुक्षत् तथा अधुक्षत्[१९] दोनों रूप प्राप्त होते हैं। वेद की इस वैकल्पिकता के लिए पाणिनि सूत्र नहीं रच सके। अतः लौकिक दृष्टि से विचार करने पर यह व्यत्यय या नियम का व्यतिक्रम कहाता है। परन्तु यथार्थ रूप में कहा जाए तो वैदिक नियम ही भष्भाव के विकल्प का है। इसी प्रकार वेद में जो भी हल्-व्यत्यय के उदाहरण मिलें उनके आधार पर नियम का अनुसंधान अपेक्षित है।

८. **अच्-व्यत्यय।** ''मित्र वयं च सूरयः[२०], मित्रा वयमितिप्राप्ते (सि०-कौ०)।'' संपूर्ण मंत्र है-''आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः। व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।'' मित्र और वरुण इन दो देवों के लिये अकेला द्विवचनान्त मित्र शब्द प्रयुक्त किया गया है। ऐसी पद्धति वेद में अन्यत्र भी है। तदनुसार 'मित्रा' होना चाहिए। ''हे ईयचक्षसा व्याप्तदर्शनौ मित्रा मित्रावरुणौ (सायण)'', ऐसी योजना होगी। 'ईचयक्षसौ मित्रौ' का वेद में औ का आ होकर 'ईयचक्षसा मित्रा' हो जाता है। परन्तु मूल मंत्र में 'मित्रा' नहीं, प्रत्युत 'मित्र' पाठ है। भट्टोजि दीक्षित का कथन है कि यहां दीर्घ को ह्रस्व व्यत्यय से हो गया है, एवं अच्-व्यत्यय है। वस्तुतः यहां सुब्लुक् का नियम चरितार्थ हो सकता है, जिसे पाणिनि ने 'सुपां सुलुक्०''[२१]आदि सूत्र में दर्शाया है। 'मित्र औ' इस अवस्था में औ का लुक् होने से 'मित्र' अवशिष्ट रहेगा, जैसे 'परमे व्योमन्' में है। यह नियम 'देव आदित्याः[२२]' 'यं त्रासाथे वरुण इडास्वन्तः[२३]' आदि में भी पाया जाता है। परन्तु सूक्ष्म अनुसंधान से यह देखने योग्य है कि वेद में कब ऐसा होता है।

न्यास एवं पदमंजरी में अच्-व्यत्यय का उदाहरण 'उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिणयः'[२४] दिया है। यहां दीर्घ ईकारान्त 'पत्नी' तथा 'गर्भिणी' को व्यत्यय

से ह्रस्वान्त करके 'पत्न्यःगर्भिण्यः' के स्थान पर 'पत्नयः गर्भिणयः, प्रयुक्त हुआ है। यदि अनुसंधान से यह ज्ञात हो कि वैदिक साहित्य में दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों में भी जस् परे होने पर गुण हो जाता है तो 'जसि च'[२५] सूत्र पर 'बहुलं छन्दसि दीर्घस्यापि' वार्तिक का आविष्कार करना उचित होगा।

९. **स्वर-व्यत्यय।** ''स्वरव्यत्यय के उदाहरण पदमंजरीकार ने वे ही माने हैं 'जो परादिश्छन्दसि बहुलम्'[२६] सूत्र के हैं। अञ्जिसक्थः, लोमशसक्थः, ऋजुबाहुः आदि में बहुव्रीहि होने के कारण पूर्वपदप्रकृतिस्वर[२७] प्राप्त है। परन्तु वेद में लोक के विरुद्ध व्यत्यय से परादि उदात्त होता है। इसी प्रकार वाक्पतिः, चित्पतिः इस षष्ठी-तत्पुरुष में समासस्वर अन्तोदात्त[२८] प्राप्त था, किन्तु व्यत्यय से परादि उदात्त हुआ। न्यासकार ने 'अश्वावतीः' आदि उदाहरण दिये हैं। ऋ०१०.९७.७ में 'अश्वावतीम्' शब्द 'अन्तोऽवत्याः'[२९] सूत्र के अनुसार अन्तोदात्त है। तदनुसार ऋ० १.४८.२ आदि में 'अश्वावतीः' भी अन्तोदात्त होना चाहिये था। पर व्यत्यय से अश्व शब्द का प्रकृतिस्वर आद्यु-दात्त (क्वन्प्रत्ययान्त होने से नित्स्वर[३०]) होता है। सिद्धान्तकौमुदी की जयकृष्ण-विरचित सुबोधिनी टीका में स्वरव्यत्यय का 'गवामिव श्रियसे'[३१] उदाहरण दिया है। श्रियसे 'श्रिञ सेवायाम्' धातु से तुमर्थ में कसेन् प्रत्यय होने से नित्स्वर आद्युदात्त प्राप्त था, किन्तु व्यत्यय से मध्योदात्तता सम्पन्न होती है

ऋग्वेद के सायण-भाष्य में स्वर-व्यत्यय के अनेक उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। सायण ने क्वचित् प्रथम व्यत्यय स्वीकृत कर पुनः विकल्परूप में स्वयं ऐसी व्याख्या कर दी है, जिसमें व्यत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। यथा, ऋ० १.११३.१ के भाष्य में आद्युदात्त 'विभ्वा' में 'विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्' से डु प्रत्यय मान कर व्यत्यय से आद्युदात्तता स्वीकार की है, किन्तु फिर वि पूर्वक भू धातु से औणादिक डुन् प्रत्यय करके नित् होने से आद्युदात्तता बिना व्यत्यय के ही स्वतः निष्पन्न हो जाती है, ऐसा कहा है। स्वर-व्यत्यय में जहां ऐसे समाधान संभव हैं वे किये जा सकते हैं। जहां कोई समाधान प्राप्त न होता हो वहां स्वरशास्त्र में प्रतिपादित नियमों के अतिरिक्त इतर वैदिक नियम परिकल्पित करना उपयुक्त होगा।

१०. **कर्तृ-व्यत्यय।** न्यास तथा पदमंजरी में कर्तृ शब्द को कारकमात्रपरक मान कर कर्तृ-व्यत्यय का अभिप्राय कारक-व्यत्यय या विभक्ति-व्यत्यय लिया है। द्वितीया, चतुर्थी आदि के अर्थ में षष्ठी, षष्ठी के अर्थ में द्वितीया,

चतुर्थी आदि व्यत्यय वेद में पर्याप्त होते हैं। कुछ के लिए तो पाणिनि ने सूत्र भी रच दिये हैं। यथा, 'तृतीया च होश्छन्दसि,' द्वितीया ब्राह्मणे,' 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि,' 'यजेश्च करणे'[३२]। कर्म में षष्ठी वेद में प्रायः आ जाती है, यथा, 'न सो अस्य वेद'[३३]। न्यासकार ने 'आसादयद्भिरुभयोर्वेदाः'[३४] उदाहरण दिया है, जहां उनके कथनानुसार सम्प्रदान के स्थान पर करण कारक हुआ है, अर्थात् 'आसादयद्भ्यः' के स्थान पर 'आसादयद्भिः।' परन्तु इन कारक-व्यत्ययों में भी कोई नियम कार्य करता है। बिना नियम के ही इच्छानुसार जहां चाहे जो व्यत्यय नहीं माना जा सकता। कारक-व्यत्ययों के स्थलों को एकत्र कर उनके आधार से नियमों का अनुसंधान अभीष्ट है।

सिद्धान्तकौमुदी में कर्तृ-व्यत्यय से कारकवाची कृत्-तद्धितों का व्यत्यय अभिप्रेत मान कर चतुर्थ्यन्त 'अन्नादाय'[३५], उदाहरण दिया है। 'अन्नम् अत्तीति अन्नादः', 'कर्मण्यण्' से अण् प्राप्त था, किन्तु व्यत्यय से अच् हुआ। यद्यपि रूप अण् या अच् दोनों में समान रहता है, तो भी अवग्रह में अन्तर हो जाता है, अण् करने पर णित्वाद् वृद्धि होकर 'अन्नऽआदाय,' अच् करने पर 'अन्नऽअदाय।' उपलब्ध पदपाठ में 'अन्नऽअदाय' ही अवग्रह मिलता है, अतः पदपाठकार की दृष्टि से अच् ही हुआ है। पर प्रश्न यह है कि क्यों न पदपाठ को अनित्य मान कर 'अन्नऽआदाय' ऐसा अवग्रह किया जाए? पदपाठ के संबन्ध में मतभेद आचार्यों में रहा है'[३६]।

प्रौढ मनोरमा के अनुसार कर्तृ-व्यत्यय में कारकवाचित्व का आग्रह नहीं है, कृत्-तद्धित में व्यत्यय हो सकता है। यथा, 'किमः संख्यापरिमाणे डति च'[३७] सूत्रानुसार किम् से डति प्रत्यय होकर 'कति' निष्पन्न होता है, वह डति प्रत्यय व्यत्यय द्वारा यत् से भी हो जाता है, यथा 'त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः'[३८], 'विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन'[३९] आदि प्रयोग संभव होते हैं।

११. यङ्-व्यत्यय। यङ् यह प्रत्याहार है। 'सार्वधातुके यक्'[४०] के य से प्रारम्भ कर 'लिङ्याशिष्यङ्'[४१] के ङ् पर्यन्त समस्त प्रत्यय इसमें आ जाते हैं। ये प्रत्यय शप्, श्यन्, श्नु आदि विकरण हैं। इनका व्यत्यय यङ्-व्यत्यय से अभिप्रेत है। यथा, वेद में भिद् धातु से श्नम् तथा शप् दोनों विकरण किये हुए मिलते हैं। श्नम् विकरण के भिनत्सि,[४२] भिनद्मि[४३], भिन्दन्ति[४४] आदि रूप मिलते हैं तथा शब्विकरण का भेदति[४५] रूप प्राप्त होता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि लौकिक रुधादिगणी भिद् धातु वेद में भ्वादिगणी भी है। लौकिक दृष्टि से वेद के 'भेदति' रूप में व्यत्यय कहा जाएगा, किन्तु वैदिकव्याकरणकार इसे व्यत्यय नहीं कहेगा। 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु लोक में

तुदादिगणी है तथा म्रियते रूप बनता है, किन्तु वेद में तुदादिगण का म्रियसे[४६] तथा भ्वादिगण के मरते[४७] मरामहे[४८], मरन्ति[४९] आदि रूप भी मिलते हैं। अतः वैदिक दृष्टि से यह धातु तुदादिगणी तथा भ्वादिगणी दोनों है। यह अनुसंधान का विषय है कि वेद में ऐसी कौन-कौन सी धातुएं है जो लोक से भिन्न एक से अधिक गणों की हैं तथा ऐसी कौन सी धातुएं हैं जो लोक में एक से अधिक गणों में होने पर भी वेद में किसी एक ही गण में प्रयुक्त हुई हैं।

क्वचित् वेद में दो या तीन विकरण इकट्ठे भी हो जाते हैं। यथा, लोक में 'णीञ् प्रापणे' धातु के लोट् में शब्विकरण करने पर 'नयतु' रूप बनता है, किन्तु वेद में शप् तथा सिप् दो विकरण होकर 'नेषतु'[५०] रूप भी निष्पन्न होता है। इसीप्रकार 'तॄ प्लवनसंतरणयोः' धातु से विधिलिङ् में शब् विकरण होने पर 'तरेम' रूप होता है, परन्तु वेद में शप्, सिप् तथा उ तीन विकरण देकर 'तरुषेम'[५१] प्रयोग भी बनता है।

उपर्युक्त दिशा का अवलम्बन कर भाष्यकारों द्वारा स्वीकृत वेद के समस्त व्यत्ययों का संकलन कर उनकी परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि उनमें से अनेक व्यत्यय वस्तुतः व्यत्यय नहीं हैं, उन्हें व्यत्यय अंगीकार करने में भाष्यकारों से त्रुटि हुई है। और जो वस्तुतः व्यत्यय-कोटि में आते भी हैं वे भी व्यत्यय इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि लौकिक संस्कृत में वैसे प्रयोग नहीं मिलते। वैदिक व्याकरण की दृष्टि से विचार करें तो उनमें भी कोई नियम कार्य करता है। अतः वैदिक व्यत्ययों पर विचार कर उनके आधार से परिणाम निकाले जाएं तो वैदिक व्याकरण को पूर्णता की ओर ले जाने में यह एक अच्छा चरणनिक्षेप होगा।

पाद-टिप्पणियां

१. पा० ३.१.८५।
२. क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
   विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥
३. ऋ० १.१६४.९।
४. ऋ० १.१६२.६, यजु० २५.२९। 'तक्षति' रूप चारों वेदों में केवल इन्हीं दो स्थानों में उपलब्ध होता है।
५. द्रष्टव्यः 'त आ तक्षन्तु ऋभवो रयिं नः' ऋ० ४.३४.८।

६. अतक्षन्, ऋ० २.३१.७;७.७.६;१०.६१.७, तक्षुः (अतक्षुः) ऋ० २.१९.८। यहां 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' पा० ६.४.७५ के नियमानुसार अट् का आगम नहीं हुआ है। सायण ने यहां 'तक्षुः ततक्षुः चक्रुः' ऐसा लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि वह तक्षुः' को लिट् का रूप मानता है।

७. द्रष्टव्यः युधिष्ठिर मीमांसक, 'वैदिक स्वर-मीमांसा', १९५८, पृ०९९। परन्तु अदादिगण में मानने से यह कठिनाई है कि तिप् में 'तक्षति' रूप कैसे सम्पन्न होगा, और 'तक्षिति' रूप वेद में मिलता नहीं, जो रुदादि मान कर 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' से इट् कर लिया जाए, जैसे 'रोदिति', 'जक्षिति' आदि में होता है।

८. अथर्व० ११.५.१७।

९. पता अन्वेषणीय।

१०. 'इष' परस्मै० इच्छति, ऋ०१.८०.६; इच्छामि, ऋ०३.३८.१। आत्मने० इच्छसे, ऋ० ८.२१.१३; इच्छस्व ऋ०१०.१०.१०। 'युध' परस्मै० युध्यतः ऋ० १.५२.५, युध्यन् ऋ०१.६३.७, युध्यत ऋ० ८.९६.१४ । आत्मने० युध्यते ऋ०४.३०.४, युध्यन्ते ऋ० १०.१५४.३।

११. पता अन्वेषणीय।

१२. यद्यपि मकरन्दमद्यमाक्षिकवाचकस्यार्द्धर्चादित्वात् पुंनपुंसकत्वं, तथाप्यमृतक्षीरादिवाचिनो नित्यनपुंसकत्वमिति भावः (नागेशः, बृहच्छब्देन्दु०)।

१३. नपुंसक लिङ्गः मधु ऋ०१.१४.१०, मधूनि ऋ०१.१७७.३, मधुने ऋ०४.४५.३, मधुनः ऋ०३.१.८। पुंलिङ्गः मधोः ऋ०१.४४.८ आदि, मधौ ऋ०७.३२.२ आदि।

१४. ऋ० ७.१०४.१५।

१५. पता अन्वेषणीय।

१६. पा० ३.४.६।

१७. यथा, ऋ० ४.१६.१० आयाहि, आगाः, लुङर्थे लोट्। ऋ०५.१७.१ ईडीत स्तौति। ऋ० ५.५६.२ जग्मुः गच्छन्तु। ऋ० १०.१२.१ भवतः, लोडर्थे लट्, भवताम्।

१८. ऋ० १.३३.१०।

१९. द्रष्टव्यः ऋ० २.३६.१; ८.३८.३; ९.२.३; १०.१४९.१।

२०. ऋ०५.६६.६।

२१. पा० ७.१.३९।
२२. ऋ०५.६७.१, देव=देवाः।
२३. ऋ० ५.६२.६, वरुण=वरुणौ।
२४. पता अन्वेषणीय।
२५. पा० ७.३.१०९, जसि परतो ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति (काशिका)
२६. पा० ६.२.१९९।
२७. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्, पा० ६.२.१।
२८. समासस्य, पा० ६.१.२२३, समासस्यान्त उदात्तो भवति (काशिका)।
२९. पा० ६.१.२२०, अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायामन्त उदात्तो भवति (काशिका)।
३०. ञ्नित्यादिर्नित्यम्, पा०६.१.१९७।
३१. ऋ०५.५९.३।
३२. क्रमशः पा०२.३.३, ६०,६२,६३।
३३. ऋ०१.१६४.३२।
३४. पता अन्वेषणीय।
३५. अथर्व० १९.५५.५।
३६. द्रष्टव्यः निरुक्त ६.२८, जहां यास्क ऋ० १०.२९.१ 'वने न वायो न्यधायि चाकन्' में 'वा यः' के पदविभाग के संबंध में पदकार शाकल्य से अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं।
३७. पा० ५.२.४१।
३८. ऋ०१०.१५.१३।
३९. ऋ०१०.६३.६।
४०. पा० ३.१.६७।
४१. पा० ३.१.८६।
४२. ऋ०८.६०.१६।
४३. ऋ०१.१९१.१५।
४४. ऋ०५.५२.९।
४५. ऋ०५.८६.१; ८.४०.१०,११।
४६. ऋ०८.५५.३।
४७. ऋ०१०.८६.११।
४८. ऋ०१.९१.६।

४९. ऋ०१.१९१.१२।
५०. इन्द्रो वस्तेन नेषतु (काशिका तथा सि० कौ० में उद्घृत)। पता अन्वेषणीय।
५१. ऋ० ७.४८.२। इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्।

ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थविचार

वैयाकरणों के अनुसार वृषभ शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से उणादि अभच्[१] प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसमें प्रत्यय के किद्वत् होने से गुणाभाव तथा चित् होने से अन्तोदात्त स्वर रहते हैं। उक्षन् शब्द सेचनार्थक उक्ष धातु से उणादि कनिन्[२] प्रत्ययान्त निपातित होता है। लोक में इनका बैल अर्थ तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त कोई भी पुंपशु, युवा पुरुष, श्रेष्ठ, ओषधिविशेष आदि अर्थों में भी ये प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद में वृषभ शब्द विभिन्न विभक्तियों में कुल मिलाकर १८३ वार तथा उक्षन् शब्द ३२ वार प्रयुक्त हुआ है।

बैल

बैल अर्थ में ये दोनों शब्द ऋग्वेद में आते तो हैं, अधिक नहीं। अग्नि को कहा गया है कि तुम्हारा शब्द वृषभ के समान है।[३] इन्द्र को वृषभ के समान भीम[४] कहा है। उषा का आगमन वृषभ के शब्द से जाना जाता है[५]। अग्नि अपनी ज्वालाओं को ऐसे ही प्रकम्पित करता है, जैसे वृषभ सींगों को[६]। इन्द्र तीक्ष्ण शृंगों वाले वृषभ के समान गर्जना करता है[७]। सिन्धु वृषभ के समान शब्द करती हुई बहती है[८]। वृषभ (बैल) तथा द्रुघण (लकड़ी की गदा) की सहायता से शत्रुसेनाओं को जीतने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है[९]। प्लायोगि आसंग की दानस्तुति में कहा है कि वह दश सहस्र उक्षा दान में देता है[१०]। इसीप्रकार प्रस्कण्व द्वारा दान में दिये गये सौ श्वेत उक्षाओं के विषय में वर्णन है कि वे ऐसे चमकते हैं, जैसे आकाश में तारे[११]। इन सब प्रसंगों में वृषभ तथा उक्षा शब्दों का स्थूल अर्थ बैल ही है।

अग्नि

ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को वृषभ कहा गया है। कुछ स्थलों में उसे उक्षा नाम से भी स्मरण किया गया है[१२]। वृषभ या उक्षन् शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण-रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ है वर्षक

अग्नि। कहीं-कहीं अग्नि को केवल 'वृषभ' न कह कर 'चर्षणीनां वृषभः'[१३], 'स्तियानां वृषभः'[१४] या 'क्षितीनां वृषभः'[१५] कहा गया है, अर्थात् मनुष्यों पर अभिमत फलादि की वर्षा करने वाला, ओलों की वर्षा करने वाला तथा भूमियों या प्रजाओं पर जल या सुखादि की वृष्टि करने वाला। अग्नि को सहस्र सींगों वाला वृषभ[१६] तथा बहुत सी ग्रीवाओं वाला वृषभ[१७] भी कहा गया है। इसे घृतपृष्ठ उक्षा[१८] के रूप में भी चित्रित किया गया है।

यह वृषभ या उक्षा अग्नि पार्थिव यज्ञाग्नि, अंतरिक्ष स्थानीय वैद्युताग्नि तथा द्युस्थानीय सूर्याग्नि तीनों के रूप में व्याख्यात किया गया है। परमात्माग्नि, जीवात्माग्नि, प्राणाग्नि, संकल्पाग्नि आदि रूपों में भी इसकी व्याख्या होती हैं। वृषभ अग्नि के चित्रण के निम्न मंत्र द्रष्टव्य हैं।

यज्ञाग्नि

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनि र्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्।।

ऋ०२.३.११

"इस यज्ञाग्नि में मैं घृत का सिंचन करता हूं। घृत इसका कारण है, उत्पन्न होकर यह घृत के ही आश्रय से रहता है, घृत ही इसका धाम है। हे वृषभ, तू हमारी प्रत्येक हवि के प्रति देवों का आवाहन कर, हमें आनन्दित कर, स्वाहापूर्वक दिये गये हमारे हव्य का वहन कर।"

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे।।

ऋ०५.२८.४

"हे यज्ञाग्नि, समिद्ध हुए तुझ तेजस्वी की श्री की मैं स्तुति करता हूं। तू वृषभ है, तू यशस्वी है, तू यज्ञों में प्रदीप्त किया जाता है।"

वैद्युताग्नि या सूर्याग्नि

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्।।

ऋ०१.५९.६

"वृषभ अग्नि के महत्त्व का मैं वर्णन करता हूं, जिस वृत्रहन्ता का मानवगण सेवन करते हैं। वह वैश्वानर अग्नि दस्यु को मार देता है,

जलों को प्रकम्पित कर देता है तथा मेघरूप शम्बरासुर का भेदन कर देता है।''

अग्निसूक्त के निम्न मंत्र में एक महान् उक्षा का वर्णन किया गया है–

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो निदधाति सानौ रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य।।

ऋ०१.१४६.२

''एक महान् उक्षा (विशाल बैल) ने इन द्यावापृथिवी दोनों को अपने ऊपर उठाया हुआ है, तो भी वह जीर्ण नहीं होता तथा दर्शनीय बना हुआ खड़ा रहता है। वह पृथिवी के ऊर्ध्वप्रदेश (वेदि) में अपने पैरों को रखे है तथा इसकी लाल-लाल जिह्वाएं ऊधस् (अंतरिक्ष) को चाट रही हैं।'' अग्निसूक्त में पठित होने से यह महान् उक्षा अग्नि ही है।

इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र के लिए लगभग ६५ बार वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। उक्षा साक्षात् रूप से इन्द्र के लिए नहीं आया, यद्यपि एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ इन्द्र किया है[१९]। वृषभ कहीं इन्द्र का विशेषण बन कर आया है तथा कहीं स्वतंत्र रूप से इन्द्र के पर्यायवाची के रूप में। कहीं-कहीं इन्द्र को 'जनानां वृषभः'[२०] 'सतां वृषभः'[२१], 'मतीनां वृषभः'[२२] 'कृष्टीनां वृषभः'[२३], 'क्षितीनां वृषभः'[२४] तथा 'चर्षणीनां वृषभः'[२५] भी कहा गया है। जल, सुख, मनोवांछित फल आदि का वर्षक होने से तथा पशुओं में बैल के समान देवों में श्रेष्ठ होने से इन्द्र का वृषभ नाम है। इन्द्र स्वयं भी वृषभ है तथा वृषम (बैल) के समान भीम भी है।[२६] इन्द्र-रूप वृषभ ने भूमि, अंतरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को धारण किया हुआ है और यह अंतरिक्ष से जलों को भी बरसाता है–

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं महीमपारां सदने ससत्थ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षम् अर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः।।

ऋ० ३.३०.९

भूमि के बैल के सींग पर टिके होने का पौराणिक विचार यहीं से लिया गया प्रतीत होता है।[२७] अदिति द्वारा इन्द्र के जन्म का वृत्त वृषभ की पहेली के रूप में ऋग्वेद में इस रूप में वर्णित हुआ है–

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम्।
अरीढं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम्।।

ऋ० ४.१८.१०

अर्थात् ''सकृत्प्रसूता गौ (गृष्टि) ने एक बैल को जन्म दिया है, जो बल में प्रवृद्ध है, अपराजेय है, मोटा-ताजा है, शत्रुओं से अनभिभूत है, तो भी वत्स है।'' यह बूढ़ा बैल इन्द्र ही है।

इन्द्र के संबन्ध में एक विचित्र बात यह है कि वह केवल स्वयं ही वृषभ, वृषा या वृष नहीं है, अपितु उसका वज्र भी वृषा है, उसका रथ भी वृषा है. उसके वाहन हरि भी वृषा या वृषभ हैं, उसके आयुध भी वृषभ हैं, उसका पेय सोमरस भी वृषभ है और सोमरस के पान से चढ़ने वाला मद भी वृषा या वृषभ है–

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिषे इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि।।

ऋ० २.१६.६

साथ ही इन्द्र का सोमपान का साथी अग्नि भी वृषभ है,[२८] जिनसे सोमरस पीसा जाता है वे सिल-बट्टे (ग्रावा) भी वृषभ हैं, सोमरस को पीसने वाले अध्वर्यु भी वृषभ हैं, इन्द्र का अन्न भी वृषभ है,[२९] इन्द्र के घोड़ों की रासें (रश्मियां) भी वृषभ हैं,[३०] और इन्द्र का बल भी वृषभ हं।[३१]

सोम

ऋग्वेद में ११ वार स्पष्ट रूप से सोम को वृषभ कहा गया है। वृषभ सोम का रेतस् (रस) पाकर वत्स की मातृभूत धीतियां शब्दायमान हो जाती हैं।[३२] जैसे भयंकर वृषभ बल दिखाने की इच्छा से अपने शृंगों को तीक्ष्ण करता हुआ दहाड़ता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ भी अपने डंठल-रूपी हरे-हरे सींगों को सिल-बट्टों पर तीक्ष्ण करता हुआ शब्द करता है।[३३] जैसे वृषभ गोयूथ में जाता है, वैसे ही सोमरूप वृषभ 'आपः' के समीप जाता है।[३४] दस अंगुलियां ग्रावाओं द्वारा वृषभ सोम को जलों में दुहती हैं।[३५] यह सोम सहस्र धाराओं से बहने वाला वृषभ है, जो ऋतजात है–

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत्।।

ऋ० ९.१०८.८

सोम उक्षा भी है। ऋग्वेद में ५ वार सोम-सूक्तों में उसके लिए उक्षा शब्द आया है। उक्षा सोम जब निचोड़े जाने पर शब्द करता है, तब धेनुएँ (प्रीणयित्री स्तुतियाँ या आपः) उसके समीप जाती हैं।[३६] इस पर्वतनिवासी (गिरिष्ठा) उक्षा को बुद्धिमान् लोग ऊर्ध्व स्थानों पर दुहते हैं।[३७] यह सोम सिंधु की उत्ताल तरंगों में लहराने वाला उक्षा पशु है–

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते।।

ऋ० ९.८६.४३

पर्जन्य

ऋग्वेद में तीन स्थलों में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[३८] ये तीनों स्थल पर्जन्य-सूक्तों के ही हैं। एक अन्य मंत्र में वात के साथ युगलरूप में पर्जन्य को वृषभ कहा गया है।[३९] सायण ने कुछ अन्य स्थलों पर भी, जिनमें देवता यद्यपि पर्जन्य नहीं हैं, वृषभ का अर्थ मेघ या पर्जन्य किया है।[४०] एक स्थल में वह उक्षा का अर्थ भी पर्जन्य करता है।[४१] पर्जन्य वर्षा करने के कारण या ओषधि-रूप गौओं में रेतस् का आधान करने के कारण वृषभ कहलाता है। इस पर्जन्य-रूप वृषभ का आश्रय होने के कारण ही वेद में अंतरिक्ष को 'वृषभस्य नीगः' कहा गया है।[४२] पर्जन्य वृषभ का निम्न मंत्र द्रष्टव्य है–

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्।।

ऋ० ५.८३.१

वायु और आदित्य

एक मंत्र में सरस्वान् को वृषभ कहा गया है।[४३] वहां सरस्वान् का अर्थ सायण ने जलकणों से युक्त वायु किया है। वात तो स्पष्ट रूप से ही वृषभ नाम से कथित हुआ है।[४४] एक स्थल पर वायु के अश्वों को उक्षा कहा गया है, जो वायु को द्यावापृथिवी के मध्य में संचार कराते हैं तथा जिनकी गति मरुभूमि में भी अपहत नहीं होती।[४५] ऋग्वेद के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है,[४६] जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथ्वी लोक का वृषभ अग्नि, अंतरिक्ष का वृषभ वायु तथा द्युलोक का वृषभ आदित्य है। एक प्रकरण में एक ऐसे सहस्रशृंग वृषभ का वर्णन है, जो समुद्र में

से उदित हुआ है।[४७] व्याख्याकारों के अनुसार यह आदित्य ही है। उक्षा नाम से सूर्य का निम्न चित्रण बड़ा ही रोचक है–

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ।।

ऋ० ५.४७.३

"सूर्य-रूप उक्षा है, जो तेज का समुद्र है, आरोचमान है, रश्मि-रूप सुन्दर पंखों वाला है, पूर्वदिग्वर्ती पिता आकाश के घर में प्रविष्ट हुआ है, मध्याह्न में आकाश के बीचोबीच स्थित हो जाता है। उसका नाम पृश्नि और अश्मा भी है, वह चङ्क्रमण करता रहता है और दिन के दोनों प्रान्तों उषा और सन्ध्या की पालना करता है।"

बृहस्पति, रुद्र और मरुत्

५ स्थलों में बृहस्पति[४८] के लिए तथा ५ ही स्थलों में रुद्र[४९] के लिए ऋग्वेद में वृषभ शब्द प्रयुक्त हुआ है। तीन स्थलों में मरुतों[५०] को उक्षा कहा गया है। बृहस्पति-रूप वृषभ का निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है–

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति।।

ऋ० ६.७३.१

"जो पर्वत (मेघ) को तोड़ डालने वाला है, प्रथम रूप से प्रसिद्ध है, सत्यमय है, अंगारों से उत्पन्न हुआ है, हवि ग्रहण करने वाला है, दोनों लोकों में निर्बाध संचार करने वाला है, तप्त यज्ञ में स्थित है, हमारा पिता है, वह वृषभ बृहस्पति द्यावापृथिवी में गर्ज रहा है।"

रुद्र वृषभ का नमूना भी देखिए–

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान् त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्
घृणीवच्छायामरपा अशीया विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्।।

ऋ० २.३३.६

"मरुतों सहित वृषभ रुद्र ने मुझ प्रार्थी को तेजोमय गति से आनन्दित कर दिया है। जैसे सूर्य की धूप से व्याकुल मनुष्य छाया का सेवन करता है, वैसे ही मैं उस वृषभ की छाया (शरण) का सेवन करूं, मैं रुद्र के सुख को अपनाऊं।"

मरुत्-रूप उक्षाओं का निम्न वणन भी कैसा चामत्कारिक है—

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्या इव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ।।

ऋ० १.६४.२

''वे मरुत्-रूप उक्षा आकाश से उत्पन्न हुए हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर के समान पवित्र हैं ,पुरुषों के समान एक ओर तो उदकबिन्दुओं वाले (दयालु) हैं, दूसरी ओर घोर रूप वाले हैं।''

इतर अर्थ

अन्य भी कतिपय अर्थो में ऋग्वेद के उक्षा तथा वृषभ शब्द प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। एक मन्त्र में आकाश में स्थित पांच उक्षाओं का उल्लेख आया है।[५१] ये वृषभ राशि के नक्षत्रपुंज के पांच प्रमुख तारे प्रतीत होते हैं, यद्यपि सायण ने ये पांच उक्षा इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा और सविता अथवा अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् बतलाये हैं। एक स्थान पर सायण ने उक्षा का अर्थ सेक्ता स्तोतृजन किया है।[५२] सायण एक मन्त्र में उक्षा का वैकल्पिक अर्थ अश्व लेते हैं।[५३] एक स्थल में उक्षाओं के वाहन अरुणी गौओं के लिए उक्षा शब्द का प्रयोग हुआ है[५४]। एक प्रसंग में जहां द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने उक्षा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[५५]

वृषभ एक मन्त्र में कुत्स[५६] का विशेषण तथा एक मन्त्र में श्वित्र्य[५७] का विशेषण बन कर आया है। मित्रावरुण को भी वृषभ कहा गया है[५८]। सायण ने वृषभ के अर्थ यज्ञ[५९], द्युलोक[६०], प्रधान[६१], रेतःसेक्ता पति[६२], संवत्सर[६३], स्तोत्र[६४], दानी[६५] तथा विक्रान्त कर्म[६६] भी किये हैं। वृषभ पुंजाति[६७] के लिए भी आता है।

एक अद्भुत वृषभ

ऋग्वेद में एक अद्भुत वृषभ का वर्णन आया है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। वह तीन खूंटों से बंधा हुआ डकरा रहा है। वह महान् देव है, जो सब मनुष्यों के अन्दर आकर प्रविष्ट है। यह वर्णन यजुर्वेद में भी है[६८]।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यों आ विवेश ।।

ऋ० ४.५८.३

यास्कीय निरुक्त[६९] के अनुसार यह वृषभ यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं; प्रातः, मध्याह्न तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदयनीय उसके दो सिर हैं। गायत्र्यादि सात छन्द हाथ हैं। वह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मन्त्रपाठ ही उस वृषभ का डकराना है। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में यह वृषभ शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चारित होता है।

सायण का कथन है कि इस सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गौ तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मन्त्र पंचधा व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है। यज्ञपरक व्याख्यान प्रायः निरुक्त का ही अनुसरण करता है। सूर्यपरक व्याख्या के अनुसार चार दिशाएं सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, अहोरात्र दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छः विलक्षण ऋतुएं तथा एक साधारण ऋतु सात हाथ हैं, तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा वर्षक होने से वृषभ है तथा वृष्ट्यादि द्वारा शब्द भी करता है। प्राण, आत्मा, ब्रह्म, काव्यपुरुष, राष्ट्र आदि विषयक भी इसकी व्याख्याएं की गयी हैं।

वृषभ-पाक

ऋग्वेद के दो स्थलों में वृषभ-पाक[७०] का तथा दो स्थलों में उक्षा-पाक[७१] का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋ० १.१६४.४३ में कहीं दूर पर गोबर के उपले का धुंआ दिखायी देने की चर्चा है। उसके विषय में कहा गया कि वीरों ने उक्षा पृश्नि (चितकबरे बैल) को पकाया है उसी का यह धुंआ है—

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

सायण यहां वीर का अर्थ विविध विधियां करने-कराने वाले ऋत्विज् या देव तथा उक्षा का अर्थ सोमवल्ली करते हैं। प्रमाण-रूप में उन्होंने एक वचन भी उद्धृत किया है।[७०]

उक्षा-पाक विषयक दूसरा मंत्र १०म मण्डल के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद में उपलब्ध होता है। वहां इन्द्र कहता है कि मेरे लिए याज्ञिक लोग पन्द्रह और बीस उक्षाओं को पकाते हैं तथा उन परिपक्व उक्षाओं से वे मेरी दोनों कुक्षियों को भर देते हैं, उससे मैं खूब मोटा हो गया हूं।

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।

ऋ० १०.८६.१४

इससे पूर्व के मन्त्र में भी इन्द्र द्वारा उक्षाओं के खाये जाने का संकेत है[७३], जहां सायण ने सेचनसमर्थ पशुओं (सांडों) के भक्षण का ही भाव लिया है[७४]। प्रस्तुत मन्त्र में भी वह उक्षा का अर्थ पशु ही लेता है[७५]। पर वस्तुतः यहां भी प्रकरणानुसार उक्षा का अर्थ सोम ही संगत ठहरता है। सूक्त के प्रारम्भ में इन्द्र की पूत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोग सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है[७६]। १३वें मन्त्र में वृषाकपायी की उसी आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से सोमरस (उक्षा) पान करने मिलेंगे।[७७] अतः १४वें मन्त्र में इन्द्र जिन १५ और २० पके हुए उक्षाओं को खाने की बात कर रहा है, वे सांड नहीं, प्रत्युत परिपक्व सोम के ही १५ और २० पात्र हैं, अन्यथा आपत्ति तो हो सोमरस न मिलने की और उसका परिहार किया जाए सांड खिलाकर, यह सर्वथा विसंगत प्रतीत होता है। अतः जैसे सायणाचार्य पूर्वोल्लिखित प्रसंग में उक्षा पृश्नि का अर्थ सोमवल्ली करते हैं, वैसे ही यहां भी करना उचित है। ऋ० ९.८६.४३ में तो 'उक्षणं पशुम्' शब्द आये हैं, तो भी सायण ने वहां बैल या सांड अर्थ न लेकर सोम अर्थ ही किया है, भले ही वहां उसे पशु का अर्थ द्रष्टा करना पड़ा है।

निम्न मन्त्र में वृषभ के पाक का प्रसंग है। वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि जब मैं शरीर से पुष्ट होते हुए अदेवयु (अयाज्ञिक) लोगों को युद्ध के लिए ललकारूंगा तब आपके लिए मैं मोटा-ताजा वृषभ पकाऊंगा और उसमें तीव्र अभिषुत पन्द्रहवें सोम को भी सिंचित करूंगा–

यदीदहं युधये संनयान्यदेवयून् तन्वा शूशुजानान् ।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ।।

ऋ० १०.२७.२

यहां भी सायण ने वृषभ का अर्थ सेचनसमर्थ पुंपशु (सांड) किया है। किन्तु वस्तुतः यह वृषभ भी सोम ही है। चौदह सोमपात्रों का एक पात्र में एकत्र किया हुआ सोम 'वृषभ' है, जिसे पकाया जाता है तथा उसमें पन्द्रहवें पात्र का सोमरस भी निषिक्त कर दिया जाता है।

अगले ही सूक्त में फिर वृषभ-पाक आता है–

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान् सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।।

ऋ० १०.२८.३

वसुक्र इन्द्र से कह रहा है कि यजमान आपके लिए मदजनक त्वरित सोमों को ग्रावाओं से अभिषुत करते हैं तथा आप उनका पान करते हैं। वे आपके लिए वृषभ पकाते हैं तथा आप उनका भक्षण करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में वसुक्रपत्नी ने ये उद्‌गार प्रकट किए हैं कि यज्ञ में अन्य सब देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, यदि वे आते तो धाना (भुने जौ) खाते और सोम पीते तथा पूर्णतः तृप्त होकर घर जाते [७८]। वे बैल या सांड खाते, ऐसा उसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब वसुक्र ने उक्त तृतीय मन्त्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहां वृषभ का अर्थ धाना (यव) लेना ही उचित है। इन्द्र के अन्न का भी वृषभ नाम है, यह हम पहले देख चुके हैं। एवं 'पचन्ति ते वृषभान्' का अर्थ होगा कि आपके लिए यवों को भूनते हैं। अथवा पूर्ववत् वृषभ का अर्थ सोमवल्ली भी ले सकते हैं। इन्द्र सोमपान करता है तथा सोमवल्ली की पकायी हुई डंठलों का भक्षण करता है। इसी सूक्त में ११वें मंत्र में उक्षा-भक्षण का उल्लेख आया है–'**सिम उक्ष्णोऽवसृष्टाँ अदन्ति**', जहां सायण ने उक्षा का सोम अर्थ ही लिया है [७९]।

यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ) , करम्भ (दही-मिश्रित सत्तू) और पुरोडाश (अपूप) है तथा पेय सोमरस है [८०], बैल उसका भोजन नहीं है। अतः वृषभ तथा उक्षा शब्दों को देखते हुए तुरन्त बैल को पकाने की कल्पना कर लेना वेद के प्रति न्याय नहीं होगा। इन्द्र जिन परिपक्व वृषभों तथा उक्षाओं को खाता है वे भुने जौ, पुरोडाश या सोम ही हैं, बैल का मांस नहीं। वेद में इन्द्र को पुरोडाश तथा परिपक्व सोम भेंट करने की ही महिमा लिखी है [८१], बैल खिलाने की नहीं।

उक्षा की आहुति

ऋग्वेद में चार बार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि में उक्षाओं की आहुति का उल्लेख आता है[८२]। निम्न मन्त्र विशेषतः द्रष्टव्य है–

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः ।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये ।।

ऋ० १०.९१.१४

यहां अश्व, वृषभ, वशा और मेष पशुओं के साथ उक्षा भी उल्लिखित है, और अग्नि का विशेषण सोमपृष्ठ पृथक् पठित होने से यहां उक्षा का अर्थ सोम भी नहीं हो सकता । परन्तु वस्तुतः इन पशुओं की अग्नि में आहुति अभिप्रेत नहीं है, अपितु ये पशु अग्नि को समर्पित कर सार्वजनिक हित के लिए उत्सर्ग कर दिए जाते हैं। मन्त्र में पठित 'अवसृष्टासः' पद इसी बात का ज्ञापक है। एक मन्त्र में यह भी कहा गया है कि अग्नि के लिए जो हम मन्त्रपूर्वक हृदय से संस्कृत हवियां देते हैं, वे ही उक्षा, वृषभ और वशा हैं[८३]। साथ ही यह भी देखने योग्य है कि अग्नि केवल पार्थिव अग्नि ही नहीं है, अपितु उत्तर ज्योतियां विद्युत् और आदित्य भी अग्नि हैं[८४] । सूर्य-रूपी अग्नि के लोक द्यौ में अश्व, वृषभ, मेष आदि नामों वाले नक्षत्रपुंज आहुत करके छोड़े हुए हैं, यह भी मन्त्र का आशय हो सकता है। वेद में अग्नि का भोजन अश्व, वृषभ आदि पशु नहीं है, किन्तु समिधा और घृत ही है[८५] । अतः अग्नि में पशुओं का होम करना निःसंदेह अवैदिक है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद के वृषभ और उक्षन् शब्द, जो लोक में प्रायः बैल अर्थ को देते हैं, कितने विभिन्न अर्थों को अपने अन्दर गृहीत किये हुए हैं। अधिकतर हमने इस लेख में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विचार किया है। स्वयं ऋग्वेद ही जिन अग्नि, इन्द्र सोम, सूर्य आदि को स्पष्ट रूप से वृषभ या उक्षा कहता है, उन्हीं को हमने लिया है। ये वृषभ या उक्षा शब्द से वाच्य अग्नि, इन्द्र आदि कौन हैं, इस विषय को यहां नहीं छेड़ा गया है । इन अग्नि, इन्द्र आदि की आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्याएं करने पर उनके लिए प्रयुक्त वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ भी तदनुसार हो सकते हैं। जो स्थिति वृषभ एवं

उक्षा शब्दों की है वही बैलवाची वृष, अनड्वान्, वृषन् आदि शब्दों की भी है। अथर्ववेद में प्राण को अनड्वान् कहा गया है[८६]। अनड्वान् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को तथा छहों दिशाओं को एवं संपूर्ण भुवन तक को धारण करता है, यह भी वर्णित हुआ है[८७]। यह कार्य साधारण बैल पशु नहीं कर सकता। एवं वैदिक शब्द अपने अन्दर अनेक विशिष्ट अर्थों को गृहीत किये हुए हैं। वेदव्याख्याकार को वैदिक शब्दों का यह वैशिष्ट्य अवश्य ध्यान में रखना होगा। अन्यथा वह वेद के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। वृषभ-पाक तथा वृषभ-होम की चर्चा अभी की जा चुकी है। वैदिक शब्दों के रहस्य को न समझने से उन प्रकरणों का कैसा अनर्थ किया गया है। वैदिक शब्द-प्रयोग की शैली से अनभिज्ञ होने का ही यह परिणाम है कि आज अनेक पाश्चात्त्य तथा एतद्देशीय विद्वत्कोटि के व्यक्ति भी वेदों के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। इस लेख में वृषभ और उक्षा शब्दों के अर्थ पर विचार कर हम इसी बात पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि 'वेद के किसी शब्द का क्या अर्थ है' इस विषय में सर्वप्रथम प्रमाण स्वयं वेद ही हैं। वेद में कोई शब्द कहाँ-कहाँ किस-किस अर्थ में आया है, इसका विचार करते हुए यदि हम वैदिक शब्दों का तथा वैदिक प्रकरणों का अर्थानुसन्धान करेंगे तभी वेद के साथ समुचित न्याय हो सकता है।

पाद-टिप्पणियां

१. ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ०३.४०३
२. श्वन्नुक्षन्पूषन्। उ० १.१५७
३. ऋ० १.९४.१०
४. ऋ० ७.१९.१ तथा १०.१०३.१
५. ऋ० ७.७९.४
६. ऋ० ८.६०.१३
७. ऋ० १०.८६.१५
८. ऋ० १०.७५.३
९. ऋ० १०.१०२
१०. ऋ० ८.१.३३
११. ऋ० ८.५५.२
१२. यथा, ऋ० १.१४६.२; ३.७.६.; ५.४७.३
१३. ऋ० ३.६.५

१४. ऋ० ७.५.२
१५. ऋ० १०.१८७.१
१६. ऋ० ५.१.८
१७. ऋ० ५.२.१२
१८. ऋ० १०.१२२.४
१९. द्रष्टव्य: ऋ० ९.८९.३ का सायणभाष्य।
२०. ऋ० १.१७७.१
२१. ऋ० २.१.३
२२. ऋ० ६.१७.२
२३. ऋ० ७.२६.५
२४. ऋ० ७.९८.१
२५. ऋ० ८.९६.४,१८
२६. १०.१०३.१
२७. तुलनीय: उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयु:। ऋ० ९.८३.३, उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति ऋ० १०.३१.८, अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्। अथर्व० ४.११.१
२८. ऋ० २.१६.४
२९. ऋ० २.१६.५
३०. ऋ० ६.४४.१९
३१. ऋ० ६.१९.९
३२. ऋ० ९.१९.४
३३. ऋ० ९.७०.७
३४. ऋ० ९.७६.५
३५. ऋ० ९.८०.५
३६. ऋ० ९.६९.४
३७. ऋ० ९.९५.४
३८. ऋ० ५.८३.१; ७.१०.१.१,६
३९. ऋ० ६.४९.६
४०. ऋ० १.७९.२; ३.५५.१७; ४.१.११,१२;५.५८.६; ७.३६.३
४१. ऋ० ४.५६.१
४२. ऋ० ४.१.११
४३. ऋ० ७.९५.३
४४. ऋ० १०.६५.९

४५. ऋ० १.१३५.९
४६. ऋ० ५.६९.२
४७. ऋ० ७.५५.७
४८. ऋ० १.१९०.१, ८; ३.६२.६; ६.७३.१; १०.९२.१०
४९. ऋ० २.३३.४, ६,७,८,१५
५०. ऋ० १.६४.२; १.१६८.२; ५.५२.३
५१. अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। ऋ० १.१०५.१०
५२. ऋ० ३.७.७
५३. ऋ० ६.६४.५
५४. ऋ० ७.७९.१
५५. ऋ० १०.३१.८
५६. ऋ० १.३३.१४
५७. ऋ० १.३३.१५
५८. ऋ० ५.६३.३
५९. ऋ० १.१६६.१
६०. ऋ० १.१६०.३
६१. ऋ० २.३०.८
६२. ऋ० २.१६.८; १०.१०.१०; १०.४०.११
६३. ऋ० ३.५६.३
६४. ऋ० ७.७९.४
६५. ऋ० ८.९३.१,७
६६. ऋ० १०.२८.३
६७ ऋ० १०.५.७
६८. यजु० १७.९१
६९. निरु० १३.७
७० ऋ० १०.२७.२; २८.३
७१. ऋ० १.१६४.४३; १०.८६.१४
७२. सोम उक्षाभवत् पूर्वं तं देवाः शकृतापचन्। यज्ञार्थे तद्भवो धूमो मेघ आसीत् तदुच्यते ।।
७३. घसत् त इन्द्र उक्षणः ऋ० १०.८६.१३।
७४. इन्द्रः उक्षणः सेचनसमर्थान् पशून् घसत् प्राश्नातु—सायण।
७५. उक्ष्णः वृषभान्—सायण ।
७६. वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत। यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा ।।

७७. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे। घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः।।

७८. विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम्। जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगम्यात्।। ऋ० १०.२८.१

७९. उक्षणः अवसृष्टान् इन्द्रेण निसृष्टाननुज्ञातान् हविर्भूतान् सोमान् यज्ञेषु अदन्ति भक्षयन्ति–सायण।

८०. द्रष्टव्यः ऋ० ३.५२, जिसमें, तीनों सवनों का पृथक-पृथक् इन्द्र का भोज्य उल्लिखित है।

८१. ऋ० ८.३१.१-४

८२. ऋ० २.७.५; ६.१४.४७; ८.४३.११; १०.९१.१४।

८३. ऋ० ६.१६.४७

८४. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते– निरु० ७.१७।

८५. द्रष्टव्यः २.७६; ७.३.१; १०.६९.२

८६. अथर्व० ११.४.१३

८७ अथर्व० ४.११.१

मांसभक्षण के पक्ष में दिये जाने वाले कतिपय वेदमंत्रों पर विचार

'सरिता' १९८० के अप्रैल (प्रथम) अंक में 'वैदिक युग में मांस-भक्षण' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें लेखक ने मांसाहार के प्रमाणस्वरूप पांच वेदमंत्र उपस्थित किये थे। इनके अतिरिक्त मनु-स्मृति, गौतमधर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, बृहदारण्यकोपनिषद्, याज्ञ-वल्क्यस्मृति और बाल्मीकि-रामायण के भी कुछ स्थल देकर अपने पक्ष को सिद्ध करने का प्रयास किया गया था। इस संबन्ध में हमारा वक्तव्य यह है कि जहां तक ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चार वैदिक संहिताओं का प्रश्न है उनसे मांसभक्षण का समर्थन नहीं होता है। न उनमें देवताओं को मांस खिलाने का विधान है, न मनुष्यों द्वारा मांस खाने का। मांस-भक्षण के पक्ष में जो वैदिक प्रमाण दिये जाते हैं, वे वस्तुतः प्रमाणाभास ही हैं। स्वामी दयानन्द ने वेदों को ही स्वतः प्रमाण माना है। अन्य ग्रन्थ वहीं तक प्रमाण हैं, जहां तक वे वेदानुकूल हैं। वेदविरुद्ध होने पर वे प्रमाण-रूप में मान्य नहीं हैं।

हम यह कहना नहीं चाहते कि भारत में कभी कोई मांसभक्षक रहे ही नहीं। अन्य कई व्यसनों के समान मांस-भक्षण का व्यसन भी कभी प्रबल रूप में और कभी सामान्य रूप में प्रचलित रहा है, परन्तु उसे शास्त्रकार निन्दा की दृष्टि से ही देखते हैं। कहीं-कहीं धर्मसूत्रकारों ने यह भी कह दिया है कि यदि मांस खाने से रुक नहीं सकते तो कम से कम अपवित्र पशु-पक्षियों का मांस तो न खाओ। परन्तु शास्त्रों की दृष्टि में आदर्श यही है कि मांस का सेवन सर्वथा न किया जाए। मनुस्मृति ने तो स्पष्ट कहा है कि भले ही कुछ लोग यह विचार रखते हों कि मांसभक्षण, मद्यपान आदि में कोई दोष नहीं है, परन्तु वस्तुतः इनसे निवृत रहना ही महाफलदायक होता है—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।।

मनु० ५.५६

इस निर्देश के होते हुए मनुस्मृति में जो भक्ष्याभक्ष्य (किन्हीं विशेष जन्तुओं के खाने या न खाने) का प्रकरण है, उसे पूर्वापरविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। अतएव स्वामी दयानन्द ने प्रक्षिप्त-श्लोक-रहित मनुस्मृति को ही प्रामाणिक माना है।

अब रह जाती है बात वेदों की। सो मांसाहार के प्रमाण में सरिता के लेखक ने जो वेदमंत्र दिए हैं, उनकी हम क्रमशः परीक्षा करते हैं।

प्रथम मंत्र

अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वाजभार।

ऋ० ४.१८.१३

सरिता के लेखक के अनुसार इस मंत्र में ऋषि वामदेव अपना अनुभव बता रहे हैं। 'चूंकि मैंने अन्य देवों में से किसी को भी सुखदायक न पाया, इसलिए मैंने लाचार होकर कुत्ते की आंतें पकाईं। मैंने अपनी पत्नी को अपमानित होते भी देखा। तब इन्द्र बाज पक्षी के समान उड़कर मेरे लिए मधुर सोमरस ले आया।'

अब यहां विचारणीय है कि वामदेव को यदि ऐतिहासिक व्यक्ति ही मान लें तो विपत्ति या संकट (अवर्ति) में पड़े होने पर उसे कुत्ते की आंत पकाना क्यों आवश्यक हो गया? क्या ऐसी विपत्ति आ गयी थी कि कुत्ते के अतिरिक्त कोई भी पशु, पक्षी, घास-पात, कन्द-मूल आदि नहीं बचा था? फिर वामदेव के अन्य साथी भी तो होंगे, वे कैसे जीवित रहे? यदि वे किसी अन्य भोजन से जीवित रह सकते थे, तो वामदेव को भी वह भोजन सुलभ क्यों न हुआ? ये सब बातें इस ओर संकेत करती हैं कि मंत्रगत 'शुनः आन्त्राणि' (कुत्ते की आंतों) का कुछ अन्य ही रहस्य है।

एक अन्य बात यह द्रष्टव्य है कि मंत्र में दो प्राणियों के नाम आये हैं- 'श्येन' (बाज) और 'श्वा' (कुत्ता)। मंत्र में उलझन इस कारण उत्पन्न हो गयी है कि श्येन का अर्थ तो सायण ने और उसके अनुगामी सरिता के लेखक ने बाज न लेकर बाज के समान शीघ्रगामी इन्द्र ले लिया और श्वा का अर्थ कुत्ता ही रहने दिया। तो मंत्र का वास्तविक रहस्य क्या है? 'वाम' का अर्थ है सुन्दर या प्रशंसनीय और 'देव' का

अर्थ है तेजस्वी। सुन्दर, प्रशस्त, तेजोमय शरीर वाला मनुष्य वामदेव है। कभी दुर्भिक्ष पड़ जाने पर शाक, सब्जी, अन्न, फल आदि उत्पन्न नहीं हुए हैं। जिनके पास कुछ अन्न संचित है भी वे वामदेव-सदृश गरीबों की सहायता नहीं कर रहे हैं, क्योंकि दूसरों की सहायता में अन्न समाप्त हो गया तो उनके प्राण भी संकट में पड़ जायेंगे। अब वामदेव बेचारा क्या करे? उसकी पत्नी भी इस विपत्ति में शोभाहीन हो गयी है। वह 'श्वा' की आंतों को पकाकर खा लेता है। पर 'श्वा' से कुत्ता अभिप्रेत न होकर अपामार्ग या चिरचिटा अभिप्रेत है। अपामार्ग को आज भी ग्रामीण लोग कुकरा (कुक्कुर) कहते हैं। उसकी शाखाओं पर कांटे-कांटे से खड़े रहते हैं, जो पास जाने वाले मनुष्य के बस्त्रों, टांगों आदि में चिपक जाते हैं। मानो वे अपामार्गरूप कुक्कुर के दांत हैं, जिनसे वह काटता है। अपामार्ग की कांटों वाली शाखाएं ही अपामार्ग-रूप कुत्ते की आंतें हैं। उन्हें पका कर खा लेने से क्षुधा नहीं सताती। अथर्ववेद में इस अपामार्ग को भूख-प्यास का मारने वाला कहा है–

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे।।

अथर्व० ४.१७.६

इस दृष्टि से देखें तो वामदेव के उक्त मंत्र का अर्थ इस प्रकार होगा- मैंने (अवर्त्या) दुर्भिक्षरूप विपत्ति के कारण, क्षुधानिवृत्ति के लिए (शुनः आन्त्राणि) अपामार्ग की बीजों वाली शाखाओं को (पेचे) पकाया, पका कर खाया, क्योंकि उस दुभिक्ष-काल में (देवेषु) सज्जनो में किसी को भी (मर्डितारम्) सुखदाता एवं सहायक (न विविदे) मैंने नहीं पाया। (जायाम्) अपनी पत्नी को भी मैंने दुर्भिक्ष के कारण (अमहीयमानाम्) अशोभमान अवस्था को प्राप्त (अपश्यम्) देखा। किन्तु यह विपत्ति की अवस्था सदा नहीं रही, (अथा) अन्ततोगत्वा (श्येनः) शंसनीय गति वाला वायु, पर्जन्य और सूर्य (मे) मेरे लिए (मधु) वर्षाजल (आजभार) ले आया। प्रचुर वृष्टि से दुर्भिक्ष का संकट समाप्त हुआ।

अध्यात्म में वामदेव जीवात्मा है, क्योंकि वह स्वरूप से सुन्दर, प्रशस्त, निर्मल और तेजस्वी है। वह माता के गर्भ में आकर शरीर धारण करता है। बुद्धि उसकी पत्नी है। कभी आत्मा-रूप वामदेव बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियों आदि सहित दुर्गुणों एवं व्याधियों पर विजय पाता हुआ राजा के समान विराजमान होता है। परन्तु मंत्र में जिस दशा का वर्णन

है वह उसकी दारिद्र्योपहत दशा है। वह काम, क्रोध आदि के वशीभूत होने से विपद्ग्रस्त हो गया है और कुत्ते की आंतें पकाने लगा हैं अर्थात् कुत्ते जैसा निन्दित आचरण करने लगा है। निरुक्त में कहा है कि 'श्वा' 'काक' आदि शब्द निन्दार्थक होते हैं—**श्वा काक इति कुत्सायाम्** (निरु० ३.१८)। आन्त्र का अर्थ है आचरण, कार्य या व्यवहार (अत सातत्य-गमने)। पच धातु यहां करणार्थक है। आत्मा की जाया बुद्धि भी अशोभ-मान हो गयी है। इन्द्रिय, मन आदि देवों में से किसी को भी वह अपना सुखप्रदाता नहीं पा रहा है। परन्तु अन्त में 'श्येन' प्रभु की कृपा होती है। 'श्येन' का अर्थ है शंसनीय गति वाला सर्वव्यापक परमात्मा। वह उस दुर्गति-प्राप्त आत्मा के लिए मधु ले आता है। मधु है सफलता, विजय, अमरत्व, दिव्य आनन्द।

अधिदैवत पक्ष में चन्द्रमा वामदेव है, जो कि सौन्दर्य का मूर्त रूप है। आकाशीय रोहिणी तारा उसकी पत्नी है। जब आकाश में चन्द्रमा रोहिणी-शकट का भेदन करता है, तब अपूर्व शोभा होती है। परन्तु चन्द्रमा सदा ही परिपूर्ण नहीं रहता, न ही रोहिणी-योग की अपूर्व छटा सदा रहती है। मंत्र का वामदेव कृश कलाओं वाला दुर्गति-प्राप्त चन्द्रमा है। वह स्वयं भी दरिद्र हो गया है, और उसकी जाया रोहिणी भी दरिद्र हो गयी है। आकाश में एक 'श्वान' नक्षत्र-पुंज है, जिसे अंग्रेजी में 'डॉग स्टार' या 'कैनिस मैजर' कहते हैं। उधर चन्द्रमा और रोहिणी आभा-रहित हो रहे हैं, और इधर 'श्वान' नक्षत्र पुंज की आंतें चमक रही हैं। मानो चन्द्रमा उन आंतों को पका रहा है। पर चन्द्रमा की क्षीणकाय अवस्था शीघ्र ही दूर हो जाती है। 'श्येन' उसे मधु प्रदान कर देता है। 'श्येन' है सूर्य, जिसके प्रकाश-रूप मधु को पुनः पाकर चन्द्रमा पुनः परिपूर्ण और प्रफुल्ल हो जाता है।

द्वितीय मंत्र

यदीदहं युधये संनयान्यदेवयून् तन्वा शूशुजानान्।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम्।।

ऋ०१०.२७.२

सायण ने इसे इन्द्र के पुत्र वसुक्र की उक्ति माना है और व्याख्या की है कि वसुक्र इन्द्र को कहता है कि मैं तेरे लिए मोटे-ताजे बैल को

पकाऊंगा- **तुम्रं प्रेरकं बलिनं पीवानमित्यर्थः वृषभं सेचनसमर्थं पुंपशुं पचानि।** इसी का अनुसरण करते हुए सरिता के लेखक ने लिखा है कि वसुक्र ऋषि का कथन है कि 'जब मैं देवता-विरोधी शत्रुओं पर अपने साथियों सहित आक्रमण करूंगा, तब मैं तुम्हारे लिए पुष्ट बैल पकाऊंगा और सोम-रस निचोडूंगा।' पर वस्तुतः प्रथम तथा अगले मंत्रों के समान इसे इन्द्र की उक्ति मानना ही अधिक संगत है। इन्द्र कहता है–

(यदि इत् अहम्) यदि निश्चय ही मैं (अदेवयून्) देवों की हितेच्छा न करने वाले, (तन्वा शूशुजानान्) शरीर से परिपुष्ट हुए शत्रुओं को (युधये) युद्ध के लिए (संनयानि) रण भूमि में लाता हूं, तो (अमा) साथ ही, हे स्तोता, (ते) तेरे लिए (तुम्रं वृषभं) स्थूल वृषभ को (पचानि) पकाता हूं, तथा उसमें (पंचदशम्) पन्द्रहवां (तीव्रं सुतं) तीव्र अभिषुत रस (निषिञ्चम्) निषिक्त कर देता हूं।

अधिदैवत पक्ष में ये शत्रु जिनसे इन्द्र युद्ध करता है वृत्र या मेघ हैं, जिन्हें युद्ध में पराजित कर वह भूमि पर बरसा देता है। वृत्रों के साथ इन्द्र का युद्ध प्रसिद्ध ही है। अपना दूसरा कार्य इन्द्र ने जो यहां वर्णित किया है, 'वृषभ को पकाना' है। प्रश्न यह है कि यहां सायण के समान वृषभ को पकाने का अर्थ बैल पशु को पकाना ही गृहीत किया जाए, अथवा इसे पहेली मानकर रहस्यार्थ का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया जाए। विचार करने पर ज्ञात होता है कि वस्तुतः यह एक पहेली ही है। जिस सूक्त का यह मंत्र है, वह ऋग्वेद में प्रहेलिकात्मक सूक्तों में से एक है तथा इसके अन्य कई मंत्र भी पहेली-रूप ही हैं। यहां वृषभ का अभिप्राय सोम (चन्द्रमा या सोमबल्ली) है। सायण ने भी ऋग्वेद में अनेक मंत्रों में वृषभ का अर्थ सोम लिया है। नवम मण्डल में ग्यारह बार एकवचनान्त वृषभ शब्द आया है, जिसमें नौ स्थलों में सायण ने सोम को ही वृषभ माना है[1]। चन्द्रमा को पकाने या परिपक्व करने का अभिप्राय उसे परिपूर्ण करना है। कृष्णपक्ष में क्षीण हुए चन्द्रमा को इन्द्र पुनः परिपक्व कर देता है। जब वह एक-एक कला बढ़ते हुए चर्तुदशी के चांद तक पहुंच जाता है, तब उसमें पन्द्रहवां रस या पन्द्रहवीं कला भी निषिक्त कर देता है और वह पूर्णिमा का परिपूर्ण चांद हो जाता है।

सोमवल्ली का अर्थ लेने पर भी ऐसी ही व्याख्या होगी, क्योंकि उसका भी चन्द्रमा से घनिष्ठ संबन्ध होता है और वह भी चन्द्रमा के क्षय के साथ क्षीण तथा उसकी परिपूर्णता के साथ परिपूर्ण होती है[1]।

तृतीय मंत्र

**एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा,
तदेव नाश्नीयात्।**

अथर्व० ९.६.३९

सरिता के लेखक ने इसका अर्थ दिया है- 'यह जो गौ का दूध व मांस है, वह अधिक स्वादु होता है, उसे अतिथि से पूर्व न खाए।' फिर टिप्पणी की है 'यदि लोग मांस न खाते थे तो उन्हें उसके रसीले होने का ज्ञान कैसे हो गया?' फिर लिखा है- 'इसके बाद के तीन मंत्रों (अथर्व० ९.६.४०-४२) में कहा गया है कि जो मनुष्य अतिथि के लिए मंत्रपाठपूर्वक जल से सींच कर दूध, घी व मधु लाता है उसे तो विभिन्न यज्ञ करने का फल मिलता है, किन्तु जो मांस का उपसेचन कर अतिथि को पेश करता है, उसे द्वादशाह (बारह दिनों में समाप्त होने वाले) यज्ञ का फल प्राप्त होता है।'

इस संबन्ध में द्रष्टव्य यह है कि वैदिक दृष्टि में गाय सर्वथा अवध्य और पूज्य है। यजुर्वेद ८.४३ में गाय को इडा, रन्ति, काम्या, चन्द्रा, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति और अघ्न्या नामों से स्मरण किया गया है। इन नामों के क्रमशः अर्थ होते हैं पूजनीय, आनन्दित रहने वाली, चाहने योग्य, आह्लाददायिनी, अखण्डनीया, दुग्धवती, श्लाघ्या, गुणवती और न मारी जाने योग्य। गौ के अघ्न्या और अदिति नाम स्पष्ट ही उसकी अवध्यता को सूचित करते हैं। ऋ० ८.१०१.१५ में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इस बेचारी निर्दोष गाय को मारो मत—**मा गामनागामदितिं वधिष्ट।** इसी मंत्र में उसे अमृत की नाभि कहा गया है, क्योंकि वह दुग्धामृत को देती है। उसे मांस की नाभि नहीं कहा गया। गौ की अहन्तव्यता और पूज्यता के शतशः प्रमाण वेदों में विद्यमान हैं। ऐसा होते हुए यह कल्पना में भी लाना अपराध है कि वेद अतिथि को गो-मांस खिलाने का विधान करेगा।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि जहां वेदों में मनुष्य के भोज्य पदार्थ परिगणित हुए हैं, वहां मांस का नाम नहीं है। यजु० १८.९ और १२ में ऊर्ज्, पयस्, रस, घृत, मधु, शाक-सब्जियां, व्रीहि, यव, माष, तिल, मुद्ग, खल्व, प्रियङ्गु, अणु, श्यामाक, नीवार, गोधूम और मसूर का नाम आया है, मांस का नहीं। अथर्व० ६.१४०.२ में दांतों को कहा गया है कि

तुम व्रीहि, यव, माष और तिल खाओ, यही तुम्हारे लिए भाग रखा गया है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में अतिथि को गोमांस खिलाना निश्चय ही अभिप्रेत नहीं हो सकता। प्रस्तुत प्रसंग से अगले ही सूक्त में गौ की महिमा में यह कहा गया है कि गौ में सब देवताओं का निवास होता है, अतः अकेली गौ की सेवा से सब देवों की सेवा हो जाती है। ऐसी महिमामयी गौ का मांस क्या वेद अतिथि को पेश करने के लिए कहेगा?

तो फिर प्रस्तुत प्रसंग में मांस से क्या अभिप्रेत समझा जाए? वस्तुतः यहां मांस का अर्थ है मांसल। मांस शब्द से 'अर्श आदिभ्योऽच् (पा० ५.२.२७.)' सूत्र से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय करने पर मांस शब्द सिद्ध होगा। जैसे नमकवाची लवण शब्द से अच् प्रत्यय करने पर 'लवण' ही रहता है, जिसका अर्थ होता है नमकीन या 'नमकवाला', वैसे ही यहां मांस शब्द है। पूज्य अतिथि के लिए सद्गृहस्थ दो प्रकार के गोजन्य पदार्थ पेश करता है। एक शुद्ध गोदुग्ध और दूसरे गोदुग्ध से बने हुए मांसल पदार्थ मलाई, खोया, पेड़ा, बर्फी आदि। मांसल का अर्थ मांस वाला नहीं, किन्तु जो भी गूदेदार या सारवान् स्थूल पदार्थ है वह मांसल कहलाता है। लोक में भी मांसल शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः प्रस्तुत प्रकरण का यह भाव हुआ कि ये जो गोजन्य स्वादुतर पदार्थ गोदुग्ध और गोदुग्ध से बने पेड़ा, बर्फी आदि हैं, कम से कम उन्हें तो अत्तिथि से पूर्व कदापि न खाये, विवशता हो तो सामान्य सादा भोजन अतिथि से पूर्व भले ही कर ले। अन्यत्र भी गोजन्य पदार्थों को दो भागों में बांटा गया है इष् (क्षीर) और ऊर्ज् (स्थूल पदार्थ) —**इषे त्वा, ऊर्जे त्वा** (यजु० १.१)।

दूसरे, गौ का अर्थ पृथिवी भी होता है। अतः 'अधिगवं' का अर्थ 'पृथिवी से उत्पन्न' लें तो क्षीर का भाव होगा दूध, इक्षुरस, फलों का रस या कोई विशेष स्वादिष्ठ रसेदार पेय पदार्थ और मांस का भाव होगा फल, कन्द, हलवा, किशमिश, खजूर, बादाम, छुहारा आदि।

चतुर्थ मंत्र

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्।।

अथर्व० ६.७०.१

इस पर सरिता के लेखक ने लिखा है– 'जैसे मांसभक्षक को मांस, शराबी को शराब, जुआरी को फलक पर पड़े पासे और काम-पीड़ित पुरुष को नारी प्यारी होती है, वैसे ही हे गौ, तुम्हें यह बछड़ा प्यारा हो। यह हर्ष का विषय है कि क्रमशः मांसभक्षण कम होता गया, तो भी कुछ अवसर ऐसे थे जिन पर मांस भक्षण धड़ल्ले से होता था।'

मन्त्रार्थ में सरिता के लेखक ने सायण का ही अनुसरण किया है। पर वस्तुतः मन्त्र में मांस खाने की तो कोई चर्चा ही नहीं। 'जाकी रही भावना जैसी' की उक्ति यहां चरितार्थ होती है। यह भाव भी तो लिया जा सकता है–'जैसे अस्थिपंजरमात्र शरीर की अपेक्षा मांस-भरे शरीर को देखकर प्रीति उपजती है, जैसे सुरा अर्थात् लक्ष्मी[1] को सब कोई चाहता है, जैसे इन्द्रियां भोग-विलास में रमती हैं, वैसे ही हे गौ, तेरा मन बछड़े में रमे।'

पंचम मंत्र

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ।।

अथर्व० १८.४.२०

सरिता के लेखक ने 'देवों व पितरों को मांस-भोजन देने के उल्लेख वेदों व अन्य धर्मग्रन्थों में सहज ही द्रष्टव्य हैं' यह लिखकर इसके उदाहरण रूप में उपर्युक्त मंत्र उद्धृत किया है। मंत्रार्थ यह किया है- 'मालपुओं वाला तथा मांस वाला भात यहां है। यज्ञभागी देवों में से जो यहां हों, हम उन (मृतक के लिए) लोकनिर्माता व पथनिर्माता देवों का पूजन करते हैं'। फिर लिखा है कि 'उपर्युक्त वेदमंत्र मृतक के अस्थिचयन के समय पढ़ा जाता था।'

यहां मंत्रार्थ अस्थिचयन के विनियोग से स्वतंत्र होकर भी किया जा सकता है। परन्तु विचारणीय प्रश्न क्योंकि चरु का मांसवाला होना ही है, अतः विनियोग के विवाद में हम नहीं पड़ते। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि चरु में मालपुओं के साथ मांस भी मिलाना है, तो यह मांस किस पशु का हो? इसे सूक्त में आगे स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि यह मांस गाय और बछड़े का होगा। पर पाठक भ्रम में न पडें, ये गाय और बछड़े सचमुच के गाय-बछड़े नहीं हैं, अपितु धाना गाय है और तिल बछड़ा है।

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति।।

अथर्व० १८.४.३२

एवं स्वयं वेद के प्रमाण से ही यहां मांस शब्द से धाना और तिल ग्राह्य हैं।

सरिता के लेखक ने मांसभक्षण के पोषण में वेदमंत्र ये पांच ही दिए हैं। हमने परीक्षा करके देख लिया है कि इनसे मांसभक्षण की पुष्टि नहीं होती। अतः पाठकों को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि वेद मांसभक्षण का समर्थन या विधान करते हैं।[४]

पाद - टिप्पणियां

१. द्रष्टव्यः नवम मंडल १९.४; ७०.७; ७२.७; ७६.५; ८०.५; ८५.९; ९६.७; १०८.८,११ का सायणभाष्य।
२. द्रष्टव्यः निरुक्त ११.४, सुश्रुत, चिकित्सित स्थान २९.२०-२२।
३. वेद में सुरा मदिरा के अर्थ में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। जल-मिश्रित ओषधिरस, लक्ष्मी, वर्षाजल आदि के लिए भी सुरा शब्द आता है। लक्ष्मी अर्थ में सुपूर्वक रा दाने धातु से यह निष्पन्न होगा। द्रष्टव्यः लेखक के दयानन्द-शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से प्रकाशित ग्रन्थ 'वैदिकशब्दार्थविचारः' का सुरा-प्रकरण।
४. इस विषय में अधिक परिचय के लिए लेखक का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियां' (प्रकाशकः श्रद्धानन्द शोध-संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी मुद्रणालय, हरिद्वार) द्रष्टव्य है, जिसके प्रहेलिकात्मक शैली तथा संवादात्मक शैली के द्वितीय तथा चतुर्थ अध्यायों में उक्षा पृश्नि के परिपाक (पृ० ५६-५८), महिष और मृग के परि-पाक (पृ० ८९-९२), पशुओं की आहुति (पृ० ९२-९४), अश्व-मेध तथा अजमेध (पृ० ९५-९९) और इन्द्र के लिए १५ एवं २० बैलों को पकाने (पृ० १७६) की व्याख्या की गयी है।

गोहत्या एवं गोमांसाहार वैदिक नहीं

'सरिता' पत्रिका के १९८० के दिसंबर (प्रथम) तथा दिसंबर (द्वितीय) अंकों में श्री सुरेन्द्रकुमार शर्मा 'अज्ञात' का एक विस्तृत लेख 'प्राचीन भारत में गोहत्या एवं गोमांसाहार' शीर्षक से छपा था। इसमें आपने वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ, रामायण, महाभारत आदि साहित्य से प्रमाण उद्धृत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि गोहत्या एवं गोमांसाहार शास्त्रानुमोदित है तथा वैदिक काल से ही भारत में गोमांस का भक्षण होता रहा है।

श्रुति और अन्य शास्त्रों का यदि कहीं विरोध हो तो श्रुति ही प्रामाणिक मानी जाती है। अतः आइये, प्रथम हम यह देखें कि गाय के विषय में वेदों का क्या अभिमत है और इस प्रसंग में उक्त लेख में उद्धृत वेदमंत्रों की भी परीक्षा करें।

गाय के नाम

यजुर्वेद के एक मंत्र में गाय के नाम इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योति, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति और अघ्न्या कहे गये हैं—

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्।।

यजु० ८.४३

गाय के ये नाम क्यों है, इस विषय में महीधर का ही भाष्य देख लेते हैं।

ईड्यते स्तूयते इति इडा। रमयतीति रन्ता। हूयते यद्दुग्धं यज्ञेष्विति हव्या, हूयते आहूयते सर्वैरिति वा हव्या। काम्यते इति काम्या। चन्दयति आह्लादयतीति चन्द्रा। द्योतयति प्रकाशयतीति ज्योता। अदितिः अदीनाऽनवखण्डिता।

सरस्वती सरतीति सरः क्षीरं तद्वती। मही महती। विविधं श्रूयते स्तूयते इति विश्रुतिः। न हन्तुं योग्या अघ्न्या अहन्तव्या।

अर्थात् गाय स्तुति की पात्र होने से इडा, रमयित्री होने से रन्ता, इसके दूध की यज्ञ में आहुति दी जाने से हव्या, चाहने योग्य होने से काम्या, आह्लाददायिनी होने से चन्द्रा, मन- शरीर आदि को ज्योति प्रदान करने से ज्योता, अखण्डनीय होने से अदिति, दुग्धवती होने से सरस्वती, महिमाशालिनी होने से मही, विविध रूपों में श्रुत होने से विश्रुति तथा न मारी जाने योग्य होने से अघ्न्या कहलाती है।

वैदिक कोश निघण्टु में गाय के ९ नाम पठित किये गये हैं– **अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदिति, इन्द्रा, जगती** और **शक्वरी** (निघं० २।११)। अघ्न्या का अर्थ निरुक्तकार यास्क, निरुक्तटीकाकार दुर्ग एवं स्कन्द स्वामी, निघुण्टटीकाकार देवराज यज्वा आदि सभी 'अहन्तव्य' करते हैं। 'उस्रा' और 'उस्रिया' गाय के नाम इस कारण हैं, क्योंकि उसके स्तनों से दूध की धार उत्सृत होती है। 'अही' का अर्थ देवराज यज्वा ने अहन्तव्य किया है। 'मही' शब्द पूजार्थक मह धातु से बनता है, अतः 'मही' का अर्थ पूज्य है। 'अदिति' का अर्थ निरुक्त के अनुसार अखण्डनीया देवमाता है। दूध-घी के परमश्वर्यों से युक्त होने के कारण उसका नाम 'इन्द्रा' है (इदि परमैश्वर्ये)। निर्भय होकर इतस्ततः घूमने के कारण वह 'जगती' है। उसका दूध-घी शक्तिदायक होता है, अतः वह 'शक्वरी' है।

एवं स्पष्ट है कि गायवाची नामों में ऐसा कोई नाम नहीं है, जिससे गाय का वधयोग्य या भक्ष्य होना सूचित होता हो। इसके विपरीत इन नामों से उसकी पूज्यता, स्तोतव्यता, दुधारता आदि ही सूचित होती है।

गाय पूज्य है

यजु० ३.२० में कहा है कि हे गौओ, तुम पूज्य हो, तुम्हारी पूज्यता को मैं भी प्राप्त करूं– **महः स्थ महो वो भक्षीय।** इस पर महीधर का भाष्य इस प्रकार है–

यूयं महः स्थ पूज्यरूपाः स्थ। मह पूजायाम्।
अतो वो युष्माकं पूज्यानां प्रसादात् अहमपि
महो भक्षीय पूज्यत्वं सेवेय।

अथर्ववेद में लिखा है कि जो गाय के कान भी खरोंचता है, वह देवों की दृष्टि में अपराधी होता है। जो दाग कर निशान डालना चाहता है, उसका धन क्षीण हो जाता है। यदि किसी भोग के लिए इसके बाल काटता है, तो उसके किशोर मर जाते हैं, और बच्चों को भेड़िया मार डालता है। यदि गोपति की उपस्थिति में कौआ गाय के बाल नोचता है, तो उस गोपति के कुमार मर जाते हैं और उसे रोग घेर लेता है।

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम्।।
यदस्याः कस्मैचिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः।।
यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत्।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामयात्।।

अथर्व० १२.४.६-८।

अन्यत्र कहा है कि जो गाय को पैर से ठोकर मारता है उसका मैं मूलोच्छेद कर देता हूं– **यश्च गां पदां स्फुरति तस्य वृश्चामि ते मूलम्** (अथर्व० १३.१.५६)।

इस शैली के वर्णन को दार्शनिक दृष्टि से अर्थवाद कहते हैं, अर्थात् किसी पाप कर्म से रोकने के लिए उसका महान् कुफल बताना और किसी पुण्य कर्म में प्रवृत्त करने के लिए उसका महान् सुफल बताना। वेद का आशय यह है कि जो मनुष्य गाय को किसी भी प्रकार अपमानित करता या क्षति पहुंचाता है, उसका अनिष्ट होता है। जो वेद गाय के बाल भी बांका करने को अपराध मानता है, वह गोहत्या और गोमांसाहार की स्वीकृति कैसे दे सकता है, यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

गाय अवध्य है

'सरिता' के लेखक का 'अघ्न्या' शब्द के विषय में यह कथन है कि इससे सिर्फ गाय-विशेष के वध का निषेध है, न कि सभी गौओं के वध का। उदाहरण के लिए उसने **दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयम्** (ऋ० १.१६४.२७) मंत्र उद्धृत करके लिखा है कि यहां 'इयम्' (यह गाय) कह कर गाय-विशेष का बोध कराया है। परन्तु वेदों में जिन अनेक मंत्रों

में गाय के लिए 'अघ्न्या' शब्द का प्रयोग हुआ है, उन्हें देखने से उक्त बात प्रमाणित नहीं होती। ऋग्वेद के पर्जन्य-सूक्त में पर्जन्य को संबोधित कर कहा है कि तू बरस, जिससे अघ्न्याओं के लिए प्रचुर पीने का पानी हो जाए **–सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः** (ऋ० ५.८३.८)। क्या बादल बरसने से किन्हीं विशेष गौओं के लिए ही पीने का पानी जलाशयों में एकत्र होगा? इस प्रकार के उदाहरणों से सिद्ध है कि 'अघ्न्या' शब्द वेद में सभी गायों का वाचक है, न कि किन्हीं विशेष गायों का। एवं सभी गायों को वेद अहन्तव्य मानता है। अत एव महाभारत में लिखा है-

अघ्न्या इति गवां नाम क एतान् हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां बालभेत्तु यः ।।

महाभारत (पूना सं०) २५४.४५

अर्थात् गायों का नाम 'अघ्न्या' है, अतः किसी को इनकी हत्या करना उचित नहीं है। जो बैल या गाय का वध करता है, वह बड़ा अनुचित कार्य करता है।

गाय-बैल की अवध्यता के विषय में अनेक वेदमंत्र भी उद्धृत किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ–

प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय
मा गामनागामदितिं वधिष्ट।

ऋ० ८.१०१.१५

''मैं समझदार मनुष्य को कहे देता हूं कि तू बेचारी बेकसूर गाय की हत्या मत कर; वह अदिति है अर्थात् काटने-चीरने योग्य नहीं है।''

देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा
माऽवृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः।।

ऋ० ८.१०१.१६

'देवों के लिए अर्थात् दूध-घी से देवयज्ञ करने के लिए, या अतिथि-देवों का सत्कार करने के लिए अथवा देव-जनों के उपयोग के लिए जो प्राप्त होती है, उस देवी गौ को मनुष्य अल्पबुद्धि होकर मारे-काटे नहीं''।

अनागोहत्या वै भीमा मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।

अथर्व० १०.१.२९

''निरपराध की हत्या बड़ी भयंकर होती है, अतः तू हमारे गाय, घोड़े और पुरुष को मत मार''।

वेद वन्ध्या गाय के भी काटने और पकाने का निषेध करता हुआ कहता है–

यो बेहतं मन्यमानो ऽमा च पचते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः।।

अथर्व० १२.४.३८

''जो बांझ मानकर गाय को घर में पकाता है, उसके पुत्र-पौत्रों को बृहस्पति मांग लेता है, अर्थात् उसके पुत्र-पौत्र मर जाते हैं।''

बैल को भी वेदों में अघ्न्य (अहन्तव्य) कहा गया है-**गवां यः पतिरघ्न्यः** अथर्व० ९.४.१७। **विमुच्यध्वमघ्न्या देवयानाः** (यजु० १२.७३) में बहुवचनान्त अघ्न्य शब्द हैं। इसका विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में बैलों को खोलकर अध्वर्यु को दान करने में किया गया है। महीधर ने भी यहां अहन्तव्य बैल अर्थ ही किया है- **अघ्न्या अहन्तव्या गावो बलीवर्दाः।** बैल की अभक्ष्यता को बताता हुआ वेद कहता है–

सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन्।

अथर्व० ४.११.३

''जो समझदार मनुष्य बैलों को खाता नहीं (किन्तु उनसे कृषि आदि अन्य लाभ उठाता है) उसे सुप्रजा प्राप्त होती है तथा वह कष्ट में नहीं पड़ता।''

'स्वस्ति गोभ्यः' (अथर्व १.३१.४) गौओं का कल्याण हो; **''गवे च भद्रं धेनवे'** (ऋ० ८.४७.१२) बैल और गाय का मंगल हो; **'न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि'** ऋ० ६.२८.४, गौएं वधालय में न जाएं; **'यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च'** अथर्व० ८.३.२५, जो गोहत्या करके गाय के दूध से लोगों को वंचित करे, तलवार से उसका सिर काट दो; **गां मा हिंसीरदितिं विराजम्'** (यजु० १३.४३) गाय का वध मत कर, जो अखण्डनीया है, तेजोमयी है; **'मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त'** अथर्व० ७.५.५, वे लोग मूढ़ हैं, जो कुत्ते से या गाय के अंगों से यज्ञ करते हैं; **'अन्तकाय गोघातम्** (यजु० ३०.१८) गोहत्यारे को प्राण-दण्ड दो। इत्यादि मंत्रों से स्पष्ट है कि वेद की दृष्टि में गाय-बैल न यज्ञ में बलि देने के निमित्त वध्य हैं, न ही मांस खाने के निमित्त।

गाय की कौन-सी चीजें भक्ष्य हैं?

वेदों में गोपालन का उद्देश्य यज्ञार्थ तथा अपने उपयोगार्थ गोदुग्ध और गोघृत प्राप्त करना है, न कि मांस प्राप्त करना। यज्ञाग्नि को कहा गया है कि तू मधुर गोघृत का पान करके हमारी वैसे ही रक्षा कर, जैसे पिता पुत्र की करता है- **घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षता-दिमान्त्स्वाहा** यजु० ३५.१७। हे यज्ञाग्नि, गायें तेरे लिए घृत प्रदान करें- **घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने** अथर्व० ७.८२.६। ऋग्वेद में लिखा है– **किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्** ऋ० ३.५३.१४ अर्थात् अनार्य देशों में गायों का भला क्या लाभ है, क्योंकि वहां के लोग न यज्ञार्थ दूध दुहते हैं, न यज्ञकुण्ड तपाते हैं।

गाय को यजुर्वेद में उरुधारा तथा पयस्वती कहते हुए कामना की गयी है कि वह हमें दूध की सहस्र धारें प्रदान करे- **सा नः सहस्रं धुक्ष्व उरुधारा पयस्वती** यजु० ८.४२। उनसे घृत भी मांगा गया है। गायें हमें घृत से सींचें -**घृतेनास्मान् समुक्षत** अथर्व० ७.७५.२। वह हमारे लिए घृत का दोहन करती हैं-**घृतं दुहानाम्** यजु० १३.४९। गायें घृत की जननी हैं-- **गावो घृतस्य मातरः** अथर्व०६.९.३।

वैदिक गृहस्थ यह उद्गार प्रकट करता है कि मैं अपने शरीर में गायों का दूध सींचता हूं तथा गोघृत से अपने अन्दर बल और वीर्य को उत्पन्न करता हूं; मेरे घर के वीर भी गोदुग्ध और गोघृत से संसिक्त रहते हैं, मुझ गोपति के पास गौएं स्थिर रूप से बनी रहती हैं।

संचिन्वामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ।

अथर्व० २.२६.४

अन्यत्र वैदिक स्तोता कामना प्रकट करता है कि सर्वोत्पादक बृहस्पति प्रभु मुझे पशुओं का दूध और ओषधियों का रस भोजन के लिए प्रदान करता रहे–

पयः पशूनां रसमोषधीनां
बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्।

अथर्व० १९.३१.५

वेदों में ऐसा एक भी मंत्र नहीं है, जिसमें यह कहा गया हो कि मैं गोमांस की हवि देने के लिए या गोमांस खाने के लिए गौएं पालता हूं।

क्या इन्द्र देवता बैल खाता है?

वेद का इन्द्र देवता बैल का मांस खाता है, इसकी पुष्टि में 'सरिता' के लेखक ने ऋग्वेद के दो मंत्र उद्धृत किए हैं, मंडल १०, सूक्त २८, मंत्र ३ और मण्डल १०, सूक्त ८६, मंत्र १४। इनमें से प्रथम में इन्द्र को कहा गया है कि यजमान तेरे **वृषभों** को पकाते हैं, और तू उन्हें खाता है। द्वितीय मंत्र में इन्द्र स्वयं कह रहा है कि यज्ञकर्ता लोग मेरे लिए १६ और २० **उक्षाओं** को पकाते हैं। यहां **वृषभ** और **उक्षन्** शब्दों का अर्थ वेद की शब्दप्रयोग-शैली से अनभिज्ञ लोग बैल कर लेते हैं। ऋग्वेद में लगभग २० स्थलों में अग्नि को, ६५ स्थलों में इन्द्र को, ११ स्थलों में सोम को, ३ स्थलों में पर्जन्य को, ५ स्थलों में बृहस्पति को, ५ ही स्थलों में रुद्र को साक्षात् **वृषभ** कहा गया है। ऋ०४.५८.३ में एक ऐसे **वृषभ** का वर्णन है जिसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ हैं और वह सभी मर्त्यों को ग्राह्य है। व्याख्याकारों के मतानुसार यह **वृषभ** यज्ञ या शब्द है। ऋ०५.६९.२ के अनुसार तीनों लोकों में एक-एक वृषभ स्थित है, जिसकी व्याख्या सायण ने इस रूप में की है कि पृथिवी लोक का **वृषभ** अग्नि, अंतरिक्ष का **वृषभ** वायु तथा द्युलोक का **वृषभ** आदित्य है। ऋ०७.५५.७ में एक ऐसे **सहस्रशृंग वृषभ** का वर्णन है, जो समुद्र में से निकला है। व्याख्याकारों ने इसे आदित्य बताया है।

उक्षन् शब्द भी वेद में अनेक अर्थों में आया है। ऋग्वेद में अग्नि, सोम, आदित्य, मरुत् आदि को यत्र-तत्र **उक्षा** कहा गया है। ऋ०१.१०५.१० में आकाश में स्थित पांच **उक्षाओं** का वर्णन आया है, जो वृष राशि के प्रमुख पांच तारे प्रतीत होते हैं। ऋ० १०.३१.८ में जहां उक्षा द्वारा द्यावापृथिवी के धारण का वर्णन है, सायण ने **उक्षा** का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।

जब **वृषभ** और **उक्षन्** शब्द वेद में इतने सारे अर्थों में प्रयुक्त हैं, तो 'सरिता' द्वारा उद्धृत मंत्रों में बिना विचारे वृषभ और उक्षन् शब्दों का अर्थ बैल करके इन्द्र को बलात् बैल खिलाने का अत्याचार करना कहां तक उचित है? इन्द्र स्वयं वेदों में एक बैल के रूप में चित्रित हुआ है, और बैल निरामिषभोजी होता है।

ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी इन्द्र का भोज्य धाना (भुने जौ), करम्भ (दधिमिश्रित सत्तू) और पुरोडाश (अपूप) है, तथा पेय सोमरस है, बैल उसका भोजन नहीं है।

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ।।

ऋ० ३.५२.१

यज्ञ के तीनों सवनों में इन्द्र का भोजन क्या-क्या होता है यह भी इसी सूक्त के मन्त्र ४-६ में बता दिया गया है। उसे प्रातःसवन में पुरोडाश तथा माध्यन्दिन एवं सायं सवनों में धाना और पुरोडाश अर्पित किये जाते हैं। साथ ही वह सोमपान भी करता है। निरामिषभोजी इन्द्र को आमिषभोजी बनाने का पाप तो हम न करें।

आइये, अब 'सरिता' में उद्धृत दोनों मंत्रों को क्रमशः लेते हैं।

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्
सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम्।
पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां
पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ।।

ऋ० १०.२८.३

सूक्त के प्रारम्भ में वसुक्रपत्नी ने यह उद्‌गार प्रकट किये हैं कि 'यज्ञ में अन्य सब देव तो आ गये, किन्तु मेरे श्वसुर इन्द्र नहीं आये, यदि वे आते तो धाना (भुने जव) खाते और सोम पीते तथा पूर्ण तृप्त होकर घर जाते।' वे बैल या सांड़ खाते, ऐसा उसने नहीं कहा है। इतने में ही इन्द्र आ जाता है। तब वसुक्र ने उपर्युक्त मंत्र का उच्चारण किया है कि आपके लिए सोमरस तथा वृषभ तैयार हैं। इस प्रसंग को देखते हुए यहां वृषभ का अर्थ धाना (यव) ही लेना उचित है। अब मन्त्रार्थ देखिए—

(मघवन् इन्द्र) हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र, (यत्) जब तू (पृक्षेण) अन्न के निमित्त (हूयमानः) आह्वान किया जाता है, तब यजमान (ते) तेरे लिए (मन्दिनः) तृप्तिकारक, (तूयान्) त्वरापूर्वक निकलने वाले (सोमान्) सोमरसों को (सुन्वन्ति) अभिषुत करते हैं; (त्वम् एषां पिबसि) तू इनका पान करता है। वे (ते) तेरे लिए (वृषभान्) पुष्टिदायक यवान्नों को (पचन्ति) भूनते हैं, (तेषाम् अत्सि) तू उन्हें खाता है।

यदि वृषभ का अर्थ यहां बैल ही करने का आग्रह हो, तो किस-किस का बैल अर्थ कीजिएगा? इन्द्र के तो वज्र, रथ, घोड़े, घोड़ों की रासें, आयुध, मद, बल, सोमरस निचोड़ने वाले अध्वर्यु, सोमरस और इन्द्र स्वयं सभी वृषभ हैं। (द्रष्टव्य ऋ० २.१६.५,६; ६.१९.९;६.४४.१९)।

'सरिता' में उद्धृत दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमस्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।

ऋ० १०.८६.१४

जिस सूक्त का यह मंत्र है, उसके प्रारम्भ में इन्द्र की पुत्रवधू वृषाकपायी ने इस बात पर रोष व्यक्त किया है कि याज्ञिक लोम सोमरस तो खूब अभिषुत करते हैं, पर उसे वे इन्द्र को नहीं पिलाते, जबकि वृषाकपि सोम पीकर आकण्ठ तृप्त हो जाता है। सूक्त के १३वें मन्त्र में इस आपत्ति का उत्तर देते हुए वृषाकपि कहता है कि तुम चिन्ता न करो, अब तुम्हारे श्वसुर इन्द्र को बहुत से 'उक्षा' मिलेंगे। इन्द्र को 'उक्षा' मिलने लगते हैं और वह प्रसन्न हो प्रस्तुत मन्त्र का उच्चारण करता है। प्रसंग को देखते हुए यहां 'उक्षा' का अर्थ सोमरस होना चाहिए, अन्यथा आपत्ति तो हो सोमरस न मिलने की ओर उसका परिहार किया जाए सांड खिलाकर, यह सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। अब मन्त्रार्थ देखिए। इन्द्र हर्षातिरेक में आकर अपने उद्गार प्रकट कर रहा है—

यज्ञकर्ता लोग (मे) मेरे लिए (साकं) एक साथ (पंचदश विंशतिम्) १५ और २० (उक्ष्णः) सोमों को, सोमभरी हांडियों में (पचन्ति) पकाते हैं। (उत अहं पीवः इत् अस्मि) और मैं मोटा हो गया हूं। वे लोग (मे उभा कुक्षी पृणन्ति) मेरी दोंनों कोंखों को भर देते हैं अर्थात् मुझे खूब छकाकर सोमपान करा देते हैं। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) मैं इन्द्र सबसे उत्कृष्ट हूं।

सायण ने उक्त दोनों स्थलों में वृषभ और उक्षा का अर्थ बैल ही किया है। किन्तु नवम मण्डल में ११ वार एकवचनान्त वृषभ शब्द आया है, जिसमें से ९ स्थानों पर सायण ने सोम को ही वृषभ माना है। उक्षा को पकाने का प्रथम मण्डल में भी वर्णन आता है—**उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः** (ऋ० १.१६४.४३) । वहां सायण ने बैल पकाना अर्थ न लेकर सोम को पकाने का ही अर्थ लिया है। **'सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते** (ऋ० ९.८६.४३)' में उक्षा के साथ पशु शब्द भी जुड़ा हुआ है, फिर भी सायण उक्षा का अर्थ सोम करता है, बैल पशु नहीं । तो फिर प्रस्तुत स्थलों में वृक्षभ और उक्षा का अर्थ प्रकरण-विरुद्ध बैल करना सायण को कैसे शोभास्पद प्रतीत हुआ ?

लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'ओरायन' (मृगशीर्ष) में १५ और २० (कुल ३५) उक्षाओं का तात्पर्य अश्विनी, भरणी आदि २८ नक्षत्र तथा ७ ग्रह लिया है। निरुक्तकार ने इसी सूक्त के १३ वें मन्त्र में आये **'घसत् त इन्द्र उक्षणः'** का अर्थ 'तेरा इन्द्र बैलों को खाये' न करके 'इन्द्र माध्यमिक संस्त्यानों (मेघों या ओस-कणों) का भक्षण करे, यह किया है (निरु० १२.९) । ये सब व्याख्याएं वैदिक भाषा की रहस्यमयता की ओर इंगित करती हैं। अध्यात्म में इन्द्र आत्मा है और उसके द्वारा सेवन किये जाने वाले ३५ उक्षा हैं १० प्राण, १० इन्द्रियां, मन, बुद्धि, पंचकोश और ८ योगांग । उत्कर्ष के लिए इनका परिपक्व रूप में ही सेवन या उपयोग किया जाना उचित है।

मांस देवों का भोजन नहीं है

इन्द्र क्या, किसी भी वैदिक देवता का भोजन मांस नहीं है। वेद ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि देवों का भाग जल, ओषधियों का रस, घृत और सोम है–

देवानां भाग उपनाह एष
अपां रस ओषधीनां घृतस्य।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो
बृहन्नद्रिरभवच्छरीरम्!

अथर्व० ९.४.५

(एषः) यह (देवानां भागः) देवों का भाग (अपनाहः) नियत किया गया है, जो (अपां) जलों का, (ओषधीनां) ओषधियों का और (घृतस्य) घृत का (रसः) रस है। (शक्रः) इन्द्र ने (सोमस्य भक्षम्) सोम के भोजन को (अवृणीत) चुना है, (बृहन् अद्रिः) पत्थर की विशाल कूंडी (शरीरम् अभवत्) जिस सोम को पीसने वाली है।

और देखिए। गाय को कहा जा रहा है–

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु।।

अथर्व० १०.९.१२

''जो देवता द्युलोक में स्थित हैं, जो अन्तरिक्ष में स्थित हैं और जो भूमि पर स्थित हैं, उन सबके लिए, हे गाय, तू सर्वदा क्षीर, घृत और

मधु का ही दोहन कर।'' यहां 'सर्वदा' शब्द ध्यान देने योग्य है। देवों के लिए सर्वदा क्षीरादि का ही दोहन गाय ने करना है, मांस का दोहन कभी नहीं।

लाजीन् शाचीन् यव्ये गव्य
एतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापते।

यजु० २३.८

'हे देवो, तुम खीलें, सत्तू, भुने जौ, गाय के दूध-घी से बनी चीजें, इस भोजन को खाओ। हे प्रजापति, तुम भी इसी भोजन को खाओ।''

देवता यदि मांसभोजी होते , तो उन्हें क्रव्यात्, पिशाच आदि कहा जाता। किन्तु मांसभोजी के पर्यायवाची शब्द क्रव्यात्, पिशाच आदि राक्षसों के वाचक हैं, जिनके विनाश का आदेश वेद देता है।

स्वाभावतः मनुष्य शाकभोजी है। उसके दांत, आंत आदि की रचना शाकभोजन के अनुरूप है। पशु-पक्षियों में जो शाकाहारी हैं, वे मांसाहार कभी नहीं करते, वे पक्के व्रतनिष्ठ हैं। ईश्वरीय सृष्टि में एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसे यद्यपि प्रकृति ने शाकभोजी बनाया है, तो भी वह मांसभोजी बन रहा है, यहां तक कि उसने अपने शाकभोजी देवताओं को भी मांसभोजी बना लिया है।

विवाह में गोमांस भक्षण?

'सरिता' के लेखक ने भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित 'वैदिक एज', मैकडानल और कीथ द्वारा लिखित 'वैदिक इंडैक्स' तथा बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'वैदिक कोश' का हवाला देते हुए लिखा है कि विवाह-संस्कार के समय भोजन के लिए गौएं मारी जाती थीं और मेहमानों को उस अवसर पर गौओं का मांस परोसा जाता था। पता दिया है ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र का –

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यते गावो ऽर्जुन्योः पर्युह्यते।।

ऋ० १०.८५.१३

आश्चर्य है कि इस मन्त्र से विवाह में गोमांस परोसे जाने का अभिप्राय विद्वान् लेखकों ने कैसे ले लिया। इस मन्त्र पर सायण का भाष्य तो यह है–

सोमाय प्रदित्सितायाः सूर्याया वहतुः, कन्याप्रियार्थं दातव्यो गवादिपदार्थो वहतुः, स च प्रागात् तस्या अपि पूर्वमगच्छत्। यं वहतुं सविता अस्याः पिता अवासृजत् अवसृष्टवान्, प्रादादित्यर्थः। कदा सागच्छत्, कदा वहतुरित्युभयोः काल उच्यते। अघासु मघास्वित्यर्थः, मघानक्षत्रेषु गावः सवित्रा दत्ता गावः सोमगृहं प्रति हन्यते दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्। अर्जुन्योः फल्गुन्योरित्यर्थः, तयोर्नक्षत्रयोः सवितुः सकाशात् परि सोमगृहं प्रति उह्यते नीयते रथेन।

अर्थात् सूर्या (वधू) के लिए दिया गया दहेज वर (सोम) के घर सूर्या से पहले ही चला गया, जिसे सूर्या के पिता सविता ने भेजा। सविता द्वारा दहेज में दी गयी गौएं सोम के घर की ओर मघा नक्षत्रों में डण्डों से हांकी गयीं और फल्गुनी नक्षत्रों में सूर्या अपने पिता सविता के पास से सोम के घर की ओर रथ से ले जायी गयी।

एवं सायण के अनुसार मन्त्रोक्त गौएं दहेज की गौएं हैं, और 'हन्यते' में हन् धातु का अर्थ वध करना नहीं, अपितु हांकने के लिए डण्डे से ताड़न करना है। विवाह-संस्कार में वर के लिए गोदान की विधि गृह्यसूत्रों में भी है और आज भी प्रचलित है।

'गावः' का अर्थ सूर्य की किरणें लें, तो माघ महीने में सूर्य-किरणें शीत के कारण मन्द हो जाती हैं, और फाल्गुन मास में उनका तेज फिर वापिस आ जाता है। 'गावः' का अर्थ वाणियां करें, तो हन् धातु का गति अर्थ (हन् हिंसागत्योः) लेकर मंत्र के उत्तरार्ध का यह भाव होगा कि माघ मास में वाणियां प्रेरित की जाती हैं अर्थात् वाग्दान होता है और फाल्गुन में विवाह किया जाता है।

यदि 'गावः हन्यन्ते' का अर्थ गो-वध ही अभिप्रेत हो, तो यह कैसी बेतुकी बात होगी कि माघ महीने में गौएं काटी जाती हैं और फाल्गुन में विवाह की दावत में उनका मांस परोसा जाता है। फाल्गुन में ही गौएं क्यों नहीं काटी जातीं, जिससे ताजा मांस खाने को मिले। विवाह में गोमांस की दावत कराने वाले विद्वानों ने ग्रिफिथ और ह्विट्ने की ही नकल कर ली प्रतीत होती है। विल्सन तो सायण का ही अनुसरण करते हैं।

गाय की चर्बी से पितृयज्ञ?

सरिता के लेखक ने युजर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र का महीधर-भाष्य देते हुए गाय की चर्बी से पितरों को तृप्त करने और परिणामस्वरूप कामनाएं पूरी होने की बात कही है

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्या उप तान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्नमन्ताꣳ स्वाहा।।

यजु० ३५.२०

स्वामी दयानन्द ने इस मंत्र के भाष्य में 'वपा' का अर्थ भूमि, 'पितृ' का अर्थ पिता-माता व विद्या की शिक्षा देने वाले विद्वान् और 'मेदसः कुल्याः' का अर्थ पानी की स्निग्ध नहरें किया है–**वपाम् वपन्ति यस्यां भूमौ ताम्। पितृभ्यः जनकेभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्यो वा, मेदसः स्निग्धाः।, कुल्याः जलप्रवाहधाराः।** अभिप्राय यह होगा कि हे ज्ञानी राजन्, आप श्रेष्ठ विद्वानों को खेती-योग्य भूमि प्राप्त कराइये, जहां आप इन्हें दूर-दूर बसा हुआ जानते हैं। सिंचाई के लिए पानी की नहरें भी इनके निकट पहुंचें, जिससे इनकी सदिच्छाएं पूर्ण हों।

यहां पितरों के लिए अग्नि में चर्बी की आहुति देने का अर्थ असंगत है, क्योंकि पितरों का भोजन तो 'स्वधा' (अन्न) है, न कि चर्बी। देखिए, ''**पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः**'' (यजु० १९.३६) पर महीधर का ही भाष्य–

पितृभ्यः स्वधासंज्ञकं नमः अन्नम् अस्तु 'स्वधा वै पितृणाम् अन्नम्' इति श्रुतेः। यद्वा पितृभ्यः स्वधा अन्नम् अस्तु, तेभ्यो नमस्कारश्चास्तु। कीदृशेभ्यः? स्वधायिभ्यः स्वधाम् अन्नं प्रति यन्ति गच्छन्तीत्येवंशीलाः स्वधायिनः तेभ्यः।

गोवध की उपमा

लेखक लिखता है कि ''ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ८९, मन्त्र १४ से स्पष्ट होता है कि गोहत्या ऐसी मामूली बात थी कि बातचीत में उपमा के तौर पर इसका प्रयोग होता था। देखिए, **मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते।** अर्थात्, हे इन्द्र जैसे गोहत्या के स्थान पर गौएं काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्र से मित्रद्वेषी राक्षस लोग कट कर पृथ्वी पर सदा के लिए सो जाएं।''

जब शतशः प्रमाण वेदों में गोहत्या के विरोध में उपलब्ध हैं, तब जहां भी मौका मिले, जानबूझ कर गोहत्या-परक ही अर्थ करना वेद के

प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यहां ऋग्वेद में पग-पग पर आने वाले इन्द्र-वृत्र-युद्ध की ओर संकेत है। वृत्र (बादल) इद्र की गौओं (सूर्य की किरणों) को अपने बाड़े में बंद कर लेता है, जिससे वे पृथिवी पर नहीं आने पातीं। मन्त्रार्थ यह होगा कि बादल का वध (शासन) हो जाने पर सूर्य की किरणें जैसे पृथिवी पर आ जाती हैं, वैसे ही मित्रद्रोही शत्रु कट कर पृथिवी पर सो जाएं।

लेखक ने उपमा की ही बात उठायी है, तो गाय की निम्नलिखित उपमाओं पर ध्यान दीजिए और देखिए कि उनसे क्या सिद्ध होता है। **ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गां न दोहसे हुवे** (ऋ० ६.४५.७), मैं ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्रह्मा को पुकारता हूं, जैसे दुहने के लिए गाय को पुकारते हैं। **'अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव'** (अथर्व० ७.५०.९), जैसे दुधार गाय दूध-रूप फल प्रदान करती है, ऐसे ही हे मेरी ज्ञानेन्द्रियो, तुम सफल ज्ञान मुझे प्रदान करो। एक और मन्त्र द्रष्टव्य है—

अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य संदृग् देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः ।।
ऋ० ४.१.६

इस मन्त्र में सुभग अग्नि की सम्यक् दृष्टि (उत्तम देखभाल) मनुष्यों में कैसी स्पृहणीय है, यह बताने के लिए गोसम्बन्धी दो उपमाएं उत्तरार्ध में दी गयी हैं। पहली उपमा यह है कि जैसे गाय का पवित्र घृत स्पृहणीय होता है, दूसरी यह कि जैसे गाय का दान स्पृहणीय होता है।

क्या शवदाह में गोवध करें?

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'वैदिक कोश' का हवाला देते हुए लेखक लिखता है कि "शवदाह के लिए भी गोवध किया जाता था। ऋग्वेद १०.१६.७ में आता है— **'अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व संप्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च'**, अर्थात् हे मृत शरीर, तुम गोचर्म के साथ अग्निशिखास्वरूप कवच को धारण करो। तुम मेद और मांस से आच्छादित होओ।"

यह अर्थ सायण का ही है, किन्तु मांस शब्द लेखक ने अपनी ओर से जोड़ दिया है या सायण और ग्रिफिथ दोनों के अर्थो को मिलाकर उक्त

अर्थ तैयार किया है। मन्त्र में 'गोभिः' और 'पीवसा मेदसा' शब्द आये हैं। 'गोभिः' से सायण ने गोचर्म और ग्रिफिथ ने गोमांस या मारी हुई गाय के अंगों के टुकड़े अर्थ लिया है। 'पीवसा मेदसा' का दोनों ने स्थूल मेद (चर्बी) अर्थ किया है। मन्त्र के पूर्वार्ध में वर्णित क्रिया किस लिए की जाए, इसका हेतु उत्तरार्ध में यह बताया है कि जिससे चिता की अग्नि शव के अगों को इधर-उधर छिटकाये नहीं—**नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते।** इस हेतु को ध्यान में रखते हुए ही पूर्वार्ध का अर्थ करना होगा। पहले **'गोभिः'** शब्द को लीजिए। इसका अर्थ जीवित या मारी हुई पूरी गाय तो किसी ने नहीं किया, गव्य अर्थ ही लिया है, चाहे वह गोचर्म हो या गोमांस। 'गो' का एक अर्थ पृथिवी भी होता है, निघण्टु कोश में पठित पृथिवीवाची २१ नामों में सबसे पहला ही नाम 'गौ' है। पृथिवीरूप गौ के गव्य हैं मिट्टी के ढेले। चिता के चारों ओर मिट्टी के ढेले चुन दिये जाएं, जिससे जलते हुए शव के अंग इधर-उधर छिटकें नहीं। अग्नि में गाय को काट कर डालने से यह प्रयोजन कैसे पूरा होगा, समझ में नहीं आता। एक मुर्दे को जलाने का भार अग्नि पर पहले ही है, दो-तीन मुर्दों के मांस को जलाने का भार और आ पड़ेगा।

पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण सुगन्धित कन्दमूल, वृक्षों की गोंद, पत्र-पुष्प, चन्दन आदि भी गव्य हैं। 'गोभिः' पद से शव को उनसे ढकना भी अभिप्रेत हो सकता है।

मन्त्र में दूसरा शब्द **'पीवसा मेदसा'** है। 'पीवस्' का अर्थ स्थूल, प्रचुर आदि होता है। 'मेदस्' शब्द स्नेहार्थक मिद धातु से बना है। प्रसंगानुसार किसी भी स्नेहयुक्त द्रव्य को मेदस् कह सकते हैं। ऋ०३.२१.१,४ में 'मेदस्' घृत के विशेषण रूप में आया है-**'मेदसो घृतस्य'।** जैसे अध्वर शब्द कहीं यज्ञ के विशेषण रूप में आता है, कहीं स्वतन्त्र रूप में साक्षात् यज्ञवाचक-रूप में प्रयुक्त होता है, वैसे 'मेदस्' शब्द घृत का वाचक भी हो सकता है। अतः यहां 'पीवसा मेदसा' से प्रचुर घृत अभीष्ट होना चाहिए।

एवं वेद के उक्त मन्त्र से यह प्रेरणा लेनी उचित है कि शवदाह के समय चिता के चारों ओर कुछ दूरी पर मिट्टी के गारे से छोटी दीवार-सी बना दी जाए और प्रचुर सुगन्धित हवन सामग्री एवं घृत से शव को आच्छादित कर दें तथा घृत-सामग्री की आहुति भी डालें। अन्त्येष्टि

संस्कार के मन्त्रों में अन्यत्र स्पष्ट ही कहा है–**'यमाय घृतवद्धविर्जुहोत'**, **'यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन'** (ऋ० १०.१४.१४,१५) अर्थात् शवदाह के समय घृतयुक्त मधुमत्तम (मधुर, सुगन्धित) हवन-सामग्री की आहुति दो।

अतिथिग्व शब्द पर विचार

लेखक ने उक्त 'वैदिक कोश' को ही उद्धृत करते हुए लिखा है कि–''ऋग्वेद (७.१९.८) में दिवोदास नामक एक वैदिक राजा का उल्लेख मिलता है। उनके नाम के साथ 'अतिथिग्व' विशेषण मिलता है। इसका अर्थ 'अतिथि के लिए गौ मारने वाला' किया गया है।''

आइये, इस मंत्र का सायण-भाष्य देखें। सायण लिखते हैं-**'पूजया अतिथीन् गच्छतीति अतिथिग्वः'** अर्थात् अतिथिग्व का अर्थ है 'पूजाभाव के साथ अतिथियों के समीप जाने वाला' । इसी प्रकार ऋ० १.१३०.७ में अतिथिग्व का निर्वचन करते हुए सायण लिखते हैं–**अतिथिग्वाय पूजार्थम् अतिथीन् गच्छते'** । अन्यत्र सायण ने यह अर्थ भी किया है कि अतिथि जिसके समीप पहुंचते हैं- **अतिथिग्वम् अतिथिभिर्गन्तव्यम्** (ऋ० १.११२.१४ का भाष्य)। सायण के मतानुसार इस शब्द में अतिथिपूर्वक गम् धातु से औणादिक ड्व प्रत्यय हुआ है। एवं गाय के साथ इस शब्द का कोई संबंध नही है। कथंचित् गाय के साथ सम्बन्ध जोड़ें भी तो गाय का मारना अर्थ कहां से आ गया? सीधा अर्थ यह होगा कि जिसकी गौएं दुग्ध, घृत, दही आदि से अतिथि का सत्कार करने के लिए हैं।

गोघ्न शब्द पर विचार

गोघ्न शब्द के विषय में 'सरिता' के लेखक ने लिखा है कि ''यह शब्द इस तथ्य का परिचायक है कि अतिथि के लिए गौ मारी जाती थी। अतिथि के साथ गो-वध का बहुत समय तक सीधा सम्बन्ध रहने के कारण दोनों में तादात्म्य स्थापित हो गया और अतिथि के लिए 'गौ मारने या मरवाने वाला (गोघ्न) शब्द प्रचलित हो गया ।''

किन्तु यह स्थापना भी भ्रान्तिमूलक है। चार वैदिक संहिताओं को लें, तो उनमें केवल एक बार यह शब्द आया है–**आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम** (ऋ०१.११४.१०)। यहां गोघ्न का अर्थ अतिथि नहीं है, किन्तु 'गोहत्या'

है। कहा गया है कि गोहत्या तुझसे दूर रहे अर्थात् तू गोहत्या मत कर। इसी के प्रकाश में अतिथि-वाचक 'गोघ्न' शब्द को देखना होगा। उसमें गोहत्या की गंध भी गृहीत नहीं करनी चाहिए।

'गोघ्न' शब्द अतिथि का वाचक ब्राह्मणकाल में हुआ। पाणिनि के सूत्र 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (पा० ३.४.७३) के अनुसार सम्प्रदान-कारक में यह शब्द निपातन से सिद्ध होता है। काशिकावृत्ति में लिखा है- **'आगताय तस्मै दातुं गां घ्नन्तीति गोघ्नोऽतिथिः'**, अर्थात् अतिथि गोघ्न कहलाता है, क्योंकि उसके आने पर उसे दान करने के लिए गाय को हांक कर लाते हैं।

यहां हन् धातु का प्रयोग देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। हन् धातु के गति और मारना दोनों अर्थ धातुपाठ में पठित हैं, इसका संकेत पहले किया जा चुका है (हन् हिंसागत्योः) । 'गोघ्न' को समान कोटि का एक अन्य शब्द 'हस्तघ्न' है, जिसे निरुक्तकार ने युद्धोपकरणों में गिना है। इसका अर्थ है 'दस्ताना', जो कि युद्ध में प्रत्यंचा के आघात से हाथ को बचाने के लिए हाथ पर पहन लिया जाता है। निरुक्त में इसका निर्वचन किया है- **'हस्ते हन्यते'** (निरु० ९.१४), अर्थात् जिसे हाथ पर चढ़ाया जाए। जैसे इस शब्द में हन् धातु हिंसार्थक न होकर गत्यर्थक है, वैसे ही गोघ्न में भी समझनी चाहिए। एवं 'गोघ्न' शब्द से अतिथि के लिए गाय का वध करना सूचित नहीं होता।

शब्दकल्पद्रुम कोश का प्रमाण देते हुए लेखक ने लिखा है कि 'वेदों में गोमेध नामक एक यज्ञ का वर्णन मिलता है, जिसमें गौ की बलि दी जाती थी'। किन्तु चारों वेदों में गोमेध शब्द कहीं नहीं आता। अथर्ववेद के रुद्रसूक्त में रुद्र को पशुपति कहते हुए उसके प्रमुख पांच पशु परि-गणित किये गये हैं—गाय, अश्व, पुरुष, बकरी और भेड़।

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते ।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ।।
अथर्व० ११.२.९

रुद्र पशुपति इस कारण है, क्योंकि वह सब पशुओं (प्राणियों) का रक्षक है। परन्तु आश्चर्य है कि मध्यकाल में किन्हीं लोगों ने वेद के अभिप्राय के विरुद्ध रुद्र की तृप्ति के लिए इन प्राणियों के होम की

कल्पना कर ली और उन यज्ञों को वे गोमेध, अश्वमेध, पुरुषमेध, अज-मेध और अविमेध कहने लगे। परन्तु इन यज्ञों का पशुवध वाला स्वरूप निश्चय ही अवैदिक है। वेद के पशुरक्षक को हमने पशुभक्षक बना दिया, इससे बड़ा अनर्थ क्या हो सकता है? अतः चाहे कोई कोशकार हो, चाहे विदेशी या एतद्देशीय प्रसिद्ध विद्वान् हो, वेदविरोधी होने से उसका कथन स्वीकार्य नहीं हो सकता।

स्वामी दयानन्द का मत

लेखक ने स्वामी दयानन्द को भी पशुवधपरक गोमेधादिक यज्ञो का समर्थक लिखकर भ्रम फैलाने का प्रयास किया है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि वे यज्ञों में पशुवध के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश समु० ११ में स्पष्ट घोषणा की है कि ''घोड़े, गाय आदि पशु तथा मनुष्य मारके होम करना कहीं नहीं लिखा। केवल वाममार्गियों के ग्रंथों में ऐसा अनर्थ लिखा है।'' स्वामी जी का विचार है कि जब यज्ञों में पशुहिंसा आदि अनाचार चरम सीमा पर पहुंच गया तब उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वेदादि शास्त्रों का निन्दक बौद्ध व जैन मत प्रचलित हुआ और चार्वाक सम्प्रदाय का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिनकी नास्तिकता का खंडन शंकराचार्य को करना पड़ा।

गौ के तो स्वामी जी इतने भक्त थे कि उन्होंने 'गोकरुणानिधि' पुस्तक लिखी है। इसमें हिसाब लगाकर बताया है कि एक गाय की एक पीढ़ी के बछियों-बछड़ों से प्राप्त दूध और अन्न से एक बार में चार लाख दस हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है, जब कि एक गाय के मांस से अनुमानतः केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं। इसी पुस्तक में स्वामी जी ने गोकृष्यादिरक्षिणी सभाएं बनाने की प्रेरणा की है तथा उनके उद्देश्य एवं नियमोपनियम भी लिखे हैं। उन्होंने देश में गाय-बैल-भैंस की हत्या को रोकने के निमित्त गवर्नर-जनरल द्वारा महारानी विक्टोरिया के पास प्रार्थनापत्र भेजने के लिए तीन करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर कराने का सक्रिय अभियान चलाया था। ऐसा व्यक्ति यज्ञों में गाय आदि पशुओं की बलि देने का पक्ष लेगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

'सरिता' के लेखक ने अपने लेख में वेदों के जो प्रमाण दिये हैं, उन सब पर हमने विचार कर लिया है। इसके अतिरिक्त गाय के विषय में वैदिक भावना क्या है, यह भी प्रदर्शित किया है। इसे देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यदि कभी कुछ लोग इस देश में गोहत्या एवं गोमांसभक्षण करते भी रहे हैं तो उसे वेदानुमोदित नहीं कहा जा सकता।

वृष्टियज्ञ वैदिक

यास्काचार्य ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में वृष्टियज्ञ द्वारा वर्षा कराये जाने के संबन्ध में एक कथानक लिखा है। देवापि और शन्तनु दो कुरुवंशी सगे भाई थे, जिनमें देवापि बड़ा था। नियमानुसार पिता के बाद देवापि को राज्य मिलना चाहिए था। किन्तु शन्तनु छोटा होते हुए भी स्वयं राजा बन बैठा। यह देख देवापि तप करने जंगल में चला गया। तब बारह वर्ष तक शन्तनु के राज्य में वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणों ने उसे कहा कि तूने यह अधर्म किया है कि बड़े भाई के होते हुए स्वयं राजा बन गया है, इस कारण तेरे राज्य में वर्षा नहीं हो रही। यह सुनकर शन्तनु बड़े भाई देवापि के पास पहुंचा और उससे राजा बनने की प्रार्थना की। पर देवापि ने राजा बनना स्वीकार नहीं किया और कहा कि राजा तो तुम ही रहो, मैं तुम्हारा पुरोहित बन जाता हूं और वृष्टियज्ञ कराता हूं, तब वर्षा अवश्य होगी। देवापि ने बृहस्पति को ब्रह्मा बनाकर वृष्टियज्ञ कराया, जिसके परिणामस्वरूप प्रचुर वर्षा हुई।

यह कथानक ऋग्वेद के एक सूक्त (मण्डल १०, सूक्त ९८) के आधार पर रचा गया है, जिसे निरुक्तकार ने वर्षकामसूक्त नाम दिया है। इस सूक्त के दो मंत्रों की व्याख्या भी निरुक्त में की गयी है। किसी वैदिक प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए उस पर कथानक रचने की परिपाटी पहले से चली आ रही है। उन कथानकों को देखकर बाद के लोगों को वेदों में मानव-इतिहास का भ्रम होने लगा। जब किसी वैदिक सूक्त पर कहानी रची जाती है तब स्वभावतः रोचकता लाने के लिए उसमें कुछ ऐसी बातें जोड़ दी जाती हैं, जिनका वेदमंत्रों में कोई उल्लेख नहीं होता। यही बात प्रस्तुत कहानी में भी हुई है। देवापि, शन्तनु और बृहस्पति नाम तो सूक्त में पठित हैं। देवापि द्वारा बृहस्पति के निर्देशन में शन्तनु के लिए वृष्टि-यज्ञ कराये जाने तथा उससे वर्षा होने का वर्णन भी है। परन्तु देवापि और शन्तनु के कुरुवंशी भाई होने, शन्तनु के छोटे होते हुए भी राजा बन जाने एवं बारह वर्ष तक वृष्टि न होने का कोई उल्लेख नहीं है, वह कथाकार की अपनी कल्पना है। पर उससे सूक्त के

प्रतिपाद्य विषय में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सूक्तगत मंत्रों के अर्थों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद के अनुसार वृष्टियज्ञ द्वारा वर्षा करायी जा सकती है।

निरुक्त में देवापि और शन्तनु नामों का यौगिक अर्थ दिया गया है। यहां विस्तार में न जाकर इन शब्दों में निहित सामान्य अर्थ देख लेना पर्याप्त होगा। देव शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ बादल भी होता है, आप् धातु प्राप्ति अर्थ में आती है। जो बादल को प्राप्त करने या बरसाने की विद्या जानता है वह देवापि कहाता है। मंत्र में देवापि का एक विशेषण आर्ष्टिषेण आया है। आर्ष्टि गत्यर्थक ऋष् धातु से बना है, जिसका अर्थ आहुति है, षेण सेना शब्द का है। वृष्टि कराने के लिये आहुति ही जिसकी सेना का काम करती है वह आर्ष्टिषेण है। इसप्रकार आर्ष्टिषेण देवापि वृष्टियज्ञ का राज-पुरोहित है।

शन्तनु वृष्टियज्ञ का यजमान है। यह शब्द शम् और तनु से बना है। शम् कल्याणवाची और तनु शरीरवाची है। सब शरीरों या शरीरधारियों का कल्याण चाहने वाला राजा शन्तनु है। अनावृष्टिकाल में सबका कल्याण वर्षा द्वारा ही संभव है, अतः ऐसे समय राजा को वृष्टियज्ञों का आयोजन करना चाहिए, यह इससे सूचित होता है। मंत्रागत तीसरा पात्र बृहस्पति है, जिसका अर्थ है 'वाणी एवं विद्या का स्वामी'। वह वृष्टियज्ञ का ब्रह्मा बनता है।

इतनी भूमिका के पश्चात् अब उक्त सूक्त के कतिपय मंत्रों का अर्थ दर्शाते हैं।

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर् निषीदन् देवापिर् देवसुमतिं चिकित्वान् ।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् बर्ष्या अभि ।।५।।

मन्त्रार्थ– (देवसुमतिं चिकित्वान्) बादल की अनुकूलता का ज्ञाता, (ऋषिः) वेदार्थवेत्ता, (आर्ष्टिषेणः) आहुतिरूप सेना वाला (देवापिः) राज-पुरोहित (होत्रम्) वृष्टियज्ञ में (निषीदन्) बैठता है। (सः) वह (उत्तरस्मात्) ऊपर के समुद्र अंतरिक्ष से (अधरं समुद्रम्) निचले समुद्र की ओर (दिव्याः) आकाश के (वर्ष्याः अपः) वर्षा-जलों को (अभि असृजत्) छुड़ा लाता है।

अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभिर् निवृता अतिष्ठन्।
ता अद्रवन्नार्ष्टिषेणेन सृष्टा देवापिना प्रेषिता मृक्षिणीषु।।६।।

मन्त्रार्थ–(अस्मिन् उत्तरस्मिन् समुद्रे अधि) इस उपरले समुद्र अंतरिक्ष में (आपः) मेघजल (देवेभिः) प्राकृतिक शक्तियों से (निवृताः) रुके हुए (अतिष्ठन्) स्थित होते हैं। (ताः) वे रुके हुए मेघजल (आर्ष्टिषेणेन देवापिना) आहुति-रूप सेना वाले राज-पुरोहित द्वारा (सृष्टाः) विमुक्त किये हुए, (प्रेषिताः) गति दिये हुए (मृक्षिणीषु) साफ की हुई खेत की भूमियों पर (अद्रवन्) बरस पड़ते हैं।

यद् देवापिः शंतनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर् वाचमस्मा अयच्छत्।।७।।

मन्त्रार्थ–(यत्) जब (शंतनवे) कल्याणेच्छु यजमान के लिए (देवापिः पुरोहितः) वृष्टि कराने की विद्या का ज्ञाता पुरोहित (कृपयन्) कृपा करता हुआ (अदीधेत्) यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करता है, तब (देवश्रुतम्) विद्वानों में प्रसिद्ध, (वृष्टिवनिम्) वर्षा के लिए प्रयत्नशील उस पुरोहित की (रराणः) सहायता करता हुआ (बृहस्पतिः) यज्ञविद्या का ज्ञाता वेदवित् ब्रह्मा (अस्मै) इसके हितार्थ (वाचम्) इसकी वाणी को अर्थात् मंत्रपाठ को (अयच्छत्) नियंत्रित करता है।

यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमन्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम्।।८।।

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यं त्वा) जिस तुझको (शुशुचानः) तेजस्वी एवं पवित्र (आर्ष्टिषेणः) आहुति-रूप सेना वाला (मनुष्यः) मनुष्य (देवापिः) राज-पुरोहित (समीधे) प्रज्वलित करता है, वह तू (विश्वेभिः देवेभिः) सब विद्वान् ऋत्विजों से (अनुमन्यमानः) आहुति द्वारा प्रहर्षित किया जाता हुआ (वृष्टिमन्तं पर्जन्यम्) वृष्टिजल से भरे हुए बादल को (प्र ईरय) बरसने के लिए प्रेरित कर।

अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहाऽ पामीवामप रक्षांसि सेध।
अस्मात् समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽ पां भूमानमुप नः सृजेह।।२।।

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे वृष्टियज्ञ की अग्नि, तू (मृधः) वृष्टि-प्रतिबंधक विघ्नों को (वि बाधस्व) दूर कर दे। (दुर्गहा) कठिनाई से पकड़ में आने वाली रुकावटों को (वि) दूर कर दे। (अमीवाम्) अनावृष्टि के कारण फैले हुए रोगों को (अप सेध) दूर कर दे, (रक्षांसि) रोगकृमियों को (अप) दूर कर दे। (बृहतः दिवः) विशाल अंतरिक्ष के (अस्मात् समुद्रात्)

इस बादल से (नः) हमारे लिए (इह) इस भूमि पर (अपां भूमानम्) प्रचुर वर्षाजलों को (अप सृज) छुड़ा कर ला।

सूक्त में कुल बारह मंत्र हैं, जिनमें से पांच मंत्रों का अर्थ ऊपर दिया गया है, जिससे बिल्कुल स्पष्ट है कि वेद की दृष्टि से यज्ञ द्वारा वर्षा करायी जा सकती है। उक्त मंत्रार्थों से वर्षकामेष्टि के संबन्ध में निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है

१. यज्ञ द्वारा वर्षा कराना एक विज्ञान है, जिसे वर्षकामेष्टि-विज्ञान या वृष्टि-विज्ञान कहा जा सकता है।

२. पुरोहित को उस विज्ञान का पण्डित होना चाहिए, तभी वह वर्षा कराने में सफलता पा सकता है।

३. बादल आकाश में विद्यमान हों, किसी बाधा के कारण बरस न रहे हों, तो यज्ञ द्वारा उस बाधा को दूर करके प्रचुर वर्षा करायी जा सकती है।

४. अनावृष्टि से उत्पन्न रोग, महामारियों आदि को भी यज्ञ द्वारा दूर किया जा सकता है।

उक्त वृष्टि-सूक्त के अतिरिक्त वेदों में अनेक मन्त्र ऐसे भी पाये जाते हैं, जिनमें अग्नि को वर्षा करने के लिए कहा गया है। उन्हें भी वृष्टि-यज्ञ के पक्ष में गृहीत किया जा सकता है। यज्ञ से वर्षा हो सकती है इसे महर्षि दयानन्द भी स्वीकार करते हैं। तदर्थ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका का वेदविषयविचार का वह प्रकरण अवलोकनीय है, जिसमें निम्नलिखित शतपथ ब्राह्मण के वचन की व्याख्या की गयी है।

अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः, अग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति।

शо कांо ५, अо ३

भाष्यभूमिका में इसके संस्कृत भाष्य का भावार्थ इस प्रकार दिया है– "जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न-भिन्न कर देता है। फिर वे हल्के होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं। उनमें जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते

हैं। फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उनसे वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है।''

यह यज्ञ से वर्षा का एक स्थूल विश्लेषण मात्र है। पर इससे इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि महर्षि को यज्ञ से वृष्टि अभिमत है। अपने वेदभाष्य में भी कुछ मन्त्रों की व्याख्या में महर्षि ने यज्ञ द्वारा वर्षा का समर्थन किया है। ऋ० ५.५३.५ के उनके भाष्य का यह आशय है कि हे मनुष्यो, जैसे मैं अभ्यास से विमानादि यानों को चलाता हूं और यज्ञ से वृष्टि कराता हूं, वैसे ही आप लोग भी करो। इसी सूक्त के अगले मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि ''वे ही मनुष्य उत्तम दाता हैं जो यज्ञ, जंगलों की रक्षा और जलाशयों के निर्माण से बहुत वर्षाओं को कराते हैं''। वर्षा करना मनुष्य के सामर्थ्य में है यह बात ऋ० ५.५८.३ के भावार्थ से भी सूचित होती है, जिसमें लिखा है कि ''जो वृष्टिकारी वायु, अग्नि आदि को विशेष रूप से जानते हैं वे इन्हें वृष्टि के लिए प्रेरित कर सकते हैं।'' यजु० १.१४ के भावार्थ में लिखते हैं–''वर्षा का हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान करके नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करना चाहिए।'' यजु० १.१९ के भावार्थ में लिखा है–''मनुष्यों को अपने विज्ञान से अच्छी प्रकार पदार्थों को इकट्ठा करके उनसे यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए, जोकि वृष्टि व बुद्धि का बढ़ाने वाला है।''

अब प्रश्न यह है कि क्या वेदों में वृष्टिविज्ञान का सर्वांगीण विस्तृत वर्णन भी मिलता है, जिसे पढ़कर वृष्टियज्ञ कराये जा सकें। उसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है। कुछ बिखरे हुए निर्देश तो वेदों में स्पष्ट मिल जाते हैं, अधिक अनुसंधान से अधिक विवरण भी प्राप्त हो सकते हैं, पर बहुत विस्तार में जाने की वेद की शैली नहीं है। वेद प्रेरणा के स्रोत हैं, बहुत-कुछ वे मनुष्य की बुद्धि के लिए भी छोड़ देते हैं। वृष्टियज्ञ में किस वृक्ष की समिधा हों, यज्ञ-सामग्री किन-किन ओषधियों से बनायी जाए, यज्ञकुण्ड का परिणाम क्या रखा जाए, कितनी समिधाओं का प्रयोग किया जाए, प्रत्येक आहुति कितने घृत एवं अन्य हव्य की दी जाए, मन्त्रपाठ किस स्वर से किया जाए, कितने वेदपाठी हों, यज्ञ बिना व्यवधान के लगातार चले अथवा बैठकों में सम्पन्न हो, यदि बैठकों में सम्पन्न किया जाए तो बैठकों में कितने काल का व्यवधान हो आदि बातें अनुसंधान की अपेक्षा रखती हैं। कहा जाता है कि वृष्टियज्ञ में समिधाएं खदिर वृक्ष की प्रयुक्त की जाती हैं, यज्ञशाला में करने की

अपेक्षा खुले आकाश के नीचे करना अधिक उपयोगी होता है, यज्ञशाला में करना हो तो यज्ञधूम एवं धारावाही यज्ञताप निकलने के लिए ऊपर उपयुक्त मार्ग बनाना होता है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता काण्ड २, प्रपाठक ४, अनुवाक ७-१० तथा काठकसंहिता स्थानक ११, अनुवाक ९,१०, मन्त्र २१-३२ में वृष्टि के लिए कारीरी इष्टि का विधान किया गया है, जिसमें करीर वृक्ष के जड़, समिधा एवं फलों की आहुति अभीष्ट प्रतीत होती है। इस इष्टि में पढ़े जाने वाले कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं।

दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन।
यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति।।
उदीरयत मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः।
न वो दस्रा उपदस्यन्ति धेनवः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ।।

अर्थात् मानसून-पवन-रूप मरुद्गण जब जल-भरे बादल से भूमि को सींचने लगते हैं, तब दिन में भी अंधेरा कर देते हैं। हे मरुतो, तुम समुद्र से उठो, जल-भरे तुम वृष्टि बरसाओ। हे दुर्भिक्ष के विनाशक मरुतो, तुम्हारी मेघ-रूप गौएं क्षीण नहीं होती हैं। जब तुम सलोनी चाल से आकाश में चलते हो तब मेघ-रथ तुम्हारे साथ-साथ चलते हैं।

वृष्टियज्ञ का प्रयोग करने वाले कतिपय विद्वान् आज भी हैं। उन्हें आंशिक सफलता भी प्राप्त होती है, ऐसा वे दावा करते हैं। बादल न हों, बादल भी वृष्टियज्ञ से आकाश में लाने हों, यह कार्य अपेक्षाकृत कठिन है। पर बादल रहने पर यज्ञ द्वारा वृष्टि कराना अधिक आसान हो सकता है। शत-प्रतिशत सफलता किसी भी कार्य में कभी किसी को नहीं मिली है। आज चिकित्सा-विज्ञान अत्यधिक उन्नत हो चुका है, पर शत-प्रतिशत सफलता उसमें भी नहीं मिलती। अतः वृष्टियज्ञ में साठ प्रतिशत भी सफलता यदि किसी को मिलती है, तो यह आशाजनक स्थिति है।

हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि क्योंकि वृष्टि-यज्ञ वैदिक है, अतः जिसके मन में आये वह वृष्टियज्ञ कराने बैठ जाए। आशय इतना ही है कि इस सम्बन्ध में अनुसन्धान और परीक्षण होने चाहिएं, जिसका अधिकार इस विषय में रुचि रखने वाले कुछ गिने-चुने विद्वानों को ही मिलना चाहिए। सूखा-निवारण के लिए सरकार को भी अधिकृत कर्मकाण्डी विद्वानों से वृष्टियज्ञ के परीक्षण करवाने चाहिएं।

यहां इस प्रसंग में हम गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर श्रीयुत स्व० मीरीलाल जी गोयल एम. एस-सी. के '**अग्निहोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप**' विषयक अनुसंधानपूर्ण निबन्ध के कुछ अंशों को दे रहे हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि अग्निहोत्र या यज्ञ वर्षा कराने में किसप्रकार सहायक होता है। इनका उक्त निबन्ध गुरुकुल कांगड़ी से निकलने वाले 'अलंकार' पत्र के दयानन्दजन्मशताब्दी-विशेषांक में प्रकाशित हुआ था।

वर्षा और अग्निहोत्र

''यह तो सभी जानते हैं कि बादल बनने के लिए निम्नलिखित शर्तें आवश्यक हैं–

(क) हवा में नमी का होना।

(ख) हवा में रेणु-कणों का होना।

(ग) यदि हवा में रेणु-कण न हों तो अल्ट्रा वायोलेट रेज़, एक्सरेज़ या रेडियम इमेनेशन गुज़ार कर कृत्रिम रेणु-कण (न्यूक्लियस या आयन्स) स्वयं बना लिये जाएं, जो रेणु-कणों का काम करें।

(घ) हवा को इतना ठंडा कर दिया जाए कि उस में विद्यमान पानी स्वयं जम जाए। इस अवस्था में पानी गैस के ही मौलीक्यूल्स पर जम जाता है।

इन शर्तों के अतिरिक्त बादल बनने की विधि में निम्न लिखित शर्तों का जानना अत्यधिक आवश्यक है–

(ङ) हवा में नमी की राशि।

(च) वायु-मण्डल का ताप-परिमाण।

(छ) वायु के फैलने की गुंजाइश।

(ज) नमी के लिये रेणु-कणों के गुण, आकार और संख्या।

यह सब बादल बनने और बरसने की विधि से स्पष्ट हो जाएगा।

बादल बनने की विधि

पृथिवी के वायु-मण्डल की दो मुख्य परतें हैं। एक १० किलोमीटर (६ मील) की ऊंचाई तक और दूसरी उससे ऊपर २०० किलोमीटर (१२४ मील) की ऊंचाई तक। वर्षा के प्रकरण में हमारा सम्बन्ध १०

किलोमीटर के वायु-मण्डल से ही है, क्योंकि इससे उपरली परत में हवा नहीं जाती और इसीलिए वहां बादल नहीं बनते। हां कभी-कभी प्रबल ऊर्ध्वमुख वायु की धारा नमी को ऊपर धकेल देती है, जिससे बादल बन जाते हैं। ऊपर जिन ङ,च,छ,ज शर्तों का उल्लेख किया गया है वे यहां स्पष्ट हो जाएंगी।

समुद्र, नदी आदि से पानी सदा उड़ता रहता है, परन्तु फिर भी हवा अतृप्त रहती है। इसका कारण यह है कि नमी वाली गरम हवा ऊर्ध्व-गति वाली हवा द्वारा ऊपर को धकेल दी जाती और वहां की शुष्क और ठंडी हवा उसके स्थान पर नीचे आती रहती है; अतः नीचे से गई हवा फिर शुष्क हो जाती है और नीचे आ जाती है। नीचे आकर फिर वह पानी चूसना शुरू करती है। इस प्रकार चक्कर चलता रहता है। हवा जितनी अधिक गरम होती है उतनी ही अधिक नमी लेती है। १० शतांश वाली हवा ११ श० वाली होने पर पहले से दुगुनी नमी ले सकती है। ०८ श० पर हवा ०.२ श० नमी से ही तृप्त हो जाती है, परन्तु ४५ श० की हवा को ५. श० नमी की आवश्कयता होती है। हवा की फालतू नमी ही, जो उसमें उसके ताप-परिमाण की दृष्टि से अधिक होती है, ओस-बिन्दु की शीतलता पर रेणु-कणों पर जम सकती है। रेणु-कणों के प्रकरण में यह भी लिखा जाएगा कि ये ज़र्रे जितने अधिक होते हैं उतने ही बर्षा-बिन्दु छोटे होते हैं और जितने छोटे बनेंगे उतना ही अधिक देर तक वे बादल के रूप में ऊपर टिके रहेंगे, बरसेंगे नहीं।

गर्म और नमीदार हवा ऊर्ध्व-गति द्वारा ऊपर जाकर फैल जाती है, क्योंकि ऊपर दबाव कम होता है। फैलने के कारण वह ठंडी हो जाती है और जम कर बादल बना देती है। बादल की शकल और वह ऊंचाई जिसपर वह नमी से बादल बन जाता है, हवा की गर्मी, उस की नमी और उसे ऊपर धकेलने वाली हवा की तेजी पर निर्भर है। हवा का जितना तापमान ज्यादा होगा, उसमें जितनी नमी कम होगी और वह जितनी तेज़ी से ऊपर जायगी, उतनी ही ऊंचाई पर बादल बनेगा। अतृप्त हवा जहां १०० गज़ ऊपर चढ़ने पर १ शतांश ठंडी होती है वहां तृप्त हवा ०.५४ श० ही ठंडी होती है।

आर्द्र हवा ऊपर चढ़ने पर जितनी ऊंचाई तक पहुंचती है वहां के दबाव के अनुसार एक दम फैलती, ठंडी और अति संपृक्त होती है और जम जाती है। वायु-मण्डल में ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों

हवा की घनता कम होती जाती है। ५० किलो० (३१ मील) तक दबाव लगातार घटता जाता है और वह नमी को बादल बनाने में बहुत सहायक है।

हम ऊपर कह आये हैं कि बादल जमाने में रेणु-कणों की संख्या, गुण तथा आकार का बहुत बड़ा हाथ है।

पृथिवी की पहली परत में नत्रजन, ओषजन, कर्वन द्विओषजिद के अतिरिक्त पानी के ठोस-कण (जिन में धुंआ, नमक, कीटाणु आदि सम्मिलित हैं) भी बहुत होते हैं। ये ज़र्रे भार आदि के अनुसार ऊपर-नीचे होकर चार तहों में विभक्त हो जाते हैं। हल्के ऊपर और भारी नीचे रहते हैं। चार तहों में से पहली पृथिवी से १ किलो० (०.६ मील) तक, दूसरी ४ किलो० (२.५ मील) तक, तीसरी १० किलो० (६.२ मील) तथा चौथी १० किलो० से ऊपर होती है। एक 'म्यू' परिमाण से बड़े ज़र्रे भारी होने के कारण पृथिवी पर गिर पड़ते हैं। इन ज़र्रो का कम अधिक होना स्थान-विशेष पर धुएं आदि की मात्रा के कम-अधिक होने और हवा चलने पर निर्भर है। खास-खास जगहों पर १ घन सेन्टीमीटर वायु में १०० ज़र्रे मिलते हैं, परन्तु लन्दन जैसे शहर की १ घन सेमी० वायु में वे १ लाख से १.५ लाख तक पाये जाते हैं। धूलि-कणों के अतिरिक्त आयोनाइज़ेशन से गैसों के भी न्युक्लियस बन जाते हैं, जो वर्षा लाने में ज़र्रों का सा काम देते हैं। भिन्न-भिन्न गैसों के भिन्न-भिन्न आयोनाइज़ेशन होने के कारण उन से बनने वाले ज़र्रों की संख्या भी भिन्न-भिन्न होती है।

ज़र्रों की संख्या के साथ, बादल बनाने के लिये ज़र्रों का गुण अत्यन्त आवश्यक है। बादल बनाने में, द्रवावस्था या ठोसावस्था के वे ही ज़र्रे काम आते हैं जो आर्द्रता चूसने वाले हों, दूसरे नहीं। साधारण हवा में भी नत्रजन, ओषजन तथा पानी पर सूर्य के प्रकाश के प्रभाव से अयोनाइज़ेशन होने के साथ-साथ अमोनिया, उद्रजन, परौषजिद् और नओ२ आदि बन जाते हैं। कोयला आदि से उत्पन्न गओ२ से गओ३ बन जाता है, जो आर्द्रता को चूसने वाला है। इसीप्रकार ऋणविद्युताविष्ट आयन्स धनविद्युताविष्ट आयन्स की अपेक्षा नमी को जल्दी खींचते हैं, परन्तु ६ डिग्री सुपरसैच्युरेशन पर धनविद्युताविष्ट आयन्स ही अधिक काम करते हैं।

ज़र्रों के गुण के साथ उनका आकार भी ध्यान देने योग्य है। उन्नतपृष्ठ ज़र्रों की अपेक्षा नतपृष्ठ ज़र्रों पर अधिक वाष्प जमते हैं। ०.६३ 'म्यू' से छोटे ज़र्रे विद्युताविष्ट होने पर ही नमी को खींचते हैं। परन्तु ध्यान रखने योग्य बात यह है कि ज़र्रों पर एक बार आर्द्रता का परत बन जाने पर फिर और नमी जमती ही जाती है, क्योंकि नमी नमी को खींचती चली जाती है।

यदि स्थान-विशेष के ज़र्रों की संख्या स्थिर हो तो जितनी नमी कम होगी बिन्दु उतने ही छोटे बनेगें और वह जितनी अधिक होगी बिन्दु उतने ही बड़े बनेंगे। इसी बात को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि अधिक नमी वाली हवा जल्दी ठंडी होकर नीचे ही बादल बना लेगी और अधिक शुष्क हवा को पर्याप्त ऊंचाई पर जाना पड़ेगा।

बादल बरसने की विधि

वर्षा के विषय में मौजूदा वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि वह उस समय होती है जब वायु की ऊर्ध्वगति हो। इससे हवा के साथ बादल ऊपर उठता है और बहुत ऊपर जाने के कारण हवा की फालतू नमी के बड़े-बड़े बिन्दु (०.१ मिलिमीटर व्यास वाले) बन जाते हैं, जो वहीं पर ठहर जाते हैं, अधिक ऊपर नहीं जा सकते। छोटे, हल्के किन्तु संख्या में कम बिन्दु ऊर्ध्वगति वाली वायु के साथ और ऊपर उठते हैं। ऊपर हवा अत्यधिक सम्पृक्त होती है, अतः उन थोड़े बिन्दुओं पर ही नमी जमनी प्रारम्भ होती है और वे पहले बने हुए बिन्दुओं से भी बड़े (०.२ मि. मी. व्यास तक के) बन जाते हैं। अब ये बिन्दु भारी होने के कारण नीचे गिरना प्रारम्भ करते हैं और नीचे ठहरे हुए बिन्दुओं में से गुजरते समय भिन्न विद्युत् से आविष्ट या भिन्न घनता वाले होने के कारण उनसे नमी लेकर ०.४ से १ मि० मी० व्यास वाले हो जाते हैं और फिर नीचे आने पर बरसे बिना नहीं रह सकते। इससे स्पष्ट है कि वर्षा करने के लिये बादल में न्यूक्लियस का कम होना और उससे भी अधिक बादल का ऊपर चढ़ना आवश्यक है। अन्यथा ऊपर के भाग में न्यूक्लियस की संख्या अधिक होने के कारण वर्षा रुक सकती है, क्योंकि उस अवस्था में बहुत छोटे-छोटे बिन्दु बनने के कारण बादल ऊपर ही ठहरे रहते हैं। बादलों की उपस्थिति में अधिक आग लगने पर वर्षा हो जाने का कारण आग से उत्पन्न वायु की ऊर्ध्वगति ही है।

हवन-गैस से वर्षा

हवन-गैस से वर्षा होने में कारण जहां एक सीमा तक हवन से उत्पन्न वेज़ले कार्बन के ज़र्रें हैं, वहां उनसे भी अधिक घी के आर्द्रता-चूसक ज़र्रे हैं। घी की परत वाले छोटे-छोटे ज़र्रे नमी खींच सकते हैं और एक बार नमी जमने से उन पर नमी जमती ही चली जाती है। कोयलों के कई ज़र्रें जो घी की परत से ढक जाते हैं ऋणविद्युताविष्ट देखे गये हैं, जो स्वभावतः पानी को खींचते हैं। इस तरह साधारणतया छोटे हवन बादल बनाने और ऋतु के अनुसार वर्षा में सहायक होते हैं। किसी विशेष समय पर वर्षा लाने के लिए हवन को बड़ी मात्रा पर और विशेष-विशेष पदार्थों से (जिनसे आर्द्रता चूसने वाली गैस या ज़र्रें बनें) करना आवश्यक है। बहुत बड़े हवन ही ऊर्ध्व गति के वायु को पैदा करके वर्षा लाने का काम कर सकते हैं। हवन में तेल, घी जैसे आर्द्रता चूसने वाले पदार्थ होने के कारण बादल न होने पर भी नमी को खीच कर, बादल बनाकर वर्षा कर सकते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार ऐसे हवन भी किये जा सकते हैं जिनसे वर्षा रुक सके या बादल हट सकें। इनमें ऐसे पदार्थ डाले जा सकते हैं, जिनसे बहुत मात्रा में ठोस कण बनें और आर्द्रता को खींचने के स्थान में उससे वाष्प बनाने का काम करें '

आशा है श्री गोयल के उक्त वैज्ञानिक विवेचन से पाठकों को यह समझने में कुछ सहायता मिल सकेगी कि यज्ञ से वर्षा होने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण क्या है? उक्त लेख के अंतिम अंश के प्रसंग में हम पाठकों को यह सूचना देना चाहते हैं कि ऋग्वेद में एक अतिवृष्टिविमोचनी ऋचा भी है, जिसे अतिवृष्टि को रोकने के उद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञों में पढ़ा जा सकता है। यह ऋग्वेद मण्डल ५, सूक्त ८३ की अंतिम दसवीं ऋचा है। इस सूक्त की प्रारंभिक ९ ऋचाओं में वर्षा होने की प्रार्थना की है, किन्तु दसवीं ऋचा में वर्षा के रुकने की। ऋचा यह है–

अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाऽकर्धन्वान्यत्येतवा उ ।
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाम्योऽविदो मनीषाम् ।।

अर्थात्, 'हे बादल तू बहुत बरस चुका, अब तो वर्षा को रोक ले। तूने इतनी वर्षा कर दी है कि मरुस्थलों को भी आसानी से पार किया जा सकता है। तूने भोजन के लिए ओषधियों को उत्पन्न कर दिया है

और प्रजाओं से स्तुति प्राप्त की है।' सायणाचार्य ने इस ऋचा के भाष्य में लिखा है– **इयमतिवृष्टिविमोचनी,** अर्थात् यह ऋचा अतिवृष्टि को रोकने वाली है।

पर्यावरण, वेद की दृष्टि में

वेदों का संदेश है कि मानव शुद्ध वायु में श्वास ले, शुद्ध जल का पान करे, शुद्ध अन्न का भोजन करे, शुद्ध मिट्टी मे खेले-कूदे, शुद्ध भूमि में खेती करे। ऐसा होने पर ही उसे वेद-प्रतिपादित सौ वर्ष या सौ से भी अधिक वर्ष की आयु प्राप्त हो सकती है। परन्तु आज न केवल हमारे देश में, अपितु विदेशों में भी प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि मनुष्य को न शुद्ध वायु सुलभ है, न शुद्ध जल सुलभ है, न शुद्ध अन्न सुलभ है, न शुद्ध मिट्टी और शुद्ध भूमि सुलभ है। कल-कारखानों से निकले अपद्रव्य, धुआं, गैस, कूड़ा-कचरा, वन-विनाश आदि इस प्रदूषण के कारण हैं। प्रदूषण इस स्थिति तक पहुंच गया है कि कई स्थानों पर तेजाबी वर्षा तक हो रही है। उत्तरपूर्वी अमेरिका, उत्तरी यूरोप और कनाडा में तेजाबी वर्षा संहारक रूप ले चुकी है। वहां नदी-तालाबों के जीव-जन्तु तथा भूमि की वनस्पतियां इस वर्षा से विनष्ट हो रही हैं, बड़े-बड़े भवन विकृत हो रहे हैं तथा पीने का पानी प्रदूषित हो रहा है। १८ जुलाई १९८३ के दिन भारत में भी बंबई में तेजाबयुक्त वर्षा हो चुकी है। यदि प्रदूषण निरन्तर बढ़ता गया तो वह दिन दूर नहीं जब यह भूमि मानव तथा अन्य प्राणियों के निवासयोग्य नहीं रह जाएगी।

पर्यावरण-प्रदूषण की चिन्ताजनक स्थिति को देखकर ५ जून १९७२ को बारह संयुक्त राष्ट्रों की एक बैठक इस विषय पर विचार करने के लिए स्टाकहोम (स्वीडन) में आयोजित हुई थी, जिसके फलस्वरूप विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पर्यावरण-सुरक्षा हेतु प्रभावशाली कदम उठाये गये। उक्त गोष्ठी में भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी 'पर्यावरण की बिगड़ती स्थिति एवं उसका विश्व के भविष्य पर प्रभाव' विषय पर भाषण दिया था। उसके पश्चात् भारत में पर्यावरण-प्रदूषण का अध्ययन करने, उसे रोकने के उपाय सुझाने एवं उनके क्रियान्वयन करने हेतु अनेक सरकारी, अर्ध-सरकारी तथा व्यक्तिगत या जनता की ओर से सामूहिक प्रयास होते रहे हैं तथा आज भी अनेक संस्थाएं इस दिशा में कार्यरत हैं। जहां सरकार ने पर्यावरण-अधिनियम

की घोषणा की है तथा सरकार के पर्यावरण-विभाग द्वारा पर्यावरण-शोध हेतु अनेक पुरस्कार दिये जा रहे हैं, वहां जनता द्वारा चिपको-आंदोलन-जैसे आंदोलनों का भी सूत्रपात हुआ है। प्रस्तुत लघु लेख में हम यह दर्शाना चाहते हैं कि वेद का पर्यावरण के विषय में क्या विचार है।

१. वायु

स्वच्छ वायुमण्डल का महत्त्व

स्वच्छ वायु का सेवन ही प्राणियों के लिए हितकर है यह बात वेद के निम्न मंत्रों से प्रकट होती है–

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ।।

ऋ०१०.१८६.१

अर्थात् वायु हमें ऐसा औषध प्रदान करे, जो हमारे हृदय के लिए शान्तिकर एवं आरोग्यकर हो, वायु हमारे आयु के दिनों को बढ़ाए।

यददो वात ते गृहे ऽमृतस्य निधिर्हितः ।
ततो नो देहि जीवसे।।

ऋ० १०.१८६.३

अर्थात् हे वायु जो तेरे घर में अमृत की निधि रखी हुई है, उसमें से कुछ अंश हमें भी प्रदान कर, जिससे हम दीर्घजीवी हों।

यह वायु के अन्दर विद्यमान अमृत की निधि ओषजन या प्राणवायु है, जो हमें प्राण देती है तथा शारीरिक मलों को विनष्ट करती हैं। उक्त मंत्रों से यह भी सूचित होता है कि प्रदूषित वायु में श्वास लेने से मनुष्य अल्पजीवी तथा स्वच्छ वायु में श्वास लेने से दीर्घजीवी होता है। स्वच्छ वायु में कार्बन-द्विओषिद की मात्रा कम तथा ओषजन की मात्रा अधिक होती है। उसमें श्वास लेने से हमें कैसे लाभ पहुंचता है, इसका वर्णन वेद के निम्नलिखित मंत्रों में किया गया है–

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रपः।।
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।।

ऋ० १०.१३७.२,३, अथर्व० ४.१३,२,३

''ये श्वास-निःश्वास रूप दो वायुएं चलती हैं, एक बाहर से फेफड़ों के रक्त-समुद्र तक और दूसरी फेफड़ों से बाहर के वायु-मंडल तक। इनमें से पहली, हे मनुष्य, तुझे बल प्राप्त कराये और दूसरी रक्त में जो दोष है उसे अपने साथ बाहर ले जाए। हे शुद्ध वायु, तू अपने साथ औषध को ला। हे वायु, शरीर में जो मल है उसे तू बाहर निकाल। तू सब रोगों की दवा है, तू देवों का दूत होकर विचरता है।''

हमारा हृदय शरीर के अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिए फेफड़ों की सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं में पहुंचा देता है। जब हम स्वच्छ वायु में श्वास लेते हैं तब वह स्वच्छ वायु फेफड़ों में पहुंच कर सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं में विद्यमान अशुद्ध रक्त से संपृक्त होकर अपने ओषजन के द्वारा अशुद्ध रक्त को शुद्ध करके बाहर निकलने वाले निःश्वास के साथ रक्त के मल को बाहर निकाल देती है। परन्तु यदि हम प्रदूषित वायु में श्वास लें तो यह प्रक्रिया नहीं हो पाती।

बनस्पतियों द्वारा वायु-शोधन

कार्बन-द्विओषिद की मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर वायु प्रदूषित हो जाता है। वैज्ञानिक लोग बताते हैं कि प्राणी ओषजन ग्रहण करते हैं तथा कार्बन-द्विओषिद छोड़ते हैं, किन्तु वनस्पतियां कार्बन-द्विओषिद ग्रहण करती हैं तथा ओषजन छोड़ती हैं। वनस्पतियों द्वारा ओषजन छोड़ने की यह प्रक्रिया प्रायः दिन में ही होती है, रात्रि में वे भी ओषजन ग्रहण करती तथा कार्बन-द्विओषिद छोड़ती हैं। पर कुछ वनस्पतियां ऐसी भी हैं जो रात्रि में भी ओषजन ही छोड़ती हैं। कार्बन-द्विओषिद को चूसने के कारण वनस्पतियां वायु-शोधन का कार्य करती हैं। इसलिए वायु-प्रदूषण से बचाव के लिए सबसे कारगर उपाय वनस्पति-आरोपण है। वेद कहता है कि वन में बनस्पतियां उगाओ— **वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्** ऋ०१०.१०१.११। यदि वनस्पति को काटना भी पड़े तो ऐसे काटें कि उसमें सैकड़ों स्थानों पर फिर अंकुर फूट आएं। वेद का कथन है कि हे वनस्पति, इस तेज कुल्हाड़े ने महान् सौभाग्य के लिए तुझे काटा है, तू शतांकुर होती हुई बढ़, तेरा उपयोग करके हम सहस्रांकुर होते हुए वृद्धि को प्राप्त करें—

अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय ।
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।।

यजु० ५.४३

हे ओषधि, तू दीर्घायु होती हुई शत अंकुरों से बढ़—

अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्।

यजु० १२.१००

'वनस्पति हमारे लिए मधुमान् हो, सूर्य हमारे लिए मधुमान् हो, भूमियां हमारे लिए मधुमती हों' यह कहता हुआ वेद सूचित करता है कि सूर्य और भूमि से वनस्पतियों में मधु उत्पन्न होता है, जिससे वे हमारे लिए लाभदायक होती हैं—

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।।

यजु०१३.२९

प्रारंभ में वनस्पति शब्द वृक्ष-सामान्य का ही वाचक था। बाद में वृक्ष, ओषधि, वनस्पति, वानस्पत्य इन सब में अन्तर किया जाने लगा। वृक्ष सभी पेड़ों का वाची रहा, ओषधि उन्हें कहा गया जिनकी आयु फल पकने तक की ही होती है, फल पकने पर वे सूख जाती हैं। वनस्पति वे कहलाये जिनमें बिना फूल के फल आ जाता है, जैसे बड़, पीपल आदि। वानस्पत्य नाम उन्हें दिया गया, जिनमें फूल आकर फल लगता है।[१] उत्तरकाल में कर्मकाण्ड में वनस्पति शब्द से यूप या यज्ञस्तम्भ अर्थ ग्रहण किया जाने लगा। वैदिक आप्री नामक देवताओं में 'वनस्पति' भी पठित है, जिसके विषय में यास्कीय निरुक्त में लिखा है कि इसका अर्थ कात्थक्य नामक आचार्य यूप (यज्ञ-स्तम्भ) करते हैं, किन्तु आचार्य शाकपूणि इससे अग्नि का ग्रहण करते हैं।[२]

फूलों-फलों से लदी हुई ओषधियां नित्य भूमि पर लहलहाती रहें, ऐसा वर्णन भी वेद में मिलता है— **ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः** (ऋ०१०.९७.३)। वेद यह भी कहता है कि ओषधियों का मूल, मध्य, अग्र, पत्ते, फूल सभी कुछ मधुमय हों— **मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव। मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासाम्** अथर्व०८.७.१२। 'पृथिवी पर जितनी भी सहस्रों पत्तों वाली ओषधियां हैं, वे सब हमें प्रदूषण-जनित मृत्यु से छुड़ायें' ऐसी प्रार्थना भी वेद में उपलब्ध होती हैं—

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ।।

अथर्व० ८.७.१३

यहां 'सहस्रपर्णी' शब्द साभिप्राय है, क्योंकि पत्तों में ही प्रदूषण को हरने की शक्ति विशेष होती है। 'अंहस्' शब्द संस्कृत में बड़े व्यापक अर्थ में आता है, जिसमें किसी भी प्रकार की क्षति समाविष्ट है, चाहे वह भौतिक क्षति हो, चाहे नैतिक।

वेद मनुष्य को प्रेरित करता है कि तू जलों की हिंसा मत कर, ओषधियों की हिंसा मत कर– **मापो मौषधीर्हिंसीः** यजु० ६.२२। जलों की हिंसा से अभिप्राय है उन्हें प्रदूषित करना तथा ओषधियों की हिंसा का तात्पर्य है उन्हें विनष्ट करना।

अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त में कहा गया है कि हे भूमि तेरे वृक्षों को मैं इस तरह काटूं कि शीघ्र ही वे पुनः अंकुरित हो जाएं, संपूर्ण रूप से काट कर मैं तेरे मर्मस्थल पर या हृदय पर प्रहार न कर बैठूं–

यत् ते भूमे विश्वनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ।।

अथर्व० १२.१.३५

इससे वेद सूचित करता है कि वृक्ष-वनस्पतियों को समूल नष्ट कर देना मानो भूमि के मर्म पर या हृदय पर प्रहार है। साथ ही 'विमृग्वरि' संबोधन द्वारा यह सूचना दी गयी है कि भूमि वृक्ष-वनस्पतियों द्वारा वायुमंडल के शोधन का कार्य करती हैं।

वेद में कहा गया है कि तुम पीपल के नीचे बैठो, पलाश (ढाक) के पेड़ों के समीप बस्ती बसाओ– **अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता** (ऋ० १०.९७.५., यजु० १२.७९, ३५.४, तै० सं०४.२.६.२)। इससे सूचित होता है कि पीपल दिन में कार्बन-द्विओषिद लेता है, तथा ओष-जन छोड़ता है, अतः दिन में उसके नीचे बैठना हितकर है; रात्रि को वह भी कार्बन-द्विओषिद छोड़ता है, इस कारण उसके नीचे या समीप लेटना, शयन करना या बस्ती बसाना उचित नहीं है। यद्यपि दिन में ओषजन सभी वृक्ष छोड़ते है, तथापि पीपल में यह गुण विशेष होने से उसका नाम लिया गया है।' किन्तु पलाश (ढाक) का पेड़ दिन-रात हितकर गन्ध ही छोड़ता है, अतः उसके निकट बस्ती बसाना उचित

कहा गया है। वैज्ञानिकों को इस पर परीक्षण करना चाहिए, जिससे यह ज्ञात हो सके कि वेदमंत्र की हमारी उक्त व्याख्या प्रामाणिक है या नहीं।

अथर्ववेद के एक मंत्र में ओषधियों के पांच वर्ग बताये गये हैं–सोम, दर्भ (कुश), भंग, यव और सह, तथा यह भी कहा गया है कि ये हमें प्रदूषण (अंहस्) से छुड़ायें।

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः ।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।

अथर्व०११.६.१५

इसका भी परीक्षण किया जाना चाहिए कि दर्य, भंग, यव आदि में अन्य वनस्पतियों की अपेक्षा विशेष प्रदूषण-निवारण की शक्ति है या नहीं।

वेद घरों के बाहर आने-जाने के रास्तों के दोनों ओर फूलों वाली दूब घास लगाने और मैदान में फब्बारा एवं कमलों से अलंकृत सरोवर बनाने का निर्देश करता है–

आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ।।

अथर्व० ६.१०६.१

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि ।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ।।

यजु० १३.२०

पुष्पिणी दूब घास, फब्बारे एवं कमल-फूलों से न केवल शोभा बढ़ती है, अपितु ये प्रदूषण-निवारण में भी सहायक होते हैं। अन्यत्र भी वेद में घरों के समीप कमल-पुष्पों से अलंकृत छोटे-छोटे सरोवर बनाने का विधान मिलता है– **उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः** अथर्व० ४.३४.५-७। फब्बारों का विधान इस हेतु किया गया प्रतीत होता है कि ऊपर उठती तथा चतुर्दिक् फैलती जल-धाराओं पर जब सूर्य-किरणें पड़ती हैं, तब उनमें प्रदूषण को हरने की विशेष शक्ति आ जाती है।

यजुर्वेद में राष्ट्र की ओर से वृक्षों, ओषधियों एवं अरण्यों के रक्षक नियुक्त करने तथा उन रक्षकों को उचित संमान देने का निर्देश मिलता

है–**बनानां पतये नमः** यजु० १६.१८, **वृक्षाणां पतये नमः, ओषधीनां पतये नमः** यजु० १६.१९, **अरण्यानां पतये नमः** यजु० १६.२० ।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में भूमि को कहा गया है कि तेरे जंगल हमारे लिए सुखदायी हों–**अरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु** (अथर्व०१२.१.११)। भूमि को ओषधियों की माता **मातरम् ओषधीनाम्** अथर्व० १२.१.१७ बताते हुए स्थापना की गयी है कि इसमें वृक्ष और वानस्पत्य स्थिर रूप से रहते हैं-**यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा** अथर्व० १२.१.२७ ।

ऋग्वेद में एक वनवासिनी जंगल के विषय में कहती है कि यहां अंजन वृक्ष के फूलों की सुगन्ध व्याप्त रहती है, बिना किसानों के प्रचुर अन्न उपजता है, मृगों की यह माता है। ऐसे जंगल की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करती हूं–

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ।।

ऋ० १०.१४६.६

यव, धान, गेहूं, उड़द, मूंग, चना, ज्वार, बाजरा आदि की खेती भी प्रदूषण को दूर करने में सहायक होती है। आज बढ़ती हुई जनसंख्या को निवास देने के लिए खेती की भूमि को भी ग्रामों और नगरों में बदला जा रहा है। इससे भी प्रदूषण बढ़ा है। वेद खेती के लिए प्रेरणा करता हुआ कहता है–

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमायवन् ।।

अथर्व० ३.१७.२

अर्थात् हे मनुष्यों, तुम हल जोड़ो, बैलों के कन्धों पर जुए रखो, भूमि जोतकर उसमें बीज बोओ। अन्न की बालियां खूब भरी हुई हों, दरातियों से पके अन्न को काटो।

आज भूमि, जल एवं वायु के प्रदूषण के कारण तथा दूषित खादों के प्रयोग से अन्न भी प्रदूषित उत्पन्न हो रहा है। परन्तु वेद इसके लिए भी सतर्क है कि अन्न दूषित एवं रोगोत्पादक न होकर बलदायक हो–**अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः** यजु० ११.८३।

२. जल

शुद्ध जलों का महत्त्व

शुद्ध जलों के अन्दर अमृत होता है, औषध का निवास रहता है– **अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्** ऋ० १.२३.१९, **अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा** वही, मंत्र २०। शुद्ध जलों में स्नान एवं उनका पान शरीर के मलों को बाहर निकालता है– **इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि** वही, मंत्र २२। शुद्ध जल के सेवन से मनुष्य रसवान् हो जाता है– **आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि** वही, मंत्र २३। अतएव मनुष्य की कामना है कि शुद्ध जल ही हमारे शरीर के लिए क्षरित हों– **शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु** अथर्व० १२.१.३०। शुचि, निर्मल, कान्ति को सींचने वाले, मधुर जलों का ही हम उपयोग करें– **तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम** ऋ०७.४७.१ । शुद्ध जल आरोग्यदायक होते हैं, शरीर में ऊर्जा उत्पन्न करते हैं, वृद्धि प्रदान करते हैं, कण्ठस्वर को ठीक करते हैं तथा दृष्टि-शक्ति बढ़ाते हैं–

> **आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।**
> **महे रणाय चक्षसे।।**

ऋ० १०.९.१

जैसे संतान का हित चाहने वाली माताएं संतान को अपना शिवतम रस दूध पिलाती हैं, वैसे ही शुद्ध जल सेवनकर्ता को अपना शिवतम रस प्रदान करते हैं–

> **यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।**
> **उशतीरिव मातरः।।**

वही, मंत्र २

शुद्ध जलों का पान करके एवं उन्हें अपने चारों ओर बहाकर अर्थात् उनमें डुबकी लगाकर या कटि-स्नान करके हम अपना स्वास्थ्यरूप अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं–

> **शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।**
> **शं योरभिस्रवन्तु नः।।**

वही, मंत्र ४

शुद्ध जल माताओं के तुल्य हमारे शोधक होते हैं। वे अपने अन्दर विद्यमान विद्युत् से हमें पवित्र करते हैं। वे समस्त प्रदूषण को बहा ले जाते हैं। उनसे पवित्र होकर मनुष्य उद्यमी हो जाता है–

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवी रुदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि।।

ऋ०१०.१७.१०

शुद्ध जल जीवनदायी हैं, उनके उपयोग से मनुष्य पूर्ण आयु जीवित रह सकता है– **जीवाः स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्** अथर्व० १९.६९.१। शुद्ध जल शिव होते हैं, उनके उपयोग से रोग दूर हो जाते हैं– **ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरपः** अथर्व० १९.२.५ शुद्ध जलों में ऊर्जा, अमृत, तेज एवं पोषक रस का निवास होता है– **उर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्** यजु० २.३४।

शुद्ध जल पान किये जाने पर पेट के अन्दर पहुंच कर पाचन-क्रिया को तीव्र करते हैं। वे दिव्यगुणयुक्त, अमृतमय, स्वादिष्ठ जल रोग न लाने वाले, रोगों को दूर करने वाले, शरीर के प्रदूषण को दूर करने वाले तथा जीवन-यज्ञ को बढ़ाने वाले होते हैं–

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसःस्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः।।

यजु०४.१२

सेवन करने पर शुद्ध जल शरीर को भलीभांति वहन करते हैं– **देवीरापः शुद्धा वोड्ढ्वम्** यजु० ६.१३। शुद्ध जल मन, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, आत्मा, प्रजा, पशु तथा जनगणों को तृप्ति प्रदान करते हैं–

मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत
चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत
प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गणान् मे तर्पयत,
गणा मे मा वितृषन् ।।

यजु०६.३१

शुद्ध जल शरीर के अन्दर जो निन्दनीय रोग तथा मल है उसे बाहर निकाल देते हैं– **इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्** यजु० ६.१७।वे ही जल मानव, अन्य प्राणिवर्ग एवं वनस्पति-जगत् के रक्षक हो सकते हैं,

जो मधुस्रावी, पवित्र एवं पवित्रतादायक हों– **मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु** ऋ०७.४९.३।

जलों के प्रकार

वेदों में जल कई प्रकार के वर्णित किये गये हैं और उनके संबन्ध में यह कहा गया है कि वे सबके लिए प्रदूषणशामक एवं रोगशामक हों–

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः।।
शं त आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः।।

अथर्व० १९.२.१–२

इन मंत्रों में जलों के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख हुआ है–

१. हिमालय के जल (हैमवतीः आपः)– ये हिमालय पर बर्फ-रूप में रहते हैं अथवा चट्टानों के बीच में बने कुण्डों में भरे रहते हैं, अथवा पहाड़ी झरनों के रूप में झरते रहते हैं। इनमें पर्वतों के खनिज द्रव्य तथा ओषधियों के रस मिश्रित रहते हैं।

२. स्रोतों के जल (उत्स्याः आपः)–ये पहाड़ी या मैदानी भूमि को फोड़कर चश्मों के रूप में निकलते हैं। इनमें भूमि के अन्दर विद्यमान खनिज पदार्थ मिले रहते हैं। कई चश्मों में गन्धक होता है। गन्धक का एक चश्म देहरादून के समीप सहस्रधारा में है।

३. सदा बहते रहने वाले जल(सनिष्यदाः आपः)– ये सदा बहते रहने के कारण अधिक प्रदूषित नहीं हो पाते हैं।

४. वर्षाजल (वर्ष्याः आपः)– वर्षा से मिलने वाले जल शुद्ध तथा ओषधि-वनस्पतियों एवं प्राणियों को जीवन देने वाले होते हैं। अथर्ववेद के प्राण-सूक्त (११.४.५) में कहा है कि जब वर्षा के द्वारा प्राण पृथिवी पर बरसता है तब सब प्राणी प्रमुदित होने लगते हैं।

५. मरुस्थलों के जल (धन्वन्याः आपः)–मरुस्थलों की रेती में अभ्रक, लोहा आदि पाये जाते हैं, उनके संपर्क से वहां के जलों में भी ये पदार्थ विद्यमान होते हैं। ये जल अपने-अपने शरीर की प्रकृति के अनुसार किसी के लिए लाभकारी और किसी के लिए हानिकारी हो सकते हैं।

६. आर्द्र प्रदेशों के जल (अनूप्याः आपः)—जहां जल की बहुतायत होती है वे प्रदेश अनूप कहलाते हैं, तथा उन प्रदेशों में होने वाले जल अनूप्य। यहां के जल कृमि-दूषित भी हो सकते हैं।

७. भूमि खोद कर प्राप्त किये जल (खनित्रिमाः आप) —कुएं, हाथ के नलों आदि के जल इस कोटि में आते हैं। जिस स्थान की भूमि में जो तत्त्व अधिक होते हैं उनका प्रभाव वहां के जलों में भी आ जाता है, इसीलिए किसी कुएं का पानी मीठा, किसी का खारा आदि होता है।

८. घड़ों में रखे जल (कुम्भेभिः आभृताः आपः) —घड़े विभिन्न प्रकार की मिट्टी के तथा सोना, चांदी तांबा आदि धातुओं के भी हो सकते हैं। इनमें पानी रखने से उस मिट्टी का प्रभाव तथा उन धातुओं का प्रभाव पानी में आ जाता है। किस रोग में कैसी मिट्टी के घड़े में या किस धातु के घड़े में रखा पानी उपयोगी होता है, यह जान कर उन-उन घड़ों के पानी का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। घड़े जल-शोधन के काम में भी लाए जाते हैं। ऊपर-नीचे तीन घड़े रखे जाते हैं। ऊपर के तथा बीच के घड़ों की तली में पतला सा छिद्र कर दिया जाता है। सबसे ऊपर के घड़े में अशुद्ध पानी भरा जाता है, जिसे शुद्ध करना अपेक्षित होता है। बीच के घड़े में कोयला, चूना, रेत आदि भर दिया जाता है। ऊपर के घड़े का पानी टपक-टपक कर निचले घड़े में आता रहता है तथा कोयले, चूने आदि के संपर्क से शुद्ध होकर सबसे नीचे के घड़े में जमा होता चलता है।

जल-शोधन

जलों को प्रदूषित न होने देने तथा प्रदूषित जलों को शुद्ध करने के कुछ उपायों का संकेत भी वेदों में मिलता है। एक मंत्र में कहा गया है कि वे दिव्य जल हमारे लिए सुखदायक हों, जिनमें वरुण, सोम, विश्वेदेवाः तथा वैश्वानर अग्नि प्रविष्ट हैं—

यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वेदेवा यासूर्जं मदन्ति ।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ।।

ऋ० ७.४९.४

यहां वरुण शुद्ध वायु या कोई जलशोधक गैस है, सोम चन्द्रमा या सोमलता है, विश्वेदेवाः सूर्यकिरणें हैं तथा वैश्वानर अग्नि सामान्य आग

या विद्युत् है। इनके द्वारा अशुद्ध जल को शुद्ध किया जा सकता है, यह तात्पर्य है। यंत्रों द्वारा या प्राकृतिक रूप से सूर्यताप को जल में पहुंचाना जल-शोधन का एक विशिष्ट उपाय वेदों में कहा गया है, साथ ही कुशा घास को भी जल-शोधक कहा गया है।

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।

यजु० १.१२,३१

तालाब आदि में स्थिर रहने वाले जल प्रदूषित हो जाते हैं, अतः वेद में बहते हुए जलों को अपेक्षाकृत अच्छा माना गया है। बहती हुई नदियां अपने जल को मधु से संसृष्ट कर लेती हैं–

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पयः।

ऋ० १.२३.१६

बिना रुके बहने वाले जल पवित्रतादायक होते हैं–**समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमानाः** ऋ० ७.४९.१। दिन-रात बहने वाले जलों का वेद में उत्सुकता के साथ आह्वान किया गया है–

ससुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च ससुषीः।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये।।

अथर्व० ६.२३.१

हिमालय से बहकर आने वाले जलों को हृदयदाह दूर करने वाला बताया गया है–

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ।।

अथर्व० ६.२४.१

नदियों के जल यदि अशुद्ध पदार्थों से प्रदूषित हो जाएं, तो विशाल स्तर पर उन्हें शुद्ध करने के अभियान का संकेत भी वेद में मिलता है। **यद्वो ऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि।** यजु०१.१३। अर्थात् अशुद्ध वस्तुओं ने यदि तुम्हें अपवित्र कर दिया है, तो तुम्हें मैं शुद्ध कर लेता हूं। ऋग्वेद में लिखा है कि यदि नदियों में विष उत्पन्न हो गया है तो सब विद्वान् जन मिलकर उसे दूर कर लें– **यन्नदीषु... परिजायते विषम्।**

जायते विषम्। विश्वेदेवा निरितस्तत् सुवन्तु ऋ० ७.५०.३। इसप्रकार सब नदियां प्रदूषण-रहित हो जाएं– **शिवा देवीरशिपदा भवन्तु, सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु** वही, मन्त्र ४।

३. भूमि

भूमि माता है

भूमि को वेद मे माता कहा गया है– **माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः** अथर्व० १२.१.१२, **उपहूता पृथिवी माता** यजु० २.१०। वेद की दृष्टि में भूमि विश्वंभरा है, धन की खान है, प्रतिष्ठा है, हिरण्यवक्षाः है, जगत् को अपने ऊपर बसाने वाली है– **विश्वंभरा बसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी** अथर्व० १२.१.६। वेद कहता है कि जिस भूमि की सेवा करने वाली नदियां दिन-रात समान रूप से बिना प्रमाद के बहती रहती हैं वह भूरिधारा भूमिरूप गौ माता हमें अपना जलधार-रूप दूध सदा देती रहे–

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।

अथर्व० १२.१.९

भूमि की हिंसा न करें

वेद में भूमिवासी जन भूमि माता को संबोधन करके कहते हैं कि हे भूमि माता, तुम हमारी हिंसा मत करो, हम तुम्हारी हिंसा न करें– **पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्** यजु० १०.२३। वेद मनुष्य को प्रेरित करता है कि तू उत्कृष्ट खाद आदि के द्वारा भूमि को पोषक तत्त्व प्रदान कर, भूमि को दृढ़ कर, भूमि की हिंसा मत कर–**पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह, पृथिवीं मा हिंसीः** यजु० १३.८। भूमि की हिंसा करने का अभिप्राय है उसके पोषक तत्त्वों को लगातार फसलों द्वारा इतना अधिक खींच लेना कि फिर वह उपजाऊ न रहे। भूमि पोषकतत्त्वविहीन न हो जाए एतदर्थ एक ही भूमि में बार-बार एक ही फसल को न लगा कर विभिन्न फसलों को अदल-बदल कर लगाना, उचित विधि से पुष्टिकर खाद देना आदि उपाय हैं। आजकल कई रासायनिक खाद ऐसे चल पड़े हैं, जो भूमि की उपजाऊ-शक्ति को चूस लेते हैं या भूमि की मिट्टी को

दूषित कर देते हैं। कीटनाशक दवाओं के अनुचित प्रयोग से, उद्योग-धन्धों के ठोस तथा जलीय दूषित पदार्थों की भूमि में निकासी से एवं कूड़ा- करकट, मल-मूत्र आदि के अनियंत्रित विसर्जन से भूमि प्रदूषित हो रही है। इस प्रकार वेद की परिभाषा में हम भूमि की हिंसा कर रहे हैं। भूमि की हिंसा का दूसरा अभिप्राय भूमि का अनुचित कटान भी लिया जा सकता है। आज पहाड़ों पर एवं मैदान में नदी-तटों पर वृक्षों तथा जंगलों के काटे जाने के कारण भूमि की दृढ़ता समाप्त हो रही है, परिणामस्वरूप वर्षा के साथ या नदी की बाढ़ों के साथ वह कट-कट कर बह रही है। यदि हम वृक्षों को नहीं काटते हैं तथा नवीन वृक्ष उगाते हैं, तो भूमि दृढ़ रहती है, एवं उसकी हिंसा नहीं होती।

भूमि में या भूतल की मिट्टी में यदि कोई कमी आ जाए तो उस कमी को पूर्ण किये जाने की ओर भी वेद ने ध्यान दिलाया है कि प्रजापति राजा विभिन्न उपायों द्वारा उस कमी को पूरा करे—**यत् त ऊनं तत् त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य** अथर्व० १२.१.६१। वेद की दृष्टि में भूमि को ऐसा बनाये रखना भूमिवासियों का कर्तव्य है कि वह अन्नादि को उत्पन्न करने वाली, ओषधियों की माता एवं विश्वधात्री बनी रहे— **विश्वस्वं मातरमोषधीनाम्** वही, मंत्र १७, **पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि** वही, मंत्र २७। वेद कहता है कि भूमि की गोद अर्थात् उसका धरातल एवं अंदर के अवयव हमारे लिए कीटाणुयुक्त तथा रोगोत्पादक न हों—**उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः** वही, मंत्र ६२। इसका अभिप्राय भी यही है कि भूमि या भूमि की मिट्टी प्रदूषित न हो।

यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि उत्तान लेटी हुई भूमि का हृदय यदि क्षतिग्रस्त हो गया है तो मातरिश्वा वायु उसमें पुनः शक्ति-संधान कर दे— **सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातु-उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्** यजु० ११.३९। प्रथम तो जड़ भूमि में चेतनत्व का आधान करके वेद के कवि ने एक सुन्दर काव्य की सृष्टि कर दी है, दूसरे इससे यह सूचित होता है कि भूमि की उपजाऊ-शक्ति यदि न्यून या समाप्तप्राय हो गयी है, तो कुछ समय उसमें खेती न करके उसे खाली छोड़े रखने से शुद्ध वायु, सूर्यरश्मि, वर्षा आदि के द्वारा उसमें पुनः शक्ति आ सकती है। मातरिश्वा वायु का अर्थ है अंतरिक्षसंचारी पवन, जो जल, तेज आदि अन्य प्राकृतिक तत्त्वों का भी उपलक्षक है। परन्तु यदि जल, वायु आदि ही प्रदूषित हो गये हों तो उनसे भूमि की क्षति-पूर्ति कैसे हो सकेगी?

४. अग्निहोत्र द्वारा पर्यावरण-शोधन

वैदिक संस्कृति में अग्निहोत्र या यज्ञ का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के करने योग्य पंच यज्ञों में अग्निहोत्र का भी स्थान है, जिसे देवयज्ञ कहा जाता है। अग्निहोत्र यज्ञाग्नि में शुद्ध घृत एवं सुगन्धित, वायुशोधक, रोगनिवारक पदार्थों की आहुति द्वारा संपन्न किया जाता है। एक अग्निहोत्र वह है जो धार्मिक विधि-विधानों के साथ मंत्रपाठपूर्वक होता है, दूसरे उसे भी अग्निहोत्र कह सकते हैं जिसमें मंत्रपाठ आदि न करके विशुद्ध वैज्ञानिक या चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से अग्नि में वायुशोधक या रोगकृमिनाशक पदार्थों का होम किया जाता है। आयुर्वेद के चरक, बृहन्निघण्टुरत्नाकर, योगरत्नाकर, गदनिग्रह आदि ग्रन्थों में ऐसे कई योग वर्णित हैं, जिनकी आहुति अग्नि में देने से वायुमंडल शुद्ध होता है तथा श्वास द्वारा धूनी अंदर लेने से रोग दूर होते हैं। वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि को पावक, अमीवचातन, पावकशोचिष्, सपत्नदम्भन आदि विशेषणों से विशेषित करके उसकी शोधकता प्रदर्शित की गयी है।[1] यज्ञ का फल चतुर्दिक् फैलता है-**यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा** यजु० ८.६२। अग्निहोत्र औषध का काम करता है- **अग्निष्कृणोतु भेषजम्** अथर्व० ६.१०६.३। अग्निहोत्र से शरीर की न्यूनता पूर्ण होती है- **अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण** यजु० ३.१७। अग्नि वायुमंडल से समस्त दूषक तत्त्वों का उन्मूलन करता है– **अग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि** ऋ० १०.८०.२। वेद मनुष्यों को प्रेरणा करता है कि तुम अग्नि में शोधक द्रव्यों की आहुति देकर वायुमंडल को शुद्ध करो–**आ जुहोता हविषा मर्जयध्वम्** साम० ६३।

अग्निहोत्र की अवश्यकर्तव्यता की ओर संकेत करते हुए वेद कहते हैं– **स्वाहा यज्ञं कृणोतन** ऋ०१.१३.१२, स्वाहापूर्वक यज्ञ करो। **समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्** यजु० ३.१, समिधा से अग्नि का सत्कार करो, घृत की आहुतियों से उस अतिथि को प्रबुद्ध करो। **सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन** यजु० ३.२, सुसमिद्ध अग्निज्वाला पर पिघले घी की आहुति दो। **अग्निमिन्धीत मर्त्यः** साम० ८२, मनुष्य को चाहिए कि वह अग्नि प्रज्वलित करे। **सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत** अथर्व० ३.३०.६, सब मिल कर अग्निहोत्र किया करो।

अग्निहोत्र का समय सायं और प्रातः है। सायं किया हुआ अग्निहोत्र प्रातःकाल तक वायुमंडल को प्रभावित करता रहता है और प्रातः किये गये अग्निहोत्र का प्रभाव सायंकाल तक वायुमंडल पर पड़ता है–

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ।।
प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता ।।

अथर्व० १९.५५.३,४

अग्निहोत्र ऐसी विशाल, दिव्य, दीप्तिमयी, निश्छिद्र, कल्याण-दायिनी, अखण्डित, निश्चित रूप से आगे ले जाने वाली, विधिविधान-रूप सुन्दर चप्पुओं वाली, निर्दोष, न चूने वाली नौका है जो सदा यज-मान की रक्षा ही करती है–

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ।।

यजु० २१.६

अग्निहोत्र-रूप यज्ञ से आयु बढ़ती है, प्राण सबल होता है, चक्षु सशक्त होती है, श्रोत्र और वाणी सामर्थ्ययुक्त होते हैं, मन और आत्मा बलवान् बनते हैं–

आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां,
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, वाग् यज्ञेन कल्पतां, मनो यज्ञेन कल्पता-
मात्मा यज्ञेन कल्पताम् ।।

यजु० १८.२९

अग्नि में होमी हुई हवि वायुमंडल के रोगकृमि-रूप यातुधानों को वैसे ही विनष्ट कर देती है जैसे नदी झागों को– **इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्** अथर्व० १.८.२। भोजन, दूध, पानी, कच्चे-पक्के अन्न आदि में प्रविष्ट होकर जो रोगजन्तु हानि पहुंचाते हैं उन्हें अग्निहोत्र नष्ट कर देता है। (द्रष्टव्यः अथर्व० ५.२९.६-९)। अग्निहोत्र की हवि सिर की पीड़ा, खांसी आदि को हर लेती है-**मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य** अथर्व० १.१२.३। वेद का वैद्य क्षयरोग को ललकार कर कहता है कि तू उसे कैसे मार सकता है, जिसके घर में हम अग्नि में हवि देते हैं–**कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे** अथर्व० ७.७६.५। वैद्य रोगी को संबोधन करके कहता है कि अग्निहोत्र की हवि द्वारा मैं तुझे अज्ञात रोग से, यहां तक कि राजयक्ष्मा के पंजे से भी छुड़ा दूंगा, यदि तुझे बातव्याधि ने भी जकड़ लिया है तो भी मेरे द्वारा प्रयुक्त विद्युत् और अग्नि तुझे उससे छुड़ा देंगे। अग्नि में डाली हुई हवि तेरी इन्द्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देगी, आयु के सौ वर्ष तुझे निर्विघ्न पार करायेगी । सर्वहितकारी यज्ञाग्नि से मै तेरे रोग को दूर कर दूंगा।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ।।
सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।।

अथर्व० ३.११.१,३

तेना ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये।

अथर्व० ६.८५.३

जो अग्निहोत्र करता है उसे सुवीर्य प्राप्त होता है, वह पुष्ट होता है- **सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति** ऋ० ३.१०.३।

वायु, जल आदि की शुद्धि के लिए अग्नि में गोघृत एवं गूगल, पिप्पली, अजशृंगी आदि ओषधियों की आहुति की चर्चा वेदों में मिलती है। गूगल के संबंध में अथर्ववेद में लिखा है कि जिसे गूगल औषध की सुगन्ध प्राप्त होती है उसे रोग पीड़ित नहीं करते–

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेजजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ।।

अथर्व० १९.३८.१

अग्निहोत्र की अग्नि में डाली हुई घृत, गूगल आदि की हवि प्रदूषित वायुमंडल के प्रदूषण को दूर करके उसे स्वच्छ, सुगन्धित, रोगहर वायु में परिणत कर देती है। गोघृत में प्रदूषण को दूर करने की अद्भुत क्षमता है।

अग्निहोत्र के विषय में एक शंका यह उठायी जाती है कि उसमें समिधाएं एवं हवन-सामग्री जलाने से कार्बन-द्विओषिद गैस उत्पन्न होती है, जबकि इस गैस की मात्रा दूषित वायुमंडल में पहले ही पर्याप्त अधिक विद्यमान है। शुद्ध वायुमंडल में अग्निहोत्र करना तो लाभदायक हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में जो कार्बन-द्विओषिद गैस उत्पन्न होगी वह सह्य होगी; परन्तु अशुद्ध वायुमंडल में अग्निहोत्र करना हानिकारक ही है। इस शंका का उत्तर यह है कि अग्निहोत्र यदि ठीक विधि से किया जाए तो कार्बन-द्विओषिद गैस अत्यल्प उत्पन्न होती है तथा उसकी तुलना में घृत, केसर, कस्तूरी, कपूर आदि के जलने से जो प्राणदायक सुगन्ध उठती है वह अधिक हितकर होती है, जिससे अन्ततः अग्निहोत्र लाभदायक ही सिद्ध होता है। अग्नि में जो हवि हम डालते हैं उसकी सुगन्ध वायु के माध्यम से सर्वत्र फैलकर प्रदूषण को दूर करके रोगहर होती है।

आजकल हम अग्निहोत्र में समिधाएं अधिक जलाते हैं, वे भी उन वृक्षों की जो हवन में विहित नहीं हैं, तथा घृत की मात्रा अतिन्यून रखते हैं। हवन-सामग्री भी, जिसमें प्रायः लाभप्रद ओषधियां नहीं होती हैं, प्रत्युत निःसार द्रव्य ही अधिक होते हैं, पर्याप्त मात्रा में डाली जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि धुंआ एवं कार्बन-द्विओषिद गैस ही अधिक उत्पन्न होते हैं, जो दूषित वायुमंडल को और भी अधिक दूषित कर देते हैं। अतः इस ओर सावधानी रखनी आवश्यक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वलिखित 'संस्कारविधि' ग्रन्थ के सामान्य प्रकरण में होम के चार प्रकार के द्रव्य लिखे हैं– प्रथम **सुगन्धित** कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची जायफल, जावित्री आदि । द्वितीय **पुष्टिकारक** घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि। तीसरे **मिष्ट** शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। चौथे **रोगनाशक** सोमलता, गिलोय आदि ओषधियां। स्वामी जी ने होम के घृत को भी ओषधियों से सुगन्धित करने के लिए लिखा है। वे लिखते हैं-''सेर भर घी के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल-जावित्री, सेर भर मीठा सब डाल कर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खीचड़ी, मोदक आदि होम के लिए बनावें। प्रत्येक आहुति कम से कम ६ मासा भर घृत की देवें। अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवे। यही आहुति का परिमाण है।'' यज्ञसमिधा पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की होनी चाहिए। वे शीघ्र जलती हैं, धुआं भी नहीं होता तथा विषैली गैसें भी उत्पन्न नहीं होती हैं, प्रत्युत स्वास्थ्यकर एवं रोगहर गन्ध उठती है।

अग्निहोत्र वायु, जल, मिट्टी, वनस्पति आदि सभी के प्रदूषण को दूर करने में सहायक होता है। अग्निहोत्र की हवि की सुगन्ध को चतुर्दिक् फैलाने वाला वायु है। वायु को वेद में हविर्गन्ध स्थानान्तर पर पहुंचाने के लिए निमंत्रित किया गया है– **उपयाहि वीतये, वायो हव्यानि वीतये** (ऋ० १.१३५.३)। सूर्य-रश्मियों के साथ मिलकर वायु अग्नि में आहुत हवियों को और भी अधिक लोकोपयोगी बना देता है-**तवायं भाग ऋत्वियः सरश्मि सूर्ये सचा** (वही, मंत्र ३)। वायु अग्नि में डाली गयी हवियां हमें प्रदान करता है– **वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्यदातये** ऋ०५.५१.५। यदि वायु प्रदूषित भी है तो भी हविर्गन्ध से युक्त होकर

वह शुचि हो जाता है– **आ वायो भूष शुचिपा उप नः**, ऋ० ७.९२.१। वायु हविर्गन्ध से शुद्ध होकर हमारे प्राण, अपान एवं व्यान की रक्षा करता है– **प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि** यजु० १४.८। हविर्गन्ध से अनुप्राणित होकर वायु हमारा पिता, भ्राता और सखा बन कर हमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है–

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
सं नो जीवातवे कृधि।।

ऋ० १०.८६.२

हवि की सुगन्ध से समन्वित पवमान वायु अपने पवित्रतादायक गुण से हमें पवित्र करता है–

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु मा।।

यजु० १९.४२

जो दिन में या रात्रि में हम विभिन्न प्रकार के प्रदूषण उत्पन्न करते रहते हैं, उनसे हविर्गन्धंयुक्त वायु हमें छुड़ाता है–

यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः।।

यजु०२०.१५

वनस्पतियों में उत्पन्न घातक कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए तथा वनस्पतियों की यथोचित वृद्धि के लिए उन्हें यज्ञिय हवि देने का संकेत भी वेदों में मिलता है। 'होता' को कहा गया है कि तू यज्ञ कर, जिससे वनस्पतियां हवि को ग्रहण करें– **देवो वनस्पतिर्जुषतां हविर्होतर्यज** यजु० २१.४६। जड़, शाखा, वनस्पति, फल, ओषधि सबको स्वस्थ रखने के लिए स्वाहापूर्वक हविर्दान की प्रार्थना वेद में की गयी है–

मूलेभ्यः स्वाहा, शाखाभ्यः स्वाहा, वनस्पतिभ्यः स्वाहा,
फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा।

यजु० २२.२८

पर्यावरण पर अग्निहोत्र का इतना अधिक प्रभाव होने पर भी इसके प्रयोग के विषय में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। एक अग्निहोत्र तो नित्यकर्म है, जिसका शास्त्रों में प्रातः सायं दोनो समय करने का विधान है। वह तो नित्यकर्म होने से अवश्य ही करणीय है। उससे

आंशिक रूप से वायुमंडल स्वच्छ होता है तथा आध्यात्मिक लाभ भी मिलता है। परन्तु नित्यकर्म-रूप अग्निहोत्र के अतिरिक्त प्रदूषण-निवारण के लिए यदि हम अनेक दिन चलने वाले वेदपारायण-यज्ञों या गायत्री-यज्ञों का आयोजन करते हैं, तो उससे पूर्व आय-व्यय का लेखा-जोखा तैयार कर लेना आवश्यक है। उस बृहद् यज्ञ में जितना व्यय होगा उससे पर्याप्त कम व्यय में अन्य किसी सस्ते साधन से यदि प्रदूषण दूर किया जा सकता हो, तो यज्ञ के स्थान पर उस साधन को अपनाना श्रेयस्कर होगा। साथ ही यदि हम यज्ञ के आयोजन का निश्चय करते भी हैं तो हमें आयुर्वैदिक दृष्टि से इसका ज्ञान भी प्राप्त कर लेना होगा कि किस प्रदूषण के निवारणार्थ किन-किन ओषधियों की आहुति देनी उपयुक्त है। जिस परिसर में यज्ञ करना है उस परिसर की यज्ञ आरंभ करने से पूर्व भरपूर स्वच्छता भी कर लेनी होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि विशाल यज्ञों का आयोजन करना है तो केवल श्रद्धावश नहीं, प्रत्युत वैज्ञानिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण भी संमुख रखा जाना नितान्त आवश्यक है।

५. आंधी, वर्षा और सूर्य द्वारा पर्यावरण-शोधन

प्राकृतिक रूप से आंधी, वर्षा और सूर्य द्वारा कुछ अंशों में स्वतः प्रदूषण-निवारण होता रहता है। वायु में रथ का आरोप करके वेद का कवि झंझावात का वर्णन करता हुआ कहता है—

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्।।

ऋ० १०.१६८.१

देखो, वायु-रथ की महिमा को देखो। यह बाधाओं को तोड़ता-फोड़ता हुआ चला जा रहा है। कैसा गरजता हुआ इसका घोष है! आकाश को छूता हुआ, दिक्प्रान्तों को लाल करता हुआ, भूमि की धूल को उड़ाता हुआ वेग से जा रहा है।

मरुतों के नाम से भी वेद क्वचित् आंधियों का और क्वचित् मानसून पवनों का वर्णन करता है। झंझावात-रूप मरुत् पर्वतों को कंपा देते हैं वनस्पतियों को चीर देते हैं - **प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्** ऋ० १.३९.३। इन मरुतों के घोष से जड़ पदार्थ कांप उठते हैं, मनुष्य

भी कांप उठते है- **अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्। अरेजन्त प्र मानुषाः** ऋ० १.३८.१० । जब ये वेग से चलते हैं तब अडिग पहाड़ और बृक्ष-वनस्पति गूंज उठते हैं, भूमि थर्रा जाती है– **अच्युता चिद् वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः। भूमिर्यामेषु रेजते** ऋ० ८.२०.५। झंझावात-रूप मरुत् प्रदूषण को बहा ले जाकर हमें उपकृत तथा रक्षित करते हैं, रोगकृमि-रूप राक्षसों को जकड़ कर पीस डालते हैं– **अनवद्यासः शुचयः पावकाः** ऋ० ७.५७.५, **गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन** ऋ० ७.१०४.१८, **शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनाः। ते नो मुञ्चन्त्वंहसः** अथर्व० ४.२७.३ ।

दूसरे मानसून पवन रूप मरुत् मेह बरसाते हैं–**वपन्ति मरुतो मिहम्** ऋ० ८.७.४ । ये वर्षा द्वारा प्रदूषण को दूर करते हैं। ये समुद्र से जलों को ऊपर उठाते हैं तथा बादल बनाकर वृष्टि कराते हैं। जब इनकी वृष्टि होती है तब रंभाती हुई गाय के समान बिजली गड़गड़ाती है–

अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।

अथर्व० ४.२७.४

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति।
यदेषां वृष्टिरसर्जि ।।

ऋ० १.३८.८

मरुतों द्वारा बरसाये हुए बादल जब भूमि तथा पहाड़ों पर बरसते हैं तब अजगरों-जैसे प्रवाह बहने लगते हैं, दिशा-दिशा में बिजलियां चमकती हैं, दिशा-दिशा में हवाएं चलती हैं, ओषधियां ऊंची हो जाती हैं, सब प्राणियों के लिए अन्न उत्पन्न हो जाता है–

सं वो ऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु।।
आशामाशां विद्योततां वाता वान्तु दिशो दिशः।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु।।

अथर्व० ४.१५.७,८

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः ।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति।।

ऋ० ५.८३.४

बादल की वृष्टि से हम उत्कृष्ट स्थिति को पा लेते हैं, सब पेड़-पौधे, पर्वत, भूप्रदेश धुल कर स्वच्छ हो जाते हैं, रोग दूर हो जाते हैं, प्राणियों की आयु लम्बी हो जाती है—

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।

अथर्व० ३.३१.११

प्रकृति में **सूर्य** भी प्रदूषण का निवारक है। वह अपने रश्मिजाल से तथा अपने द्वारा की जाने वाली वर्षा से पवित्रता प्रदान करता है—

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।
मां पुनीहि विश्वतः ।।

यजु० १९.४३

सूर्य अमृत बरसाता है—**स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि** अथर्व० ६.१.३। सूर्य क्षितिज में उदित होता हुआ तथा ऊर्ध्वाकाश में चढ़ता हुआ रोगों को, द्वेषी रोगकृमियों को तथा पर्यावरण के प्रदूषण को दूर करता है—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।।
उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम्।।

ऋ० १.५०.११,१३

सूर्य अपनी ज्योति से अंधकार को बाधता है, समस्त अन्नाभाव को, अनाहुति को, रोग को और दुःस्वप्न को दूर करता है—

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद् विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव।।

ऋ० १०.३७.४

पर्वत-शिखरों की ओट में से सूर्य को ऊपर उठता हुआ देख कर मानव पुकार उठता है— देखो, यह पर्वतों के पीछे से विश्वदृष्ट आदित्य ऊपर उठ रहा है, जो न दीखने वाले रोगकृमियों को तथा प्रदूषण, रोग आदि राक्षसों को विनष्ट कर रहा है—

उत् सूर्यों दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।।

अथर्व० ६.५२.१

हे सूर्य, जो तेरा ताप है उससे तू उसे तपा डाल जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं–

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।।

अथर्व० २.२१.१

प्रदूषणनाशक प्राकृतिक पदार्थों की गणना करता हुआ वेद कहता है कि सोम आदि ओषधियां जिनके पृष्ठ पर उगी हैं ऐसे पर्वत, उत्तान लेटी हुई नदियां, वायु, बादल, अग्नि, सूर्य, विद्युत् ये सब प्रदूषणों को शान्त करने वाले हैं–

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्।।

अथर्व० ३. २१.१०

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः।।

अथर्व० ११.६.६

शमग्निरग्निभिः करच्छं नस्तपतु सूर्यः।
शं वातो वात्वरपा अप स्रिधः।।

ऋ० ८.१८.९

शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु।।

यजु० ३६.१०

सूर्यों नो दिवस्यातु वातो अन्तरिक्षात् ।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ।।

ऋ० १०.१५८.१

अन्त में उपसंहार-रूप में हम कह सकते हैं कि वायु, जल, भूमि, आकाश, अन्न आदि पर्यावरण के सभी पदार्थों की शुद्धि के लिए वेद हमें जागरूक करता है तथा आयी हुई अस्वच्छता को दूर करने के लिए प्रेरित करता है। पर्यावरण की शुद्धि के लिए वेद वनस्पति उगाना,

अग्निहोत्र करना, विद्युत्, अग्नि, सूर्य एवं ओषधियों का उपयोग करना आदि उपायों को सुझाता है।

पाद - टिप्पणियां

१. वानस्पत्यः फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः। ओषध्यः फलपाकान्ताः। अमरकोष २.४.६

२. द्रष्टव्यः निरुक्त ८.१७।

३. यथा, पावक ऋ० १.१२.१८,१९, अमीवचातन अथर्व० १९.५८.१, पावकशोचिष् ऋ० ३.९.८, सपत्नदम्भन यजु० ३.१८।

सती-प्रथा वेदविरुद्ध

उन्नीसवीं शती ईस्वी के प्रथम चरण में हिन्दूधर्म के सुधारवादी नेता राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा के विरोध में प्रबल आन्दोलन उठाया था। ४ दिसंबर १८२९ को लार्ड विलियम वेंटिंक ने कानून द्वारा सती-प्रथा को निषिद्ध ठहरा दिया। फिर भी सती-प्रथा सर्वथा बन्द नहीं हो सकी। सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूना में दिये गये अपने बारहवें प्रवचन में स्पष्ट घोषणा की थी कि ''सती होने के लिए वेद की आज्ञा नहीं है''।

चतुर्वेदभाष्यकार सायण ने चारों वेदों में से केवल अथर्ववेद के एक मन्त्र में सती-प्रथा के समर्थन करने का प्रयास किया है। वह मन्त्र निम्नलिखित है–

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।।

अथर्व० १८.३.१

इस मंत्र का सामान्य अर्थ यह है–(इयं नारी) यह नारी, (पुराणं धर्मम् अनुपालयन्ती) पुरातन धर्म का पालन करती हुई (पतिलोकं वृणाना) पतिगृह को पसन्द करती हुई (मर्त्य) हे मरणधर्मा मनुष्य, (प्रेतं त्वा) तुझ मृत के (उप) समीप (निपद्यते) नीचे भूमि पर बैठी हुई है। (तस्यै) उसे (प्रजाम्) सन्तान (द्रविणं च) और सम्पत्ति (इह) यहां (धेहि) सौंप।

पति की सन्तान और सम्पत्ति विधवा की

जिस स्त्री के पति की मृत्यु हो गयी है, उसके लिए यह स्वाभाविक है कि वह शोकविह्वल होकर मृत पति के पास बैठी हो। मन्त्र में उसके लिए पुरातन वेदानुमोदित धर्म यह बतलाया गया है कि वह मृत पति के शव को छोड़कर पतिलोक में रहे। वेद में पतिलोक से पतिगृह तथा पितृलोक से पितृगृह अभिप्रेत होता है। अथर्ववेद के विवाह-सूक्तों में

पतिलोक और पितृलोक इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, यथा-**'शिवा स्योना पतिलोके विराज'** (अथर्व० १४.१.६४), **उशती कन्यला इमाः पितृ-लोकात् पतिं यतीः** (अथर्व० १४.२.५२)। 'अपनी विधवा पत्नी को सन्तान और सम्पत्ति सौंप' यह कहने का अभिप्राय यह है कि पति की सन्तान और सम्पत्ति पर उसकी विधवा पत्नी का ही अधिकार होगा।

सायण का अर्थ

अब सायणाचार्य की लीला देखिए। उन्होंने इस मन्त्र का अर्थ सहमरणपरक किया है, जो हास्यास्पद प्रतीत होता है। उनका अर्थ इस प्रकार है—''यह नारी अनादिशिष्टाचारसिद्ध, स्मृतिपुराणादि में प्रसिद्ध सहमरणरूप धर्म का परिपालन करती हुई पतिलोक को अर्थात् जिस लोक में पति गया है उस स्वर्गलोक को वरण करना चाहती हुई तुझ मृत के पास सहमरण के लिए पहुंच रही है। अगले जन्म में तू इसे पुत्र-पौत्रादि प्रजा और धन प्रदान करना।''[1] सायण कहते हैं कि सहमरण के प्रभाव से अगले जन्म में भी उसे वही पति मिलेगा[2], इसलिए ऐसा कहा गया है।

पाठक देखें कि सहमरण को वेदोक्त सिद्ध करने के लिए सायणाचार्य को कितना प्रपंच रचना पड़ा है। प्रथम तो 'पतिलोक' का वेदप्रसिद्ध अर्थ छोड़कर स्वर्गलोक अर्थ किया, फिर 'पुराणधर्म' से स्मृतिपुराणादि में प्रोक्त धर्म का ग्रहण किया। भला 'पुराणधर्म' से स्मृतिपुराणादिप्रसिद्ध धर्म का ग्रहण कैसे हो सकता है, क्योंकि स्मृतिपुराणादि तो वेदों के बाद बने हैं। कोई ग्रन्थ अपने परवर्ती साहित्य का हवाला कैसे दे सकता है? पुराण धर्म का अभिप्राय 'अनादिकाल से चला आ रहा शिष्टजनसम्मत धर्म' ही लेना चाहिए। फिर मृत पति चिता में भस्म हुई पत्नी को संतान और धन कैसे देगा, इसके लिए कल्पना करनी पड़ी कि जन्मान्तर में भी उसे वही पति मिलेगा। पर मंत्र में तो 'इह' शब्द है, जिससे सूचित होता है कि इसी जन्म में पत्नी को संतान और संपत्ति प्राप्त होनी है।

सती-प्रथा संबन्धी एक श्लोक

मृत पति के साथ चिता में जलकर मर जाना ही स्मृतिपुराणादि-प्रसिन्द्र धर्म है, यह सिद्ध करने के लिए सायण ने एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसका पता उन्होंने नहीं दिया।

भर्तारम् उद्धरेन्नारी प्रविष्टा सह पावकम्।
व्यालग्राही यथा सर्पं बलाद् उद्धरते बिलात्।।

इसका अर्थ यह है कि 'जैसे सांपों को पकड़ने वाला संपेरा बलपूर्वक सांप का बिल से उद्धार कर लेता है, वैसे ही वह नारी जो पति के साथ चिता की अग्नि से प्रविष्ट होती है पति का उद्धार कर देती है।'

असल में इस श्लोक से सायण जो अभिप्राय लेना चाहते हैं उससे उल्टा ही अभिप्राय निकल रहा है, यह बात दी हुई उपमा से स्पष्ट है। सांप अपने बिल में आनन्द से निवास कर रहा होता है, पर संपेरा बिल में से उसे पकड़ कर उसका कैसा उद्धार करता है यह सबको ज्ञात ही है। वह उसे और भी संकट में डाल देता है, अपनी पिटारी में डालकर उसे पराधीन कर देता है। ऐसे ही मृत पति की आत्मा विधवा पत्नी को अपने शव के साथ चिताग्नि में भस्म होता हुआ देखकर रो उठती है, पुनर्जन्म में भी उसे इस अघटनीय घटना को यादकर चैन नहीं मिलता, यही श्लोक का भाव निकलता है। जैसे संपेरा सांप को अच्छी स्थिति से निकाल कर कष्टापन्न स्थिति में डाल देता है, वैसे ही मृत पति के साथ चिता में भस्म हुई पत्नी पति को उत्कृष्ट स्थिति से निकालकर कष्टापन्न कर देती है, यह अभिप्राय लिया जाना चाहिए। यदि श्लोक का आशय यह लिया जाए कि सहमरण करने वाली नारी पति को नरक से बलपूर्वक निकाल लाती है तथा स्वर्ग में उसके साथ आनन्द से रहती है, तो यह स्मार्त श्लोक श्रुतिविरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता।

विधवा को जीवलोक में रहने का निमंत्रण

वस्तुतः वेद के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि अगले ही मंत्र के भाष्य में सायण को सती-प्रथा के पक्षधर होने का आग्रह छोड़ देना पड़ा है। वहां वे लिखते हैं कि मृत पति के पास बैठी हुई वह विधवा यदि जीवित रहना चाहे तो उसे उठाकर जीवलोक में ले आएं[3]। मंत्र इस प्रकार हैं–

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ।।

अथर्व० १८.३.२

इसका सायणकृत अर्थ यह है– 'हे मृत पति की धर्मपत्नी! तू मृत के पास से उठकर जीवलोक में आ, तू इस निष्प्राण पति के पास क्यों पड़ी हुई है? पाणिग्रहणकर्ता पति से तू संतान पा चुकी है, उसका पालन-पोषण कर।'[4]

सायणकृत इस अर्थ से हमें भी विरोध नहीं है। पर सायण की बुद्धिमत्ता इसमें होती कि वे इस मंत्र में प्रतिपादित अर्थ के अनुकूल ही प्रथम मंत्र का भी अर्थ करते।

यह द्वितीय मंत्र ऋग्वेद १०.१८.८ में भी आया है, केवल इतना भेद है कि 'दधिषोस्' के स्थान पर 'दिधिषोस्' पाठ है, जिससे अर्थ में कुछ अंतर नहीं पड़ता। उसके भाष्य में 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' का विनियोग दर्शाते हुए सायण लिखते हैं कि जो विधवा पत्नी सहमरण का निश्चय करके मृत पति के पास लेटी हुई है उसे उठाकर उसका देवर, कोई अन्तेवासी अथवा बूढ़ा सेवक जीवलोक में अर्थात् पुत्र-पौत्रों वाले घर में ले आवे।[५]

सायण के अर्थों में परस्पर विरोध

अथर्ववेद के उपर्युक्त प्रथम और द्वितीय मंत्र के सायणकृत अर्थों में विरोध स्पष्ट है। उसका परिहार करने के लिए सायण ने एक अनोखा समाधान खोज निकाला है। वे लिखते हैं कि प्रथम मंत्र अदृष्ट फल के लिए अर्थात् परलोक सुधारने की दृष्टि से है, किन्तु दूसरा मंत्र दृष्ट अर्थात् ऐहलौकिक फल की दृष्टि से है, दोनों ही फल शास्त्रानुकूल हैं, अतः जो विधवा स्वर्गादि अदृष्ट फल को अधिक महत्त्व देती है, उसे पति के साथ सती हो जाना चाहिए, किन्तु जो ऐहलौकिक सुख का भोग करना चाहती है उसे जीवित रहना चाहिए।[६] किन्तु पहले विरोध उत्पन्न कर फिर इसप्रकार के समाधान खोजने की अपेक्षा सायण के लिए उचित यह होता कि वे ऐसा भाष्य करते जिससे एक मंत्र का दूसरे मंत्र से विरोध होता ही नहीं। वस्तुतः दोनों ही मंत्रों में विधवा नारी को जींवलोक में रहने का सौजन्यपूर्ण निमंत्रण दिया गया है, यह हमारे अर्थ में स्पष्ट है।

विधवा का पुनर्विवाह

इस संबन्ध में अथर्ववेद के इसी प्रकरण का तीसरा मंत्र भी देखना उपयोगी होगा, जिसमें विधवा के पुनर्विवाह की चर्चा है। यदि विधवा के साथ पतिगृह में साहनुभतिपूर्ण व्यवहार होगा तथा उसके सुख-दुःख का ध्यान रखा जाएगा तो वह आयुपर्यन्त वहीं रहने में गौरव अनुभव

कर सकती है, विशेषकर उस स्थिति में जबकि वह बड़ी आयु की हो। विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति भी अथर्ववेद के इसी प्रसंग में दी गयी है।

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्।।

मैंने (युवतिं) विधवा युवति को (जीवां) जीवित, (मृतेभ्यः नीयमानां) मृतों के बीच से अर्थात् श्मशान-भूमि से ले जायी जाती हुई तथा (परिणीयमानाम्) पुनर्विवाह की जाती हुई (अपश्यम्) देखा है। (यत्) क्योंकि यह (अन्धेन तमसा) पतिविरहजन्यदुःखरूप घोर अंधकार से (प्रावृता आसीत्) प्रावृत थी, (तत्) इस कारण (एनाम्) इसे (प्राक्तः) पूर्वपत्नीत्व से हटाकर (अपाचीम्) दूसरा पत्नीत्व (अनयम्) मैंने प्राप्त करा दिया है।

यह मंत्र उस विधवा के विषय में है जो अभी युवति है तथा जिसने संबन्धी जनों के आग्रह पर दूसरा विवाह करना स्वीकार कर लिया है। मंत्र का पूवार्ध पुनर्विवाह के प्रत्यक्षदर्शी की ओर से कहा गया है तथा उत्तरार्ध पुनर्विवाह करवाने वाले की ओर से। जिसने पुनर्विवाह की व्यवस्था की है वह कह रहा है कि इसके पतिविरह के दुःख को दूर करने के लिए मैंने इसका पुनर्विवाह करा दिया है। मंत्र में 'युवति' शब्द द्रष्टव्य है। यदि विधवा नारी युवति है तो उसका विवाह हो जाना ही अच्छा है, यह इससे ध्वनित होता है।[९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद विधवाओं के सुखसुविधापूर्ण तथा सम्मानित जीवन-यापन के लिए सतर्क है और वे चाहें तो उन्हें पुनर्विवाह की भी अनुमति देता है। सती-प्रथा या सहमरण का एक भी मंत्र किसी भी वेद में नहीं है। 'वैदिक इन्डैक्स' में पति-पत्नी शब्द के विवरण में मैक्डानल लिखते हैं कि अथर्ववेद में सती-प्रथा है, ऋग्वेद में नहीं है, ऋग्वेद में देवर के साथ उसका विवाह होना वर्णित है- **विधवेव देवरम्** (ऋ० १०.४०.१२)। अथर्ववेद में सती-प्रथा का होना उन्होंने ऊपर उद्धृत केवल एक मंत्र (१८.३.१) के आधार पर माना है, जिसका सायण ने सतीप्रथापरक अर्थ किया है, जिस अर्थ का अनौचित्य हम अभी बतला चुके हैं। मध्यकाल में बंगाल के कुछ पंडितों ने **'आराहन्तु जनयो योनिमग्रे'** (ऋ० १०.१८.७) मंत्र में 'अग्रे' के स्थान पर 'अग्नेः' पढ़कर सतीप्रथा को वैदिक सिद्ध करना चाहा था, परन्तु

यह उनका छल ही था, क्योंकि वास्तविक पाठ 'अग्रे' ही है। सायण ने भी 'अग्रे' पाठ मानकर ही व्याख्या की है और मंत्र को सती-प्रथा के पक्ष में न लगाकर मंत्र का आशय यह लिया है कि गृहप्रवेश में पत्नियां आगे-आगे चलें।

आज के प्रगतिवादी युग में राजस्थान के 'दिवराला' ग्राम में हुआ सतीकाण्ड और पुरी के शंकराचार्य द्वारा किया गया सती-प्रथा का समर्थन दोनों ही सचमुच विडम्बनापूर्ण हैं।

पाद - टिप्पणियां

१. इयं पुरोवर्तिनी, नारी स्त्री, पतिलोकम् पत्युर्लोकः पतिलोकः पत्या अनुष्ठितानां यागदानहोमादीनां फलभूतं स्वर्गादिस्थानम् तं पति-लोकम् वृणाना सहधर्मचारिणीत्वेन संभजमाना एवंभूता स्त्री, हे मर्त्य मरणधर्मन् मनुष्य प्रेतम् प्रकर्षेण गतम् अस्माद् भूलोकाद् विनिर्गतं वा त्वाम्, उपनिपद्यते समीपे नितरां गच्छति, अनु-मरणार्थं प्राप्नोतीत्यर्थः। धर्मम् सुकृतम् अनुपालयन्ती आनुपूर्व्येण सम्प्रदायाविच्छेदेन परिपालनम् अनुपालनम् तत् कुर्वती। स्मृति-पुराणादिप्रसिद्धधर्मस्य अनुमरणजन्यस्य अनुपालनाद्धेतोरित्यर्थः। तस्यै तथाविधायै अनुमरणं कृतवत्यै स्त्रियै, इह अस्मिन् भूलोके जन्मान्तरे लोकान्तरेऽपि, प्रजाम् प्रजायत इति प्रजा तां पुत्रपौत्रा-दिरूपां, द्रविणं धनं च, धेहि प्रयच्छ।

२. अनुमरुणप्रभावाज्जन्मान्तरे ऽपि स एव तस्याः पतिर्भवतीत्यर्थः।

३. उपनिपद्यमाना सा यदि इहलोके पुनर्जीवितुम् इच्छेत् तदा 'उदीर्ष्व' इत्यनया द्वितीययर्चा प्रेतेन सह संविष्टां ताम् अभिमन्त्र्य उत्थापयेत्।

४. हे नारि धर्मपत्नि, जीवलोकम् जीवानां जीवतां प्राणधारिणां लोकः। लोक्यते अनुभूयते जन्मान्तरकृतधर्माधर्मफलं सुखदुःखात्म-कम् अस्मिन्निति लोकः भूलोकः, तथाविधं जीवलोकम् अभि अभिलक्ष्य, उदीर्ष्व उद्गच्छ पत्युः सकाशाद् उतिष्ठ। गतासुम् गता असवः प्राणा यस्मात् स तथोक्तः तथाविधम् एतं पतिम् उपशेषे उपेत्य तेन सार्धं शयनं करोषि । एहि पत्युः सकाशाद् आगच्छ। जीवनावस्थायामेव पतिसकाशात् सर्वम् ऐहिकं पुत्रादिलक्षणम् अभिप्राप्तम्, अतोऽपि हेतोरागच्छेति प्रतिपाद्यते हस्तग्राभस्य इति।

हस्तं गृह्णातीति हस्तग्राभः पाणिग्रहणकर्ता तस्य, दधिषोः धारयितुः तव पत्युः इदं जनित्वम् अपत्यादिरूपेण जन्म, त्वम् अभि सं बभूथ अभिसंप्राप्तासि।

५. देवरादिकः प्रेतपत्नीम् 'उदीर्ष्वनारि' इत्यनया भर्तृसकाशादुत्थापयेत्। सूत्रितं च–तामुत्थापयेद् देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम् (आश्व० गृ०४.२.१८) इति।

६. पूर्वम् अदृष्टार्थम् अनुगमनम् उक्तम्, इदानीं शास्त्राविरोधिदृष्टफलानुरोधेन तत उत्थानं प्रतिपाद्यते। दृष्टफलाभावप्रतिपत्त्यर्थं गतासुम् इति विशेषणम्, उपशयने दृष्टप्रयोजनं नास्तीत्यर्थः।

७. सायण ने उक्त मंत्र का तथा इससे अगले मंत्र का अर्थ अनुस्तरणी गौ के पक्ष में किया है– 'अपश्यं युवतिम्' इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां चितौ पार्श्वतः परिणीयमानां गाम् आमन्त्रयते।'